

## निवेदन

• प्रकाशक :

विद्या भारती (पूर्वी उ०प्र०)

सिविल लाइन्स

प्रयाग-211001

• प्रथम संस्करण

विजय दशमी

वि० संवत् 2061

ई० सन् 2004,

• मूल्य - ₹0 50.00

• मुखपृष्ठ सज्जा-

ग्राफिक आर्ट्स

लंका, वाराणसी

• अक्षर मयोजन

अर्चवन्द राय- गुवाहाटी

• मद्रक-

तारा प्रिंटिंग प्रेस

कमलेश, वाराणसी 221010

यह पुस्तक आपके हाथों में मौपने समय मन को एक अतीव मात्विक आनन्द की अनुभूति हो रही है। भारत की आध्यात्मिक परंपरा बहुत प्राचीन एवं विलक्षण है। इसका व्याप महासागर की तरह है। समय-समय पर आने वाली सामाजिक विकृतियों एवं चुनौतियों के प्रति इस देश की आध्यात्मिक परंपरा किस प्रकार भक्ति का सहारा लेकर संघर्ष करती है, यही इस पुस्तक की विषय वस्तु है।

हिन्दू समाज के अन्दर आत्मपरिष्कार की विलक्षण क्षमता है। इसके मौलिक सिद्धान्त, विकृतियों के विरुद्ध स्वाभाविक संघर्ष करते हैं। जातिगत भेदभाव एवं छुआछूत जैसी बुराइयों को यहाँ कभी सैद्धान्तिक स्वीकृति नहीं मिली, वरन् हिन्दू समाज के ही स्वयं-प्रेरित लोग इसके विरुद्ध डटकर खड़े होते रहे। सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध लड़ने की धार्मिक परम्परा नई नहीं है।

विगत एक हजार वर्ष का भक्ति-आन्दोलन, भारतीय संस्कृति और समाज में हुए जन-आन्दोलनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण, देशव्यापी और सर्वस्पर्शी आन्दोलन है। इस आन्दोलन ने पूरे देश को एक साथ प्रभावित किया। सन्तों तथा भक्तों ने, समाज में व्याप्त हो रही बुराइयों से अपने समाज तथा देश को बचाने के लिए, इस आन्दोलन को जन-जन तक पहुँचा दिया।

इस आध्यात्मिक आन्दोलन में सभी जाति-वर्ण के लोग थे। सम्भवतः पहली बार शूद्र कही जाने वाली जानियों से भी महान सन्त आए। इन सन्तों ने जनभाषा में रचनाएं कीं। सन्तों की साधना, श्रेष्ठ-चरित्र और उनके व्यवहार से प्रभावित होकर उच्च-वर्ण के लोगों ने भी इनका शिष्यत्व ग्रहण किया। भक्ति-आन्दोलन से जुड़े अनेक सन्त परम्परागत अर्थों में पढ़े लिखे नहीं थे। ये बहुपंडित नहीं बहुश्रुत थे। इनमें अधिकांश लोग वे थे जो वेद नहीं पढ़ सकते थे या वेद के पठन - पाठन का उनके लिए निषेध था। ये राम का नाम तो लेते थे लेकिन मन्दिरों में इनका प्रवेश वर्जित था।

सामाजिक सुधारों की प्रथम लहर के रूप में हम दक्षिण के आलवार तथा नायन्यार भक्तों को देखते हैं। आलवारों में अनेक अन्त्यज थे। इन भक्तों ने शुद्ध-हृदय से भक्ति का प्रचार किया और जनभाषा को अपनाया। भगवान् बुद्ध ने

ममाज व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन हेतु एक तीव्र जनान्दोलन जैसा चला दिया। करणा, अहिंसा तथा पालि भाषा उसके मूल में थी। बौद्ध-मिद्धों ने भी लम्बे समय तक हिन्दू समाज में व्याप्त कुरीतियों का जमकर विरोध किया। सामाजिक सुधार की यह दूसरी लहर थी। बौद्धों के पञ्चानु, 'गोखलनाथ' उत्तर भारत के महान योगी के रूप में प्रकट हो गए। उनके प्रभाव क्षेत्र में पूरा भारत समाहित हो गया। समाज के उपेक्षित तथा जाति-भ्रष्ट लोगों को नाथपन्थ में शरण मिली। नाथों ने इस्लाम के आक्रमण में हिन्दू समाज की व्यापक रक्षा की। ज्ञानेश्वर, नामदेव आदि ने मिलकर शैव, वैष्णव, नाथ, सगुण तथा निर्गुण का सुन्दर सामञ्जस्य बैठाया। संत नामदेव ने ऐसे शिव की अर्चना की जिनके सिर पर कृष्ण की प्रतिमा है। कबीर तथा गुरु नानक भी नाथों से प्रेरणा पाते हैं। इस प्रकार नाथों की देणव्यापी भूमिका को हम तृतीय सुधारवादी आन्दोलन कह सकते हैं। चौथे सामाजिक सुधार के रूप में दक्षिण भारत की दो महान विभूतियाँ, आद्य शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य सम्मुख आए। इन दोनों विलक्षण महापुरुषों के दर्शन, व्यवहार, ज्ञान और तेज से भारतीय समाज पुनर्दीप्त हो उठा। शंकराचार्य के अद्वैत तथा रामानुज की भक्ति ने इस देश के ऊपर अपना स्थायी प्रभाव आज तक बनाकर रखा है।

स्वामी रामानन्द तथा संत नामदेव के नेतृत्व में सन्तों, भक्तों का यह भक्ति-आन्दोलन, पूर्ण तेजोमय रूप से विद्युत् की चमक की तरह, सम्पूर्ण देश को आलोकित करने लगा। 'रामानन्द' संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान होकर भी जनभाषाओं के प्रबल पक्षधर थे। इस गंस्कृतज ब्राह्मण सन्त ने कहा- 'जाति-पाँति पूछे नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई'। इस प्रकार स्वामी रामानन्द ने भक्ति का अधिकार सभी को दिया - 'सर्वे प्रपन्तेरधिकारणो मताः।' तेरहवीं शताब्दी का यह उद्घोष जाति-पाँति में जीर्ण-जर्जर समाज के लिए ऊर्जा का संचार करने वाला सिद्ध हुआ। उनके शिष्यों में सभी जातियों तथा वर्णों से लोग आए।

यही वह समय है जब भारत में इस्लाम का शिकंजा भी तेजी से कसता जा रहा था। अनेक हिन्दू राजाओं ने इस्लाम की अधीनता स्वीकार कर ली थी। इस कारण स्वाभिमानी कवियों ने दरबार की ओर मुड़कर भी नहीं देखा। उन्होंने राजाओं की स्तुति की अपेक्षा राम-कृष्ण के गुणगान में अपना जीवन धन्य माना और जब मूर्ति-मन्दिर की पूजा में भी अग्रविभ्रा हुई तो वे निर्गुण राम की शरण में चले गए। उपासना पद्धति के विभाग ग्राम में आए बाह्याडम्बरो को इन सन्तों ने जमकर कोसा। यह सन्त परम्परा अत्याचारी शासकों के विरुद्ध संघर्ष करने में भी

चूकी नहीं। इस प्रकार हम देखेंगे कि ये सन्त सर्व-नन्व-स्वतन्त्र थे किन्तु धर्मान्तरण का जमकर विरोध करने लगे। रैदास ने 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' कहकर गंगा के प्रति अपनी भावना को दृढ़ता से प्रदर्शित किया साथ ही तुलसी ने किमी शामक की मंगवदारी स्वीकार नहीं की तथा कबीर ने 'राम का कुत्ता' ही बने रहना पसंद किया।

इस युग के सन्तों में एक बड़ा वर्ग श्रमजीवी माधुओं का था। इनमें से किसी ने कपड़ा बुना, किसी ने दर्जी का काम किया किसी ने बाल काटे तो किसी ने जूता गाँठा। कर्घा और राँधी (जूता बनाने वाली) में जीवन और जगत का ताना-बाना बुना। ईश्वर और जीव के कठिन दार्शनिक प्रसंगों को समझा और समझाया। सामान्य जन की भाषा में गूढ़ ज्ञान को जन-जन तक पहुँचा दिया। सन्तों ने भगवद्भक्ति को ही जीवन का सार समझा। इस कारण सादा जीवन जीते हुए वे अध्यात्म की गहराई में उतरते चले गए। भक्ति तो सभी के अन्दर प्रभु का दर्शन समभाव से करती है। भक्तिभाव मन में लेकर, ममता और प्रेम का संदेश घर-घर ले जाने का कार्य भी यह सन्त परम्परा करती है। ये सन्त सभी प्रकार के जातिगत भेद, ढोंग तथा पाखण्ड पर कठोर प्रहार करते हैं।

देश के प्रत्येक प्रान्त में खड़े होने वाले ये सन्त सभी भाषा तथा जातियों में खड़े हुए किन्तु कौन बात ऐसी है जो दक्षिण के आलवारों से लेकर काश्मीर की लन्तेश्वरी तक सभी में मिलती है? यह 'भक्ति' ही है। सन्तों की भाषाएं अलग थी, उनकी पूजा तथा साधना की पद्धति भी भिन्न रही होगी किन्तु सम्पूर्ण देश के सन्तों, भक्तों तथा उनके अनुयायियों में एक बात सर्वदूर उपस्थित थी, वह थी भक्ति। यह भक्ति एक ओर सारे समाज को जोड़ रही थी वहीं दूसरी ओर मनुष्य जीवन के उदात्त गुणों का आह्वान भी कर रही थी। इसी भक्ति ने हजारों वर्ष से इस देश को एक बनाए रखा है। भक्ति तो मानव-मानव के मध्य सभी भेदों को अस्वीकार कर, अभेद की सृष्टि करने के साथ ही, सभी प्रकार की सामाजिक दूरियों को समाप्त करती है तथा सामाजिक समरमता का मन्देन भी देती है। यह भक्ति ही है जो सम्पूर्ण देश में इस्लाम के विरुद्ध एक आध्यात्मिक सुरक्षा कवच का निर्माण करती है। हजारों सन्त-महात्मा भक्ति जगाने-जगाने इस्लाम के अत्याचारी शासन के विरुद्ध संगठित होकर संघर्ष करने का वानावरण भी बनाते रहे। इस देश की अनन्य पूंजी का नाम है भक्ति जो विष्व परिदृश्य में दुर्लभ है। सन्त लोग इस भक्ति को ही जगाने का कार्य करते हैं।

मन्तों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे। मुसलमानों में एक बड़ा वर्ग, इन मन्तों की भक्ति तथा अध्यात्म से प्रभावित होकर हिन्दू समाज में समरग होने के लिए आतुर दिखता है। आश्चर्य की बात तो यह थी कि ऐसे मुस्लिम मन्तों और भक्तों की संख्या भी मैकडों में थी तथा इनके अनुयायी लाखों थे। हिन्दू समाज की प्रचण्ड पाचन-शक्ति, शक और हूणों की तरह ही इस्लाम को भी आत्मसात् करने का प्रयत्न कर रही थी।

इस पुस्तक में, संक्षेप में ही क्यों न हो, हम अनुभव करेंगे कि किस प्रकार माधू, सन्त, महात्मा, भक्त, आचार्य आदि ममता की शीतल छाया तथा श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों को लेकर समाजशोधन के महत्कार्य में जुट गये। समाज का यह आत्मपरिष्कार ही इस सनातन हिन्दू समाज के चिरजीवी होने का रहस्य है।

भक्तों एवं सन्तों की यह शृंखला बहुत बड़ी है। पुस्तक की स्थान मर्यादा के कारण इच्छा होते हुए भी उन सभी का उल्लेख यहाँ करना संभव नहीं। मुझे विश्वास है कि हमारे सुधी पाठकगण उदारमना होकर इस असमर्थता को समझ सकेंगे।

सन्तों का समग्र दृष्टिकोण बहुत व्यापक है किन्तु यहाँ तो उनके जीवन के कुछ पहलुओं को ही प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। भक्तों एवं सन्तों की भाषा आज की भाषा से बहुत भिन्न है फिर भी मूलपाठ ही देने का प्रयत्न किया है।

अस्पृश्य, निम्नकुल, अत्यज एवं अछूत आदि शब्दों का प्रयोग करना मन को पीड़ा देता है किन्तु जिस समय की बात हम कर रहे हैं उस समय की परिस्थितियों को समझने के लिए इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। क्षमा करें।

यह सौभाग्य ही है कि इस पुस्तक की भूमिका, माननीय मोहन भागवत जी ने अति अल्प-समय के निवेदन पर निष्कर्ष भेज दी। मा. शेषाद्री जी, मा. सू. ना. राव, मा. कृष्णणा जी, मा. सुरेश सोनी, मा. मधुभाई कुलकर्णी एवं मा. भैर्या जोशी जी आदि के महत्वपूर्ण सुझावों के कारण ही यह कार्य सम्पन्न हो सका, मैं उन सभी का हृदय से आभारी हूँ।

जिन संदर्भ ग्रंथों का पूरा सहयोग मिला, उनकी सूची पुस्तक के अन्त में दी गई है। इन ग्रंथों ने पर्याप्त सामग्री उपलब्ध कराई जिसका उपयोग इस पुस्तक में हुआ है। उन पुस्तकों के विद्वान लेखकों का मैं कृतज्ञ हूँ।

पुस्तक की विषय वस्तु तो सन्तों-महापुरुषों द्वारा पूर्व में बोली गई उनकी 'उच्छिष्ट-वाणी' ही है। यहाँ पर उसी को पुनः लिपिबद्ध किया गया है, मेरा अपना

कुछ भी नहीं। डॉ. विद्या निवाम मिश्र ने आशीर्वाद के साथ ही योग्य मार्गदर्शन भी किया तथा मध्यस्थित विषय के मर्मज्ञ डॉ. शुक्रदेव मिह ने सभी दृष्टि में सहयोग कर सम्पूर्ण विषय को बोधगम्य बना दिया। अतः मैं इन दोनों प्रजापुरुषों का ऋणी हूँ।

विविध प्रान्तों में अपने बन्धुओं ने काट उठाकर भी उपयोगी सामग्री जुटाई तथा आवश्यक मंशोधन किये, मैं बड़ा बड़भागी रहा। 'विद्याभारती' ने पुस्तक का प्रकाशन समय पर करके वितरण का दायित्व भी अपने ऊपर ले लिया। उनके इस अमूल्य सहयोग को कैसे विस्मृत किया जा सकता है

लेखन में साहित्यिक तालिव्य कहाँ ? इसके विपरीत, पुस्तक में न्यूनता, अगुदियाँ अथवा अत्यज्ञान के कारण हुई त्रुटियाँ अवश्य मिलेंगी, उन सबका दायित्व स्वयं मेरा ही है। इसके लिए मैं अत्यन्त विनत भाव से क्षमा चाहता हूँ। इसके साथ ही अश्वर संयोजन, मंशोधन आदि कार्यों में श्री राकेश जी, श्री गिरिजेश जी एवं अन्य अनेक कार्यकर्त्ताओं ने आत्मीयभाव से सहयोग किया, वह अविस्मरणीय है।

अन्त में एक ही निवेदन है कि वर्तमान समय में समाज को एकरस बनाये रखने के लिए चल रहे अनेक सात्विक प्रयासों में कुछ भी योगदान यदि इस पुस्तक का हो सका तो यह मेरा परम सौभाग्य होगा। आपके बहुमूल्य सुझावों की अपेक्षा के साथ ही प्रणाम।

विजय दशमी, वि० सं० 2061

कृष्ण गोपाल

केशव धाम, पलटन बाजार,

के. बी. रोड,

गुवाहाटी-781008

## भूमिका

मनुष्य स्वभाव में ही समाजशील है। हमने-हमसे फाँसी झूलने की हिम्मत रखनेवाले व्यक्ति भी लम्बे एकान्तवास के दण्ड महत् नहीं कर सकते, शिक्षित हो जाते हैं। अपने स्वयं के मुखमाधन के लिए भी एक व्यक्ति की अपेक्षा अनेक व्यक्तियों का एकत्रित प्रयास अधिक फलदायी होता है, साथ-साथ सुरक्षा भी प्रदान करता है। इसलिए प्राचीनकाल में मनुष्यों ने अपने समाज बनाए हैं तथा विभिन्न देशों में उस-उस देश के समाज जीवन की न्यूनाधिक नयी-पुरानी धाराएं चल पड़ी हैं। जगत के जीवन व्यवहार के अनुभव से यह एक मान्यता बन गई है कि वही देश व समाज सुखी, सुरक्षित तथा प्रतिष्ठित जीवन प्राप्त करता है जिसमें इस प्रकार परस्पर संबद्धता यानि एकता का दर्शन होता है।

केवल स्वार्थ के समान हितसंबंधों के आधार पर एकता का निर्माण नहीं हो सकता। समता का आविर्भाव समानता के बिना नहीं हो सकता। 'समान शीलेषु व्यसनस्य सख्यम्' यह उक्ति प्रसिद्ध है ही। फिर समानता लाने के लिए कुछ स्वार्थों का बलिदान भी करना पड़ता है। बिना इस बलिदान के समता तथा समानता का आविर्भाव संभव नहीं।

जिस आंतरिक आत्मीयता के भरोसे इस प्रकार अपनी व्यक्तिगत आशा-आकांक्षा तथा स्वार्थ के बलिदान के लिए भी व्यक्ति सिद्ध रहता है, अपने समाज-वांधवों के हित की संवेदना जिस आंतरिक संस्कार के कारण व्यक्तियों के हृदय को झंकृत करती है, उसी को समरसता कहते हैं।

समरसता की ऐसी भावना के आधार पर ही विविधताओं से भरा भारतवर्ष व उसका हिंदू समाज अपने एकत्र सम जीवन का निर्वाह प्राचीन समय से कर रहा है। जब-जब भारत में सामाजिक समरसता की पूर्णता देखी गयी तब-तब उसके संभव, सामर्थ्य तथा प्रतिष्ठा की जगत में परकाष्ठा होती गयी। जब-जब किसी देश, दुर्बलता, अथवा बाह्य कारणों से समरसता के पूर्णविव का क्षय हुआ तब-तब भारतवर्ष श्रीहीन, विद्याहीन, दुर्बल होकर विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा पददलित एवं खंडित हुआ।

भारत की आंतरिक एकता की आधारभूत इस समरसता को जगाने तथा विपणन तथा उसके कारणों को हटाने के भागीरथ प्रयास अनेक महामनीषियों द्वारा प्रवर्तित हुए व अभी भी कम अधिक मात्रा में चल रहे हैं। ऐसे व अन्य अनेक

प्रयामों के कारण ही विदेशी दास्य से भारत ने मुक्ति पायी। स्वतंत्र भारत के परम्पराभूत की पूर्ववर्तन के नाने सामाजिक समरसता के प्रयाम अधिक दृढ़ व व्यापक रूप से सर्वत्र यशस्वी होने की आवश्यकता है। भारत के उत्थान के कारण जिनके स्वार्थ के खेत वंद होने का उनकी भय है ऐसी देशवाह्य व आन्तरिक शक्तियों ने, सामाजिक समरसता के प्रयाम यशस्वी न हों, आपस में दूरियाँ बढ़ें ऐसे क्रियाकलाप जारी रहें हैं। उम क्रम में भारतीय परंपराओं, मान्यताओं, श्रद्धाओं को विपमता समर्थक व समता विरोधी बनाना यह उनके लिए, ममान्य बात है। भारतीय समाज के स्थापित व उच्चवर्गीय घटक या तो इस विपमता के जनयिता पक्षधर रहे अथवा इस अन्याय के प्रति पूर्ण उदासीन, ऐसा भी वे प्रचारित करने हैं। सत्य व प्रमाणित जानकारी के अभाव में समाज के विभिन्न वर्गों में इस असत्य व द्वेषमूलक प्रचार के शिकार होकर, आपस में कलह व दूरियाँ उत्पन्न होने की संभावना बढ़ती है।

आपके हाथों में यह 'भारत की संत परंपरा और सामाजिक समरसता' पुस्तक इस सत्य जानकारी को एकत्रित व संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करती है। भारत में प्रचलित सभी संप्रदायों ने सतत सामाजिक समरसता को सक्रिय समर्थन कैसे प्रदान किया है, भारत की वैचारिक परंपरा भी कैसे समरसता की पक्षधर है, आदि-आदि बातों का तर्कपूर्ण, प्रमाणित संग्रह इस पुस्तक में एकत्र-ग्रथित किया है। जनता तथा कार्यकर्ताओं को इतनी सारी जानकारी संक्षेप में एक स्थान पर सुलभ रूप में एकत्रित उपलब्ध कराने वाली, इस विषय पर अन्य कोई पुस्तक मेरी जानकारी में नहीं। सामाजिक समरसता का प्रयाम, अधिक प्रभावी व गतिमान करने में लगे कार्यकर्ताओं को ऐसी जानकारी की एक महती आवश्यकता इस पुस्तक के कारण पूर्ण हो रही है।

भारत में समरसता के प्रयासों की इस परंपरा की व्यापकता व विविधता को ध्यान में रखते हैं तो किसी एक लघु पुस्तक में इन सबका उल्लेख मात्र भी कर पाना असंभव है। 'भारत की संत परंपरा और सामाजिक समरसता' पुस्तक में दी गई जानकारी अपनी पूर्णता में नहीं, परंतु प्रतिनिधिक है, यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए। कार्यकर्ता व जनता दोनों में जानकारी व प्रेरणा की विविध दृष्टि से उपयुक्त इस पुस्तक का उत्साहपूर्ण स्वागत होगा यह मेरा विश्वास है।

मोहन भागवत  
सरकार्यवाह

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

## अनुक्रमिका

विषय सूची	पृष्ठ क्रमांक
* निवेदन	
* भूमिका	
1. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	1-6
2. हिन्दू विचार दर्शन के आधार	7-9
3. समाज परिवर्तनशील है	10-12
4. भक्तिभाव और हिन्दू समाज	13-15
5. भगवान् महावीर	16-17
6. भेदभाव के विरुद्ध भगवान् बुद्ध	18-21
7. आद्य शंकराचार्य	22-26
8. आजीवक, सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय	27-37
9. श्री रामानुजाचार्य	38-44
10. श्री स्वामी रामानन्द	45-51
11. भारतीय संत परंपरा	52-56
12. संतों और भक्तों का मध्ययुगीन धार्मिक आन्दोलन	57-58
13. उत्तर प्रदेश के संतों और भक्तों	59-92
द्वारा सामाजिक जागरण	
.सन्त कबीरदास-60, .भक्त सधना-70, .संत रैदास-71, श्री बल्लभचार्य-78, .भक्त कुंभनदास-80, .भक्त सूरदास-81, .गोस्वामी तुलसीदास-83, .संत मल्लकदाम-89, .संत आपा साहब एवं आपा पंथ-90, .संत शिवनारायण-91	
14. पंजाब, काश्मीर एवं सिन्ध क्षेत्र के	93-124
संतों की महान परंपरा	
.संत नामदेव-93, .संत बेनी-96, .संत लल्लेश्वरी-96, .श्रीगुरु नानकदेव-98, .श्रीगुरु अर्जुनदेव-103, श्रीगुरु हरिगोविन्द-106, .श्रीगुरु तेगबहादुर-	

(X)

108. श्रीगुरु गोविन्द सिंह जी-115, मिन्धी संत रोहल-120, स्वामी श्रद्धानन्द-122, रामावतार चरित (काष्मीरी रामायण)-124
15. उत्तराञ्जल एवं हिमाचल की संत परंपरा.....125-126  
संत मौलाराम-125, संत शशिधर-126
16. समरसता हेतु हरियाणा के संत और सम्प्रदाय.....127-133  
संत गरीबदास एवं गरीब पंथ-127, भक्त जैतराम महाराज-128, संत चरणदास तथा चरणदासी पंथ-128, संत घीमा दास एवं घीसा पंथ-129, राधास्वामी पंथ-129, नितानंदी पंथ-129, परमानंदी पंथ-130, समता पंथ-131, हरियाणा के सिक्ख सम्प्रदाय-131, उदासी सम्प्रदाय-132, निर्मला सम्प्रदाय 132, नामधारी अथवा कूका सम्प्रदाय-132
17. राजस्थान के संतों एवं भक्तों द्वारा.....134-147  
सामाजिक समरसता के प्रयास  
ऋषि संत पीपाजी महाराज-135, बाबा रामदेव-136, संत धन्ना-137, जम्भनाथ जी एवं विश्वनोई सम्प्रदाय-138, संत हरिदास-138, भक्ति मीराबाई-139, संत दादूदयाल-142, संत रज्जब अली-143 संतसुन्दरदास(छोटे)-144, रामसेनही सम्प्रदाय-145, संत दरिया साहब-145, संत हरिरामदास-146, संत रामदास-147
18. गुजरात की भक्ति में समरसता का प्रकाश.....148-157  
भक्ति-निधि लीरलबाई-149, भगत नरसिंह मेहता-149, संत पद्मनाभ-150, संत मांडण-151, संत अन्ना-152, कच्छी संत मेक्कण-153, गिरधर रामायण(भक्त गिरधर)-153, स्वामी सहजानन्द-154, स्वामी मुक्तानन्द-154, संत मूलदास-155, महर्षि दयानन्द-155, भक्त ककल संग 157
19. महाराष्ट्र की संत परंपरा द्वारा लोकजागरण.....158-185

(XI)

- वारकरी सम्प्रदाय-158, संत पंचायतन-160, संत नामदेव-161, संत ज्ञानेश्वर-162, भक्त सावता माली-165, भक्त गंगा कुंभार-166, प्रेरिका संत मुक्ताबाई-166, संत जनाबाई-167, संत त्रिलोचन-169, संत चोखामेला-169, संत एकनाथ-170, भक्तिन कान्होपात्रा-172, ऋषि हृदया बहिणाबाई-173, संत शिरोमणि तुकाराम-173, समर्थगुरु रामदास-177, मठाधिपति वेणास्वामी-181, संत गाडगे महाराज-182, संत तुकड़ो जी महाराज 183
20. मध्य प्रदेश एवं छत्तीसगढ़ के संत.....186-193  
संत सीगा जी-186, स्वामी प्राणनाथ-187, सतनामी सम्प्रदाय-188, संत घासीदास-189, श्री गहिगा गुरु-191
21. बिहार एवं झरखण्ड के संत और सम्प्रदाय.....194-198  
धरनी पंथ और संत धरनीदास-194, संत दरिया साहब-195, सरभंग सम्प्रदाय-195, मैथिलीरामायण (श्री कबीश्वर चन्दा)-196, मल्ल मत सत्संग-197 महर्षि मेंही परमहंस जी महाराज-197
22. बङ्गभूमि के भक्तों और संन्यासियों.....199-212  
का सामाजिक दर्शन  
श्री चैतन्य महाप्रभु-200, कृतिवास रामायण-204, बंगाल के बाउल संत-204, श्री रामकृष्ण परमहंस-207, स्वामी विवेकानन्द-208, स्वामी प्रणवानन्द-211
23. प्रज्योतिष क्षेत्र की भक्ति और समरसता.....213-222  
माधव कंदली रामायण-214, श्री शंकरदेव-214, श्री माधवदेव 216, राजकृषि भाग्यचन्द्र (मणिपुर)-217, बाबू जीवन राय माईरोम (मेघालय)-218, स्वामी स्वरूपानन्द परमहंस (त्रिपुरा)-219, रानी रोजुइलियानी(मिजोरम)-220, रानी माँ

गाड्डिल्यू( नागाभूमि )-220, श्री तालोम रुकवो  
(अरुणाचल प्रदेश) 221

24. ओड़िशा की भक्त एवं संत परम्परा.....223-231  
 . संत जयदेव-223, . निरञ्जनी सम्प्रदाय-224, . भक्त  
 दामिया बाउरी-225, . पंचमखा भक्तों का सामाजिक  
 पुनरुत्थान आन्दोलन-225, . भक्त बलरामदास-228,  
 . अतिबड़ि जगनाथदास-228, . भक्त उपेन्द्र भञ्ज  
 ( रामायण वैदेहीश विलास )-228, सन्त शास्त्रादास-  
 229, . संत भीम भोई-229, . भक्त सालवेग-230  
 25. आन्ध्र प्रदेश के साधू-संन्यासियों द्वारा समरसता के प्रयास.....232-239  
 . भक्त श्री अन्नमाचार्यलु-232, . महान कवयित्री मोल्ला-  
 233, . सन्त वेमना-234, . पोतुल्लूरी वीर ब्रह्मेन्द्र  
 स्वामी-235, . कोंड्याचार्य स्वामी-236, . काव्यकण्ठ  
 वशिष्ठगणपति मुनि-236, . सद्गुरु श्रीमलयाल स्वामी-  
 237, . अल्लूरी सीताराम राजू-238, . कन्दकूरि वीरेश  
 लिंगम पन्तुलू-239  
 26. तमिलनाडु में भक्ति का उत्थान.....240-263  
 'भक्ति द्राविड़ उपजी'  
 . नायन्मार संतगण-240, . आलवारों का सुधारवादी  
 भक्ति आन्दोलन-243, . प्रबन्धम का सामाजिक जीवन  
 पर प्रभाव-254, . भक्तिन औवैयार-254, . संत  
 तिरुवल्लुवर-255, . संत कम्बन्-257, . भक्तिन  
 अबैय्यार-258, . संत नन्दनार-258, . संत त्यागराज-  
 261, . संत रामलिंग स्वामीगल-261, . महर्षि रमण-  
 262  
 27. कर्नाटक के संतों द्वारा समाज जागरण.....264-276  
 श्री अल्लम प्रभु-264, . भक्ति भण्डारी बसवेश्वर-  
 266, . वैराग्यनिधि अक्कमहादेवी-268, . श्रीमध्वाचार्य-  
 268, . श्रीविद्यारण्य स्वामी-269, . दामकूट(हरिदास  
 भक्त)-270, . संत पुरंदरदास-271, . संत कनकदास-

273. कीर्तन साहित्य- नाट्यपरंपरा- हरिकथा परंपरा-  
 275, . तोरवै रामायण-275, . माधू सन्तों का  
 युगान्तकारी निर्णय-276  
 28. केरल के भक्तों द्वारा समरसता के प्रयास.....277-288  
 केरल में नाथमन-278, . नायन्मार तथा आलवारों  
 का प्रभाव-278, . निरणम् कवि-278, . श्री चेरुजेरी  
 नंबूनिरि-279, . आचार्य पूजुत्तच्छन-279,  
 . अध्यात्मरामायण-280, . भक्त कुचन नंब्यार-281,  
 . श्रीनारायण गुरु-282, . श्री चट्टाप्पि स्वामीगल-286,  
 . महात्माअय्यन्कान्ति-287, . महाकवि करुणन-288  
 29. भक्ति का पुण्यप्रवाह और इस्लाम .....289-310  
 . कृष्णभक्त रसम्बान-289, . बाबा फरीद-291, . संत  
 लालदास-292, . कृष्णभक्तिन ताज बीबी-293, . भक्त  
 कारे वेग-294, . संत कमाल साहब-295, . कृष्णभक्त  
 शाह अली कादर-295, . संत वाजिन्द-296, . दार  
 शिकोह 296, . विरक्त अब्दुरहीम खानखाना-296,  
 . भक्त लतीफ शाह-298, . मलिक मुहम्मद जायसी 299,  
 . संत बाबा मलिक-300, . भक्त बाबा दीनदरवेश-300,  
 . संत यागी साहब-301, . ईश्वरभक्त एन. वुल्ला शाह-  
 302, . रामभक्त मीर मुराद-303, . मुगल बादशाह  
 शाहजहाँ-304, . नजीर अकबराबादी-304, . मुस्लिम  
 मंगीतकार एवं ईश्वरभक्ति-305, सभी को आत्मसात  
 करनी भक्तिभावना-307, . कटुगंधी मुसलमानों के  
 फतवे-308  
 30. संत समाज की व्यापक भूमिका.....310-327  
 31. महायक ग्रंथ सूची.....328-333

## ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

विश्व की प्राचीनतम संस्कृति एवं विचारदर्शन की विविधता वाला, जीवन्त राष्ट्र, इस भूमण्डल पर केवल भारतवर्ष ही है। विगत हजारों वर्ष के ज्ञात इतिहास में यह बात स्पष्ट है कि काल के प्रवाह ने अनेक राष्ट्र और संस्कृतियों को निगल लिया। समय-समय पर आये संकटों ने वे समाज और राष्ट्र अपनी रक्षा नहीं कर सके किन्तु भारत और हिन्दू समाज मृत्युञ्जयी बने खड़े रहे। अनेक विपत्तियाँ आयीं तथा हिन्दू समाज को समाप्त करने के कितने ही प्रयास हुए किन्तु परिस्थितियों के अनुसार यह समाज परिवर्तित तो हुआ लेकिन अनुकूलता आते ही 'अमृतम्य पुत्राः वयम्' को चरितार्थ करते हुए विश्वपटल पर पुनः खड़ा हो गया।

भारत के कालचक्र ने क्या नहीं देखा? वैभव देखा तो जीवन के सभी क्षेत्रों में हम शीपस्थान पर पहुँच गये। केवल अध्यात्म की बारीकियाँ ही नहीं तो गणित, व्याकरण, आयुर्वेद, खगोल, रसायन से लेकर ज्योतिष-शास्त्र के गूढ़ज्ञान में हिमालय सी ऊँचाई प्राप्त करने वाला हिन्दू समाज ही था। विश्व के प्रथम लोकतन्त्र (गणराज्य) की स्थापना करने वाले और भगवद्भक्ति हेतु संगीत को म्बर और यन्त्र देनेवाले भी हिन्दू थे। श्रेष्ठ सामाजिक जीवन, आध्यात्मिक ऊँचाई एवं आर्थिक उन्नति अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस के मध्य सामंजस्य बैठते हुए विश्वकल्याण का मंकल्य लेनेवाले भी हिन्दू ही थे।

आश्चर्य की बात है कि मानवीय जीवन के उदात्ततम विचारों के प्रसार हेतु प्रयासरत समाज को नष्ट करने का अभियान चलाने वाले आततायी लोग, विगत तीन हजार वर्ष में एक के बाद दूसरा आक्रमण इस धरती पर करते रहे। भारत के वर्तमान राष्ट्रपति श्री ए.पी.जे. अब्दुल कलाम ने भी इस ऐतिहासिक तथ्य को स्वीकार किया है कि भारत विगत तीन हजार वर्ष से अत्याचारियों के आक्रमण झेल रहा है। लूट द्वारा प्राप्त होने वाली सम्पत्ति और शासन करने का मोह उनको यहाँ आकर्षित कर लाता था। शक, हूण, कुषाण, यवन, तुर्क, मंगोल, अफगान, मुगल, फ्रेंच, डच, अंग्रेज, आदि सभी ने इस देश और समाज को नष्ट करने के लिये क्या प्रयास नहीं किये? अत्याचारों की अखण्ड शृंखला के साथ कंगड़ों हिन्दुओं की हत्या, बलात् धर्मान्तरण, अकूत सम्पत्ति की लूट तथा अपमान की लम्बी कहानी इस देश का ऐतिहासिक सत्य है।

विदेशी आक्रमणकारी यदि लूट कर ही चले जाते या केवल शासन ही करने तो शायद दुख कम होता किन्तु उन्होंने तो राजनीतिक सत्ता पर नियन्त्रण करने के साथ यहाँ के सामाजिक-जीवन तथा धार्मिक आस्थाओं को समाप्त करने के योजनावद्ध प्रयास किये। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने अस्तित्व और विचार की रक्षा हेतु एक अनोखा संघर्ष, यह देश और समाज, विगत तीन हजार वर्ष से कर रहा है। यह एक सुखद आश्चर्य है कि इस दीर्घकालीन देवासुर संग्राम में अन्तिम विजय धर्म अर्थात् सत्य की ही हुई है। इसीलिये तो इस देश ने अपनी नवीन व्यवस्था में 'सत्यमेव जयते' का ध्येयमन्त्र स्वीकार किया है।

शताब्दियों के संघर्ष के समय, अनेक प्रयासों के बाद भी संस्कारित और संगठित समाज जीवन का तानाबाना बिखर गया। सभी अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार बाहर से आये इन आक्रमणकारियों के अत्याचारों से लड़ रहे थे। एक ओर लाखों लोग विधर्मी बनाये जा रहे थे वहीं लाखों संघर्ष करते हुए अपना बलिदान भी दे रहे थे। देश का हर कोना एक अजीब से संघर्ष में फँस चुका था। संघर्ष इतना लंबा हो गया था कि कुछ लोगों ने तो इसी को अपनी नियति ही मान लिया।

धन, धर्म और जीवन सभी कुछ अशुभित और अव्यवस्थित हो गया। हिन्दू महिलाएं तो कतई सुरक्षित नहीं थीं। इसी कारण बालविवाह की परम्परा चल पड़ी। विवाह के समय भी मुस्लिम न आ जायें इस भय से रात्रिकालीन विवाह की व्यवस्था विकसित होने लगी। हिन्दू महिलाएं पर्दे में रहें तभी वे सुरक्षित रहेंगी इस कारण हिन्दू महिलाओं को पर्दा प्रथा स्वीकार करनी पड़ी। हिन्दू वच्चे भी उर्दू-फारसी-अरबी सीखने के लिए मदरसों में जाने लगे।

ऐसे संकट के समय में विधर्मियों से अपनी रक्षा हेतु कुछ कठोर व्यवस्थाएं तथा नियम निर्माण होने लगे। जो व्यक्ति विधर्मी हो गया या किसी ने म्लेच्छ के साथ भोजन कर लिया तो उसको घर से बाहर कर दो तभी अपना घर सुरक्षित रहेगा। गो-भक्षकों के साथ कोई सम्बन्ध न रहे इस कारण यवन का स्पर्श भी वर्जित हो गया। स्मरण रहे कि जयपुर नरेश ने जार्ज-पंचम से हाथ मिलाया तो राजासाहब के हाथ तुरन्त गंगाजल से धोने की व्यवस्था भी की गई थी। पूजापाठ, धार्मिक अनुष्ठान, संस्था आदि चुपचाप अकेले, घर के अन्दर होने लगा। स्नान, ध्यान, कर्मकाण्ड सभी कुछ व्यक्तिगत सीमाओं में बँधता जा रहा था। विदेश यात्रा में स्नान, संस्था, भोजन आदि की पवित्रता नहीं रह सकेगी इस कारण समुद्र यात्रा

पर भी प्रतिबन्ध लग गया। लोकमान्य तिलक को भी समुद्र यात्रा (गोलमेज सम्मेलन) से वापस आकर प्रायश्चित्त करना पड़ा था। किसी भी प्रकार से जीवन मृगश्चन वीत जाये, विधर्मी न बनें यही जीवन की एकमात्र अभिलाषा रह गयी।

मुसलमान सुअर को 'नापाक जानवर' कहता है तथा उससे दूर रहता है। यदि सुअर पालेंगे तो मुसलमान घर में कदम भी नहीं रखेगा, यह भी अपने घर को इस्लाम से बचाने का एक तरीका हो सकता है, ऐसा मानकर, अनेक लोगों ने अपनी सुरक्षा के लिये सुअर पालना शुरू कर दिया और इस्लाम से अपने आपको दूर रखा। संघर्ष करने वाली जातियों के अपने-अपने धुड़ हारने पर बेरहमी के साथ अत्याचार किये जाते थे। हिन्दू समाज में मल-मूत्र विसर्जन की व्यवस्था घर से दूर रहती थी किन्तु यवन-मुसलमान-अंग्रेज आदि ने शौचालय घरों के अन्दर बनवा लिये और मैला ढोने का काम भी उन लोगों को ही करना पड़ता था जिन्होंने इन आक्रमणकारियों के विरुद्ध संघर्ष किया था। पराधीन होने के कारण इन्होंने सब कुछ सहा किन्तु 'स्वधर्म निधनं श्रेयः' का मन्त्र जपते हुए हिन्दू ही बने रहे।

प्रख्यात लेखक डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं- "मेरे गाँव में दुसाध नाम की अत्यन्त जाति है इनके रूप रंग को देखकर कोई नहीं कह सकता कि ये लोग अत्यन्त जाति के हैं। ..... गुप्त नरपतियों (सम्राटों) के लेखों में दुःसाध्य साधन करने वाली जिस जाति का उल्लेख है; उन्ही का रूप यह दुसाध जाति है। 'दुःसाध्य साधनिक' गुप्त सम्राटों की पुलिस का कोई विभाग था।-----बंगाल के डोम सहजिया बौद्ध थे और किसी जमाने में प्रबल पराक्रांत राज्यों के अधीश्वर थे। अधिकार-वंचित होने पर ही ये लोग हुदान्त हो गए थे। ये दुसाध तथा डोम बड़े लड़ाके थे और कानून मानने से सदा इंकार करते थे। चतुर अंग्रेजों ने इन जातियों को चौकीदार का काम लेकर इन्हें वश में किया।' (अण्णोक के फूल, पृ० 36) आज ये जातियाँ अनुसूचित जातियों में गिनी जाती हैं।

आजकल उ०प्र० एवं बिहार में कलवार नाम की एक पिछड़ी जाति है जो शराब के कारोबार से सम्बन्धित है। इसका इतिहास भी ऐसा ही है। "राजपूती सेना का वह अंग जो कलेवा (भोजन) की रक्षा करता था, आगे चलकर कलवार के रूप में बदल गया। राजपूतों के कलेवा में मादक-द्रव्य भी होता था और आगे चलकर इसी मादक-द्रव्य ने कलवार जाति की सामाजिक मर्यादा घटा दी।" (वही, पृ. 25)

प्रख्यात नृविज्ञानी रसेल लिखते हैं कि "मध्य प्रांत में एक भी बनिया जाति उन्हें ऐसी नहीं मिली जिसकी प्राचीन परम्परा किसी न किसी राजपूत कुल से

सम्बद्ध न हो।" (वही, पृ. 35)

विहार एवं उत्तर भारत में एक बड़ी पराक्रमी वीर क्षत्रिय जाति है पासवान। ये सभी राजा मुहलदेव पासवान के नेतृत्व में दीर्घकाल तक मुगलों में संघर्ष करते रहे किन्तु अन्त में पराजित हुए। मुगलों के भीषण अत्याचारों के कारण उन्हें सबकुछ सहना पड़ा और आज वे अनुसूचित जाति में गिने जाते हैं।

डा० अम्बेडकर जी ने भी अनेक साध्यों का उल्लेख करते हुए यह सिद्ध किया है कि आज के शूद्र किसी न किसी समय क्षत्रिय ही थे। डा. अम्बेडकर लिखते हैं- "इस बात के पर्याप्त प्रमाण मौजूद हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि महिलाओं तथा, शूद्रों को उपनयन का अधिकार था और वे यज्ञोपवीत भी पहना करते थे। महिलाएं न केवल वेद पढ़ती थीं वरन् वेद पढ़ाने के विद्यालय भी चलाती थीं, पूर्व मीमांसा से यह बात पता चल जाती है। ..... शूद्रों के लिए भी पर्याप्त उदाहरण हैं, जैसे राजा सुदस का राज्यारोहण संस्कार तथा उसका राजसूय यज्ञ का कार्यक्रम स्वयं वशिष्ठ ने कराया था। अब इसमें संदेह की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती है कि एक समय ऐसा अवश्य था जब शूद्र भी यज्ञोपवीत पहना करते थे। ..... मैक्समूलर ने संस्कार गणपति का उदाहरण देते हुए कहा कि शूद्रों को उपनयन पहनने का अधिकार था।"

(बाबा साहब: व्यक्ति और विचार, पृ. 170)

डा. अम्बेडकर अपने ग्रन्थ 'Who Were Shudras' में लिखते हैं कि- 'शूद्र आर्य लोगों में ही सूर्यवंशी थे। भारतीय 'आर्य समाज जीवन' में शूद्रों की गणना क्षत्रियों के साथ ही की जाती थी।' (Writings and Speeches, vol. 7, page. 65)

आश्चर्य की बात यह है कि भारत की सभी जातियों के अन्दर कुल तथा गोत्रों की समानता है। डा. अम्बेडकर लिखते हैं- "यदि भिन्न-भिन्न जातियों तथा समुदायों के अन्दर समान कुल और गोत्र पाए जाते हैं तो यह संभावना व्यक्त की जा सकती है कि यद्यपि जातियाँ सामाजिक रूप से भिन्न थीं परंतु वंश (Race) की दृष्टि से सभी एक ही हैं।" (ibid, page 304)

डा. अम्बेडकर यह भी कहते हैं कि- "महाराष्ट्र की मुख्य जाति मराठा है। महाराष्ट्र में महार अस्पृश्य कहे जाते हैं किन्तु दोनों जातियों के अन्दर सभी कुल समान हैं। ..... इसी प्रकार पंजाब के अन्दर प्रमुख जाति जाट है तथा चमार अस्पृश्य कहे जाते हैं किन्तु आश्चर्य की बात है कि दोनों के कुल (गोत्र) पूरी तरह समान है।" (ibid, page. 304)

इस प्रकार, दीर्घकाल तक चले इस संघर्ष में विजय-पराजय, ध्वंस, अत्याचार,

मानान्तरण तथा लूटपाट के आनेक को हिन्दू समाज ने स्वयं देखा और भोगा। अतः व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन का अस्तव्यस्त होना बहुत स्वाभाविक भी था। अनेक प्रकार की विकृतियाँ समाज में घर कर गईं। दूसरों के हिन के लिये आत्मोत्सर्ग में ही जीवन की धन्यता मानने वाला समाज आत्म-केन्द्रित होता चला गया। सभी के मुख की कल्पना करनेवाले लोग अपनी व्यक्तिगत सुरक्षा, सुख और मोक्ष के कर्मकाण्डों में उलझने लगे। संकुचित होते गये लोग, छोटे-छोटे समूह में सिमट कर अपने कठोर आवरण में स्वयं को सुरक्षित समझते थे।

वर्णाश्रम-व्यवस्था जातियों में तथा जातियाँ अनेक उपजातियों में बँटने लगी। हाथ से उत्पादन करने वाले लोगों को उनके कार्य के अनुसार जातियाँ मिल गईं। पूजापाठ तथा कर्मकाण्ड के नाम पर शुद्धता और पवित्रता की धारणाओं ने विकृत स्वरूप ले लिया। शुद्धता और पवित्रता की परिभाषाएं भी बदल गयीं इस कारण अनेक जातियाँ यज्ञोपवीत आदि संस्कारों से वंचित हो गयीं। ये जातियाँ, शिक्षा तथा सामाजिक सम्मान से भी पिछड़ गयीं। दीर्घकालीन संकट से जूझ रहे समाज में यह एक अजीब सामाजिक परिवर्तन हो रहा था। कोई संकट अकेला नहीं आता, वह अनेक प्रकार की विकृतियाँ भी साथ लेकर आता है। आत्मरक्षा के संकट ने सामाजिक मानसिकता को भी छोटा कर दिया। छोटे-छोटे समूहों में बँटा समाज, स्वार्थ की बात ही अधिक सोचता है। इसी में से समाज की सामूहिक सोच के समाप्त होने का भय भी उत्पन्न होता है, कुछ ऐसा ही यहाँ भी हुआ। जातियों में जातिभेद के साथ श्रेष्ठता और नीचता की भावना भी बढ़ती चली गयी और कुछ जातियाँ निम्न, हेय, अन्त्यज और अस्पृश्य कही जाने लगीं। यह एक लम्बी कहानी है किन्तु यह सचाई है कि सम्पूर्ण समाज व्यवस्था में यह दोष बहुत गहराई तक बैठ गया। आक्रमणकारियों से देश तो मुक्त हो गया किन्तु समाज में आयी दीर्घकालीन विकृति उसकी नियति बन गयी यह भारतीय समाज की विडम्बना ही थी।

हिन्दू समाज का दार्शनिक पक्ष अत्यन्त श्रेष्ठ होते हुए भी जातिगत विपत्तता और भेदभाव बहुत दूर तक समा गये। कुछ जातियों के लोगों को स्पर्श करने और यहाँ तक कि देखने में भी लोगों को पाप लगने लगा। विद्यालय, होटल, सार्वजनिक स्थान तथा गाँव-मोहल्ले में भी अस्पृश्य कही जाने वाली जातियों को अनेक प्रकार के भेदभाव से गुजरना होता था। मनुष्य का मनुष्य के प्रति यह अमानवीय व्यवहार, आश्चर्यजनक तथा दुःखद था।

विचार करने की बात यह है कि जातिगत भेदभाव तथा स्पृश्य-अस्पृश्य के

भाव का हिन्दू समाज के सैद्धान्तिक सोच में क्या कोई स्थान था? धार्मिक महापुरुष-सन्त-महात्माओं आदि ने इस ऐतिहासिक घटनाक्रम में आई सामाजिक विकृति को समाप्त करने के लिये क्या प्रयास किये? यह भी सच है कि हिन्दू समाज के अन्दर ही हजारों व्यक्ति अपनी इस सामाजिक बुराई के प्रति निरन्तर संघर्ष करते रहे। स्वधर्मी बंधुओं के लिये आत्मीय-भाव मन में रखकर प्रयत्न करने वालों की श्रृंखला भी छोटी नहीं है। जब से यह बुराई प्रारम्भ हुई है तभी से इसके विरुद्ध संघर्ष भी चल रहा है। हिन्दू समाज ने कभी भी इस कुरीति को सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार नहीं किया और हिन्दू समाज के मौलिक सिद्धान्त बार-बार इस बुराई से लड़ने के लिये प्रेरित करते रहे।

भारतीय विचार-दर्शन ने सभी के अंदर एक अविनाशी ब्रह्म, अर्थात् 'ईश्वर' के अस्तित्व को सदैव स्वीकार किया है, इस कारण मनुष्य-मनुष्य के मध्य किसी भी प्रकार के भेदभाव को आध्यात्मिक विचार ने कभी अनुमति नहीं दी।

इस प्रकार सारे देश में, सभी काल में, हिन्दू समाज के अन्दर लोग खड़े होते रहे और जातिगत भेदभाव मानने वाली इस सामाजिक समस्या के विरोध में लड़ाई जारी रही। ईश्वर-भक्ति के निर्मल सन्देश के साथ सभी भेदभावों के विरुद्ध संघर्ष करने वाले आचार्य, सन्त, महात्मा एवं भक्तों आदि की मालिका बढ़ती गई है। इन समस्याओं पर संतों, भक्तों एवं आध्यात्मिक महापुरुषों की व्यापक भूमिका क्या रही उसका वर्णन हम आगे देखेंगे।

॥ ॐ ॥

## हिन्दू विचार दर्शन के आधार

किसी भी समाज की योग्य व्यवस्था, विचार और व्यवहार के समुचित संचालन हेतु, कुछ नियम, प्रावधान, जीवनमूल्य तथा जीवनोद्देश्य का निश्चित होना आवश्यक है। जब हम कहते हैं कि भारत एक समाज, एक जन और एक राष्ट्र है तो उसकी मौलिक एकता वैचारिक रूप से समान जीवनोद्देश्य तथा समान जीवनमूल्यों पर ही आधारित है। व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन जीते समय हर क्षण हमको यह स्मरण रहता है कि हमारा आध्यात्मिक चिन्तन क्या है? समाज तथा ईश्वर की ओर देखने की हमारी दृष्टि क्या है? हजारों वर्ष के चिन्तन, अनुभव तथा महापुरुषों के आचरण द्वारा, समाज की स्वस्थ परंपरा के अनवरत संचालित होते रहने के लिए, कुछ सिद्धान्त स्वाभाविक रूप से हिन्दू समाज के व्यवहार में स्थापित हो गये हैं-

(1) एको देवः सर्वभूतेषु गूढः - अर्थात्, सभी जीवों में ईश्वर के परमतत्व का दर्शन करना, इसी को यहाँ लोगों ने कहा- 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी'। हिन्दू समाज ने अपने सभी धर्मग्रन्थों में बार-बार इस बात को प्रतिपादित किया है कि सभी के अन्दर परमात्मा का वास है। इसी बात को गीता में- "सर्वभूतेषु यनैकं" तथा "ईश्वरः सर्वभूतानां" आदि शब्दों द्वारा अनेक बार स्पष्ट किया गया है।

(2) समः सर्वेषु भूतेषु- अर्थात्, सभी समान हैं तथा सभी को समदृष्टि से देखना चाहिए। उसी को भगवान् कृष्ण कहते हैं- "समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्" अर्थात्, सभी के अन्दर ईश्वर समभाव से विराजमान है।

(3) सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः - अर्थात्, सभी सुखी रहें, किसी को भी लेशमात्र कष्ट न हो। यही हिन्दू की सर्वमान्य भावना है। इसी को अनेक प्रकार से धार्मिक ग्रन्थों में प्रतिपादित किया गया है। गीता में भगवान् कहते हैं - "ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूत हिते रताः" अर्थात्, सभी की भलाई में जो रत हैं वे मुझ को ही प्राप्त होते हैं। इसी भाव को व्यास जी ने भी अपने शब्दों में व्यक्त किया है- "परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्" अर्थात्, दूसरों का उपकार करना ही पुण्य तथा दूसरों को दुःख देना ही पाप है।

(4) एकं सद्ब्रह्मः बहुधा वदन्ति - अर्थात्, सत्य तो एक ही है, लोग इसको अपने-अपने प्रकार से कहते हैं। इसके कारण सभी को अपना विचार, निर्भय

होकर (उपयुक्त बातों को स्मरण में रखकर)। मुक्त रूप में रखने का अधिकार है।

अतः हिन्दू समाज के अन्दर जो भी मन, सम्प्रदाय, दर्शन तथा विचार विकसित हुए, वे कहीं न कहीं इन सिद्धान्तों में ही प्रेरणा लेते हैं। ये मौलिक सिद्धान्त समाज को सदैव जोड़ने का तथा समाज को निरन्तर शुद्ध करने रहने का प्रयास करने हैं। यह इस भूमि की विशेषता ही कही जाएगी कि जो भी मन्त्र, महात्मा, भक्त तथा महापुरुष यहाँ उत्पन्न होते हैं, इन विचारों का सम्मान करने हुए ही आगे बढ़ते हैं। इस कारण, सभी के विचारों का सम्मान करना तथा सभी के सुख की कामना करना, हिन्दू समाज का स्वाभाविक गुण है। इन्हीं मूल सिद्धान्तों से अनुप्राणित, सन्त और समाज सुधारक, मनुष्य-मनुष्य के मध्य किसी भी भेदभाव का विरोध करते हैं तथा इन सिद्धान्तों के प्रतिकूल सभी बातों को अस्वीकार करते हैं।

उपयुक्त सिद्धान्तों के मनःपूर्वक पालन करने के कारण, अपने देश में एक अद्भुत सांस्कृतिक एकता का प्रादुर्भाव हुआ। इन्हीं कारणों से हमारी संस्कृति की एकता, मौलिक व आधारभूत है। इस प्रकार, इस देश में विकसित हुई यह सांस्कृतिक व ध्येयमूलक एकता, विविधताओं का स्वाभाविक सृजन करती है। अतः हम कह सकते हैं कि हमारी सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक एकता, अनेकता के विविध स्वरूपों के साथ निरन्तर प्रस्फुटित होती रहती है, अनेकता में एकता के रूप के साथ नहीं। अपना सम्पूर्ण देश इस महान परम्परा से सदैव अनुप्राणित हुआ है। हमारे ऋषि-मुनियों ने अपने इस मौलिक विचारप्रकाश को अनेक रूप में प्रकट होने का आह्वान किया। अर्थात्, एक परमसत्य अपने विविध स्वरूपों के साथ अवतरित होता रहा- **एकोऽहम् बहुस्याम्**। इस दर्शन की शीतल छाया में ही भाषा, बोली, उत्सव, वेशभूषा तथा परम्पराओं आदि की विविधता स्वाभाविक रूप से पुष्पित और पल्लवित होती रही किंतु इसमें द्वेष, वैमनस्य, भेदभाव, घृणा तथा विचार-प्रेरित हिंसा को कोई भी स्थान नहीं था। हर काल में ऐसे सन्त, महात्मा, भक्त, आचार्य, गुरु आदि खड़े होते रहे जिन्होंने इन सिद्धान्तों की रक्षा के लिए सभी प्रकार के प्रयास किये।

भारत की इन आध्यात्मिक विभूतियों का जीवन उच्च गिरिधंग की तरह है जिसके शिखर पर चढ़कर काल के प्रवाह की स्रोतस्त्रिनी को बहुत दूर तक देखा जा सकता है। इस महानद के प्रवाह तट पर वैभव और पतन के अवशेष प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं। जिस प्रकार सुरसरिना की एक लहर आगे वाली लहर का

स्थान ग्रहण कर अविधान-प्रवाह की निरन्तरता को बनाए रखती है उसी प्रकार इस महान आध्यात्मिक परंपरा के मनीषी इस पुण्य-प्रवाह को गतिमान रखते हैं। समाज में वैभव और समृद्धि के क्षण आते हैं और चले जाते हैं। बड़े-बड़े साम्राज्य खड़े होते हैं और भूतुष्टि हो जाते हैं परन्तु हिन्दू समाज चिरायु है। जनान्दियों की इस मंत्रपमय यात्रा में वह कलान्त नहीं होता बल्कि अपने जीवनादर्श एवं जीवोद्देश्य की साधना में रमा रहता है। यही इसका स्वाभाविक धर्म है। इतिहास पटल पर लिखी जय और पराजय की गाथाएं कुछ क्षणिक व्यवधान अवश्य डालती हैं किन्तु इस मंगल-यात्रा को रोक पाने का सामर्थ्य इनमें भी नहीं है।

इस प्रकार 'हिन्दू विचार दर्शन के ये मूलतत्त्व' हरकाल में मार्गदर्शक भूमिका निर्वह करते हैं। इस भूमि पर पैदा होने वाले पंथ, मत, सम्प्रदाय, विचारदर्शन कोई भी क्यों न हो सभी के अन्दर आत्मा की तरह विराजमान यह दर्शन उनका प्राण बना रहता है। यही उस भूमि पर उत्पन्न सम्प्रदायों की विशेषता है जो विश्व के अन्य दर्शनों से इसको अलग करती है।

॥ ॐ ॥

माधना के बल पर ऋषि पद पाया। इस प्रकार ऋषि वनना माधना का मार्ग है। ऋषि वनने के लिये साधना करो और ऋषि बनो। वेद माधिका धोषणा करने हैं कि यह अधिका सभी को प्राप्त है। जिस प्रकार शुक्ल यजुर्वेद के (26-2) मन्त्र में चारों वर्णों के कल्याण की ही प्रार्थना की है-

‘यथेमां वाचं कल्याणीमावदानी जनेभ्यः।

ब्रह्मराज्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥

प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं।

मे कामः समृध्यतामुष्मादो नमतु॥’

(यजुर्वेद 26.2.)

अर्थात्, ‘जैसे इस कल्याणी वाणी को मनुष्यों के लिए मैं बोलता हूँ वैसे ही ब्राह्मणों, क्षत्रियों, शूद्रों, वैश्यों, स्त्रियों और अन्य जनों के लिए आप बोलिए और इस प्रकार के विद्यादान से मैं देवताओं में प्रिय होऊँ, मुझे परोक्ष सुख मिले तथा सब कामनाएं पूर्ण हों। क्या वेद में से आप कोई उदाहरण ऐसा बता सकते हैं कि सभी को यह अधिकार नहीं है?’ ..... (हिन्दी अनुवाद)

(Lectures from Colombo to Almora, Page-413).

ऋग्वेद के सामनस्य सूक्तम् में सभी को प्रेम तथा सम्मानपूर्वक साथ लेकर चलने की बात कही गयी है। प्रत्येक मन्त्र में सभी की समानता का सन्देश है- “सङ्गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्”।

यह मन्त्र भी, साथ-साथ चलने, बोलने तथा समान मनबोध का सन्देश देता है। आगे के सूक्तों में कल्याण की जाती है कि हम सभी के मन्त्र, मन्त्रण, मन, निर्णय, भोजन, भावना, हृदय तथा संकल्प आदि सभी कुछ समान हों तथा हम सभी मिलकर सहकार करें। किसी भी वर्ग के साथ भेदभाव का लेशमात्र भी दर्शन नहीं होता।

वर्ण-व्यवस्था जाति-व्यवस्था में परिवर्तित हो गयी - विगत तीन हजार वर्ष के निरन्तर संघर्ष के कारण समाज में अनेक प्रकार की विकृतियाँ आना स्वाभाविक ही था। इसका विचार हमने पूर्व के अध्याय में किया है। परिस्थितियाँ कठिन होने के कारण आत्मपरिष्कार की स्वाभाविक प्रक्रिया बाधित हुई और इसके दुष्परिणाम स्वरूप भेदभाव परक जाति-व्यवस्था विस्तार पाती गई। वर्तमान में देशभर की 6 हजार जातियों में से 5 हजार जातियों का उद्भव विगत 1200 वर्ष पुराना ही है।

इस प्रकार, वर्ण-व्यवस्था, धीरे-धीरे जाति-व्यवस्था में बदलती चली गयी और प्रत्येक जाति का अपना एक आवरण बन गया। जाति उस कठोर आवरण में

## समाज परिवर्तनशील है

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत मत्त है। जो आज है वह कल नहीं रहेगा। समाज का स्वभाव-व्यवहार-विचार-वैशेष्य-भाषा-परिवेश आदि सभी कुछ काल से नियन्त्रित है। काशी में देश भर के राजा-महाराजा आकर विनाल भवन बनवाते थे किन्तु इसके दरवाजे पर एक पत्थर पर लिखा रहता था - “इदमपि न तिष्ठेत्” अर्थात्, यह भी नहीं रहेगा। एक दिन यह भी नष्ट हो जायेगा, काल इसको नष्ट कर देगा। समाज भी प्रतिक्षण बदलता है, एक जीवन्त इकाई की तरह निरन्तर गतिमान रहता है। वह सोचता है, विचार करता है, इस कारण परिवर्तनशील है, काल के चक्र की तरह। चक्र का जो भाग कल ऊपर था वह आज नीचे हो सकता है तथा जो आज नीचे है वह कल ऊपर हो जाएगा किन्तु ‘विचार दर्शन के ये सिद्धान्त’, हिन्दू समाज के कालचक्र की ‘धर्मधुरी’ के रूप में हैं तथा सदैव इस चक्र के केन्द्र में ही स्थिर रहते हैं।

वैदिक काल में हिन्दू समाज - कहा जाता है कि विश्व के सर्वाधिक प्राचीन एवं विकसित ग्रन्थ वेद हैं। वेद में सभ्य समाज-व्यवस्था का वर्णन है। वेदों में अस्पृश्यता का उल्लेख तक नहीं है। वैदिक लोग मिलकर सभी की सुख-समृद्धि की कामना करते हैं। मिलकर रहने का, स्नेह करने का तथा त्यागमय जीवन का सन्देश देते हैं। प्रकृति के अन्दर सामंजस्य की व्यवस्था बनाते हैं। इस प्रकार अपने-अपने चरित्र और व्यवहार द्वारा समाज को आचरण की शिक्षा देने की सुन्दर परम्परा का विकास होता है। यज्ञ के द्वारा सभी के कल्याण की कामना करना भी हिन्दू समाज के मौलिक सिद्धान्तों को लेकर चलने का ही विश्वास करना है।

हिन्दू समाज के अन्दर वेदों की सत्ता सर्वोच्च मानी गई है। वेदों में तो कोई छोटो-बड़े, अस्पृश्य-स्पृश्य का उल्लेख भी नहीं है। वेदों के मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। उन्होंने शाश्वत सत्य की अनुभूति की और उसका वर्णन किया है। ये ऋषि कौन हैं? इनकी क्या जाति है? वात्स्यायन कहते हैं- “वह जिसने उचित माध्यम से धर्म (सत्य) का साक्षात्कार किया है, केवल वही ऋषि हो सकता है चाहे वह जन्म से म्लेच्छ ही क्यों न हो।”

विवेकानन्द इसी को और स्पष्ट करते हैं- “उस प्राचीन समय में, देवर्षि वशिष्ठ अवैध सन्तान हैं। महर्षि व्यास-मधुआरिन के पुत्र हैं, भक्त नारद दासीपुत्र हैं तथा और भी अनेक उदाहरण इस प्रकार के बताये जा सकते हैं, जिन्होंने अपनी

बन्द हो गयी और फिर कुछ जानियाँ उच्च और कुछ निम्न हैं, इस भावना के कारण एक जाति अपने जातिगत अहंकारवश दूसरी जाति को हेय दृष्टि में देखने लगी। छोटी ममझी जाने वाली जानियों के साथ बैटना, भोजन करना अपराध जैसा हो गया। इसी में से कुछ जानियाँ असृष्य हो गयी। दुःख, अपमान, निरस्कार का निन्दनीय स्वरूप भी इसी समाज ने देखा। हिन्दू समाज ने सामाजिक भेदभाव के इस व्यवहार को कभी भी सिद्धान्त रूप में स्वीकार नहीं किया। अपने मौलिक सिद्धान्तों के आधार पर, हर काल में ऐसे लोग खड़े होते गये जिन्होंने भेदभाव वाली इस सामाजिक कुगीति को केवल विरोध ही नहीं किया वरन् अपने प्रयत्नों से सभी को सम्मान देने वाली नई व्यवस्था निर्मित करने का प्रयास भी किया।

**हिन्दू समाज में शुद्ध होते रहने की विलक्षण प्रकृति** - अपने सिद्धान्तों का स्मरण करने हुये गतिमान रहना, उसकी निरन्तर शुद्ध होते रहने की प्रक्रिया का ही लक्षण है। आगे हम देखेंगे कि किस प्रकार हिन्दू समाज अपने आपको उन मौलिक सिद्धान्तों के अनुरूप बनाये रखते हुए अनवरत संघर्ष करता है। हिन्दू समाज की यह प्रकृति विशिष्ट है तथा विश्व-परिदृश्य में दुर्लभ है। समाज की अपने मौलिक सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा भी वैसी ही अद्भुत है। अनेक प्रकार के संकट, संघर्ष तथा मजबूरियाँ पूरे समाज को झकझोरती हैं, लगता है कि हिन्दू समाज बचेगा या नहीं किन्तु हिन्दू समाज अपनी अतुलनीय जीवनी शक्ति के साथ और अधिक नेजस्वी होकर, अपने मौलिक सिद्धान्तों के प्रकाश में पुनः खड़ा हो जाता है। यह कथा, विदेशी आक्रान्ताओं से लड़ते समय, अपने अस्तित्व की रक्षा में, अत्याचार के विरुद्ध, त्याग और बलिदान के साथ रोमांचकारी लगती है, वही अपने ही समाज बन्धुओं से स्वयं के आत्मसम्मान के लिये संघर्ष करते समय, मानवीय व्यथा के दुःखद पहलू को भी उजागर करती है।

ऐसे समय में, भगवद्भक्ति का सहाग लेकर देशभर में हजारों सन्त, भक्त और साधु समाज के लोग खड़े हो जाते हैं। वे हिन्दू समाज को उन्हीं मौलिक सिद्धान्तों का पुनर्स्मरण कराते हैं। सन्तों एवं भक्तों के मार्गदर्शन में हिन्दू समाज के ही लाखों लोग समाज के अन्दर व्याप्त असृष्यता, जातिगत ऊँच-नीच की भावना के विरुद्ध मिलकर भक्तिभाव के आधार पर संघर्ष करते हैं तथा इस दुर्व्यवस्था को हिन्दू समाज सदैव अपनी बुराई के रूप में ही स्वीकार करता आया है।

॥ ॐ ॥

## भक्तिभाव और हिन्दू समाज

हिन्दू समाज में भक्ति का बड़ा महत्व है। सम्पूर्ण सृष्टि, प्रभु की असीम नीचा का ही एक छोटा भाग है, ऐसा मानकर वह उसी सर्वनियन्ता प्रभु की भक्ति में लीन होकर मुक्त पाता है। नारद को हम भक्ति के आदिपुरुष के रूप में पाते हैं। वे विष्णु के भक्त हैं तथै तीनों लोक में प्रभु के गुण गाने हैं और उसी आनन्द में रहते हैं।



**भक्ति-भाव कोई भेद नहीं मानता-** सम्पूर्ण जड़ चेतन में उसी अखण्ड ईश्वर की अनुभूति करना ही भक्ति है। जो भी कुछ हो रहा है वह ईश्वर की इच्छा से ही हो रहा है, सभी प्राणियों के अन्दर उसी परमात्मा का निवास है। सभी उस के रूप हैं, यह भक्त की भावना रहती है। ईश्वर की भक्ति, कोई भेद स्वीकार नहीं करती। छोटा-बड़ा, गरीब-अमीर, गाँव-शहर का, हरिजन-ब्राह्मण सभी प्रभु के सम्मुख समान हैं।

**भक्तों की एक लम्बी श्रृंखला-** देश भर में हजारों वर्ष से भक्तों की एक लम्बी परम्परा चली आ रही है। इसमें सभी जानियों के, सभी वर्णों के तथा सभी भाषा-भाषी लोग आते हैं। नायन्मार, आलवार, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, नरसी मेहता, कबीर, रैदास, रसधान, शंकरदेव, चैतन्य महाप्रभु, मीराबाई, मूरदास, जानेश्वर, तुकाराम, वसवेश्वर, पुरन्दरदास, कम्बान् आदि सन्तों की श्रृंखला अखण्ड है। भक्तिभाव में डूबे इन महान् भक्तों ने भक्ति की एक ऐसी धारा प्रवाहित की जिसमें जानि को कोई स्थान नहीं था, सभी को मीरा भक्तिभाव में रैदास की शिष्या हो गयी और रसधान, मुसलमान होकर भी कृष्ण के अनन्य भक्त हो गये। अनेक आलवार तथा नायन्मार तथाकथित पिछड़ी और निम्न कही जाने वाली जानियों के थे किन्तु ईश्वरभक्ति के कारण वे पूज्य बन गये।

भक्ति के पथ में प्रभुस्मरण अर्थात् नामस्मरण का महत्व है। वैदिक काल से ही जप का महत्व स्वीकार किया गया है। विष्णुपुराण में कहा गया है कि-

“ध्यायनकृते यजन यज्ञेस्त्रेतायां द्वापरैऽर्चयन् ।

यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥”

अर्थात् जो सतयुग में ध्यान से, त्रेता में यज्ञ से, द्वापर में पूजा के द्वारा प्राप्त होना है वही कलियुग में प्रभुस्मरण अर्थात् हरिकीर्तन से प्राप्त हो जाता है।

परमात्मा की प्राप्ति, कर्म, योग, भक्ति, ज्ञान आदि के द्वारा होती है किन्तु सामान्य जन तो बहुत सरल हैं। उनके लिये परमात्मा प्राप्ति का सुलभ उपाय

नाम-स्मरण ही है। अतः सन्त लोग इसी नामस्मरण का सहारा लेते हैं तथा अपने अनुयायियों को भी इसी का उपदेश करते हैं। देश के सभी सन्तों ने नामस्मरण को भक्तिसाधना का माध्यम बनाया। संत कबीर कहते हैं कि इस भवसागर से पार जाने का महारा केवल हरि नाम ही है-

“संसार सागर विषम तिरणां सुमिर लै हरि नाम”

(भक्तिकाव्य में रहस्यवाद, पृ० 227)

“कहु नानक भजु राम नाम नित जातें होत उधार ॥”

(वही, पृ० 227)

संत दरिया साहब कहते हैं कि राम के नाम बिना भव-कर्म का छूटना कठिन है। साधू संगति और हरिभजन के बिना प्राणी निरंतर काल का ग्राम बना हुआ आवागमन के चक्र में फँसा रहता है-

“नाम बिन भाव करम नहिं छूटै।

साध संगति अरु राम भजन बिन काल निरन्तर लूटै।”

(वही, पृ० 231)

सन्त नामदेव का मानना है कि कोई भी धार्मिक कार्य राम से तुलना नहीं कर सकता। राम का नाम सभी से गुरुतर है-

“तत्त गहन को नाम है भजि लीजै सोई।

लीला सिंध अगाध है गति लखै न कोई ॥

कंचन मेरु सुमेरु हय गज दीजै दाना।

कोटि गऊ जो दान दे नहिं नाम समाना ॥”

(वही, पृ० 232)

भक्त रैदास कहते हैं कि हरि का नामस्मरण करने से संत कबीर जग प्रसिद्ध हो गये तथा जनम-जनम के बन्धनों से मुक्त हो गये-

“हरि कै नाम कबीर उजागर। जनम जनम के काटे कागर ॥”

(श्रीगुरु ग्रन्थसाहिब, राग आसा, पृ० 487)

भक्त रैदास ने पौराणिक व्यवस्था को स्वीकार करते हुए कहा है कि सतयुग में सत्य, त्रेता में यज्ञ तथा द्वापर में पूजा भगवत्प्राप्ति का साधन हो सकती है किन्तु कलियुग में तो राम का नाम ही आधार है-

“सतयुग सत त्रेताहि जग द्वापर पूजा चार।

तीनों जुग तीनों दूढ़े कलि केवल नाम आधार ॥”

(भक्तिकाव्य में रहस्यवाद, पृ० 233)

गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं कि भक्ति के क्षेत्र में राम का नाम लेने वाला श्वपच (चांडाल) भी राम का नाम न लेने वाले उच्च कुलोत्पन्न व्यक्ति से कहीं अधिक श्रेष्ठ है-

“तुलसी भगत सुपच भलो भजै रैन दिन राम।

ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम ॥”

(वही, पृ० 242)

इस प्रकार भक्त, संत परम्परा ने हरिस्मरण को भगवद्भक्ति का आधार मानकर उसका ही प्रचार किया। हरि सुमिरन के सहारे, जीवन की शुद्धता तथा शुचिता पर जोर देने हुए वे भवसागर पार करने की बात कहते हैं।

श्रीगुरु तेगबहादुर भी हरि के नामस्मरण को ही प्रमुखता देते हुए कहते हैं-

“हरि को नामु सदा सुखदाई।

जाकउ सिमरि अजामिलु उधरिउ, गनिकाहु गति पाई ॥

पंचाली कउ राज सभा में, राम नाम सुधि आई।

ताको दुषु हरिउ करणामै, अपनी पैज बढ़ाई ॥”

(संत साहित्य की समझ, पृ० 54)

भक्ति से ही व्यक्ति का स्थान ऊँचा होता जाता है। बृहन्नारदीय में विष्णुभक्त चांडाल को ब्राह्मण से श्रेष्ठ तथा भक्तिविहीन ब्राह्मण को चांडालाधिक कहा गया है -

“चाण्डालोऽपि मुनिश्रेष्ठ विष्णुभक्तो द्विजाधिकः।

विष्णुभक्तिविहीनश्च द्विजोऽपि श्वपचाधिकः ॥”

(भक्तिकाव्य में रहस्यवाद, पृ० 264)

हम देखते हैं, ये भक्त और सन्त विभिन्न जातियों से आते हैं किन्तु सभी का एक ही मत है कि हरि का स्मरण ही प्रमुख है तथा इसमें जाति-पाँति का कोई भी विचार करना व्यर्थ है स्वामी रामानन्द घोषणा करते हैं कि हरि का भजन करने का अधिकार सभी का है-

“जाति पाँति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।”

सभी आध्यात्मिक महापुरुषों की यह धारणा स्थायी थी कि प्रभुस्मरण ही प्रभु में मिलने का एकमात्र मन्त्र मार्ग है। जातिगत भेदभाव तथा वर्णव्यवस्था आदि को इसमें कोई महत्व नहीं है। पूजा-कर्मकाण्ड आदि के बाह्याङ्ग नथा मन्त्र, श्लोक आदि की जटिलताओं की इसमें कोई आवश्यकता नहीं। हरिस्मरण सभी के लिए सुगमता से ग्राह्य था इस कारण सभी भेदभावों को मिटाने में इसकी व्यापक भूमिका रही।

उन्होंने तरह-तरह में अवमूल्यन किया एवं उनकी अध्यात्म-परक व्याख्या करके समाज को नया आलोक-पथ दिखाया। उन्होंने जन्मना वर्ण-व्यवस्था की मान्यता को अस्वीकार कर दिया।

भगवान् महावीर ने अहिंसा और सत्य का प्रचण्ड प्रचार किया। सामाजिक तथा धार्मिक परम्पराओं में परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन लाकर रूढ़ियों तथा कुरीनियों का उन्होंने विध्वंस कर दिया। भगवान् महावीर ने शूद्रों को शिष्य बनाया तथा उनमें आन्तरिक प्रेम किया। उन्होंने उपदेश दिया कि प्रत्येक प्राणी धर्म का अधिकारी है। चारों वर्ण के साथ और गृहस्थ उनके शिष्य थे जैसे शूद्रों में मैतार्य और हरिकेजी आदि, वैश्यों में शालिभद्र आदि, क्षत्रियों में मेघकुमारगदि, ब्राह्मणों में इन्द्रभूति एवं मुधर्मा आदि इनके साथ शिष्य थे। ढंग, गौभद्र, श्रेणिक, अंबड़ आदि क्रमशः शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण जाति के गृहस्थ शिष्य थे। भगवान् महावीर ने स्त्रियों को भी पुरुषवत् धर्म के सभी अधिकार प्रदान किये।

उन्होंने कहा-‘कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य और शूद्र होता है।’ इस प्रकार आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व महावीर स्वामी ने कर्मकाण्ड के जंजाल से हटकर, सभी सामाजिक भेदभावों को नकारते हुए सामान्यजन को स्नेह-सूत्र में जोड़ने वाली एक नई समाज-व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास किया।

॥ ॐ ॥

## भगवान् महावीर

(वि.सं. पूर्व 542-470; ई० पूर्व 599-527)

सामाजिक विपमताओं को दूर कर समता-ममता युक्त समाज बनाने हेतु प्रयत्न करने वालों में भगवान् महावीर का नाम उल्लेखनीय है। उनके विचार सम्पूर्ण देश में फैल गये तथा दीर्घकाल तक भारतीय समाज जीवन पर उनका प्रभाव बना रहा।

भगवान् महावीर, जैनधर्म के चौबीसवें तथा अन्तिम तीर्थंकर थे। उनका जन्म वैशाली (बिहार) में हुआ था। पिता का नाम सिद्धार्थ तथा माता त्रिशला या प्रियकारिणी थीं। सिद्धार्थ उपनगराधिपति थे। महावीर तीस वर्ष तक माना-पिता तथा परिजनो के साथ घर में रहे और फिर दुःख मुक्ति अथवा सुख-प्राप्ति की खोज में घर-बार छोड़कर निकल पड़े। बारह वर्ष तक घोर तपस्याओं की और जनमानस में अपने को उन्मुक्त छोड़कर द्रष्टा बन गये। बारह वर्ष की साधना के परिणामस्वरूप उन्हें ‘कैवल्य’ आत्मज्ञान की उपलब्धि हुई। बहत्तर वर्ष की आयु में वे निर्वाण को प्राप्त हुए। आज ढाई हजार वर्ष बाद भी उनका पावन-स्मरण प्रेम की ज्योति जलाता है।

समता-ममता का अद्भुत सन्देश-भगवान् महावीर अहिंसा के अवतार ही नहीं थे बल्कि अहिंसा उनकी समग्र विभूति थी। चलते-फिरते-हिलते-डुलते, बोलते-खाते जीवों या प्राणियों में तो जीवन सब ही देखते हैं, लेकिन महावीर एक ऐसे समता-पुरुष थे, जिन्होंने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति सहित जड़ महाभूतों में भी आत्मस्वरूप का दर्शन किया और अपने को उनके समक्ष रख दिया। वे मन, वचन एवं काया से पूर्ण समतामय थे। यही समता-बीज वे जन-जन के हृदय में बोना चाहते थे। महावीर वस्तुतः विश्व वात्सल्य के अद्वितीय अवतार थे। उन्होंने मन, वचन व कायिक विकारों पर विजय प्राप्त करके सम्पूर्ण विश्व के ममस्त प्राणियों के साथ ऐसी एकात्मता साधी थी कि उनके लिए कीड़ी-कुँजर इत्यादि सब जीवन आत्मवत् हो गए।

भगवान् महावीर ने न किसी को गुरु बनाया न किसी ग्रन्थ का आश्रय लिया। यह उनका सम्पूर्ण सृष्टि के प्रति आत्यंतिक मातृभाव था जहाँ व्यक्ति, ग्रन्थ और पंथ सब शून्य या समाप्त हो जाते हैं। उनका वचन ही शास्त्र बन गया, कदम ही पथ बन गया।

वर्ण-व्यवस्था से हटकर समाज रचना-समाज में रूढ़ गलत मान्यताओं का

## भेदभाव के विरुद्ध भगवान् बुद्ध

(वि.सं. पूर्व 509-430 ; ई० पू० 566-487)

मानवीय दुःख और संवेदनाओं से द्रवित होने वालों में भगवान् बुद्ध का नाम महत्वपूर्ण है। उनका जन्म ईसा के पूर्व हुआ था। भगवान् बुद्ध का अन्तःकरण आपसी भेदभाव के इस अमानवीय अपमान को देखकर रो पड़ा, वे द्रवित हो उठे। वे राज परिवार के थे किन्तु एक दिन सबकुछ छोड़कर चुपचाप घर से निकल गये। परिव्राजक बनकर, घर-घर भिक्षाटन को ही जीवन का आधार बनाया। उन्होंने जातिगत भेदभाव से दूर एक नया समाज-दर्शन लोगों के सम्मुख रखा तथा अपना पहला उपदेश सारनाथ (वाराणसी) में दिया। इसके पश्चात् वे 44 वर्ष तक लगातार उपदेश देते रहे।

**गौतम बुद्ध और सुनीत** - सुनीत तथाकथित वंचित जाति का युवक था, सड़क पर झाड़ू लगा रहा था। तथागत गौतम उस मार्ग से निकले तो उन्हें आना देख सुनीत दूर खड़ा हो गया जिससे उसका स्पर्श बुद्ध से न हो। भगवान् बुद्ध, सुनीत के पास गये और बोले- 'क्या तुम अपना काम छोड़कर मेरे साथ रहना पसन्द करोगे?' सुनीत को आश्चर्य हुआ कि उस जैसे क्षुद्र व्यक्ति ने ये ऐसा व्यवहार क्यों कर रहे हैं। वह बोला- 'आप प्रथम व्यक्ति हैं जो मुझ से ऐसा व्यवहार कर रहे हैं। यदि आप मुझे शरण दोगे तो मैं आपकी सेवा करने में अपना सौभाग्य समझूँगा।' तथागत ने सुनीत को दीक्षा दी और उसे बौद्ध संघ का सदस्य बना लिया।

**आनन्द और शूद्र कन्या** - गौतम बुद्ध के परमप्रिय शिष्य आनन्द उनके चचेरे भाई भी थे। श्रावस्ती में आनन्द भिक्षा माँग कर विहार में लौट रहे थे तभी एक युवती कुँए पर पानी भर रही थी। आनन्द ने उससे पीने के लिये पानी माँगा। उस लड़की ने पानी नहीं दिया और कहा हम शूद्र हैं। आनन्द ने कहा- 'मैंने तुम्हारी जाति नहीं पूछी और न ही मैं जाति-पाँति मानता हूँ। मैं केवल थोड़ा पानी माँग रहा हूँ, जिससे प्यास बुझे।' आनन्द ने पानी पिया। आगे चलकर यह कन्या, स्त्रियों के बौद्ध-संघ में शामिल हो गयी।

भगवान् बुद्ध ने कहा कि जाति के आधार पर कोई छोटा या बड़ा हो ही नहीं सकता। भगवान् बुद्ध ने सोचा कि शायद यह पुरानी समाज-व्यवस्था ही इस अन्याय की जननी है अतः उन्होंने इस व्यवस्था का खण्डन कर, जाति-वर्ण त्याग कर, एक नया समाज बनाने का प्रयास किया। प्रचलित कर्मकाण्ड तथा मूर्तिपूजा का इटकर विरोध किया। भगवान् बुद्ध ने वर्ण-व्यवस्था की पुनर्व्याख्या कर सभी भेदभावों से ऊपर उठकर नवीन समाज-व्यवस्था की सृष्टि की। वे अपने सम्प्रदाय के नेता थे तथा अनेक राजा, अभिजात्य तथा धनपति भी उनकी पूजा करते थे। उस समय के समाज में वे सर्वाधिक विनम्र तथा करुणा से भरे हुए थे। भगवान् बुद्ध कहते हैं कि- 'मैं बीमारों के लिये वैद्य और मानव-मात्र का मित्र और सर्वाधिक दीन व्यक्ति हूँ। .... जीवों के लिये मेरे मन में करुणा है, इसीलिए मैंने अपनी बुद्ध-दृष्टि से संसार का निरीक्षण किया और पाया कि शुद्धहृदय व्यक्ति कम नहीं हैं।' मृत्यु के पूर्व प्रिय शिष्य आनन्द ने पूछा कि संघ की व्यवस्था किस प्रकार सुरक्षित रखी जायेगी तो बुद्ध ने कहा- 'संघ के बारे में तथागत कोई सलाह क्यों दे?' और अन्त में अपना सुप्रसिद्ध प्रवचन देते हुए कहा- 'अतः हे आनन्द, आत्मदीपो भव।' अर्थात् स्वयं अन्तःकरण से प्रकाशवान बनो और उस प्रकाश में अपना मार्ग स्वयं प्रशस्त करो। बौद्ध धर्म में सभी प्रकार के भेदभावों से ऊपर उठकर मानव मात्र के प्रति प्रेम और करुणा को प्राप्त करने पर जोर दिया गया है जिसमें अनित्य अहंकार की मिथ्या दीवारें समाप्त हो जायें।

**गौतम बुद्ध और जाति भेद**- भगवान् बुद्ध ने किसी भी प्रकार के जाति एवं वर्ण-भेद को अस्वीकार कर दिया था। 'मज्झिम निकाय' के आश्वलायन सुत्त में वर्णन आता है कि काशी के ब्राह्मणों ने आश्वलायन नामक पंडित को एक दल के साथ भगवान् बुद्ध से वार्तालाप करने के लिए भेजा। यह दल, ब्राह्मणों की श्रेष्ठता जन्म से ही होती है, यह प्रतिपादित करने आया था। भगवान् बुद्ध के साथ हुआ इनका वार्तालाप रोचक है। भगवान् बुद्ध ने जन्म से प्राप्त श्रेष्ठता को अस्वीकार कर दिया।

"भगवान् बुद्ध आश्वलायन से प्रश्न करते हैं- 'क्या ब्राह्मण तथा शूद्र का जन्म एक ही प्रकार से नहीं होता है?'

आश्वलायन- 'हाँ भगवन्, एक ही प्रकार से होता है।'

भगवान् बुद्ध- 'क्या चारों वर्ण के लोग चोरी से विरत, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ से

विरत होकर व्यवहार करेंगे तो स्वर्ग में जन्म लेंगे?

आश्वलायन- 'हाँ भगवन्'

भगवान् बुद्ध- 'ब्राह्मण चन्दन की लकड़ी से आग जलाता है शूद्र ण्ड की लकड़ी से तो क्या उनके तेज और जलाने के सामर्थ्य में कुछ अन्तर होगा ?'

आश्वलायन- 'नहीं भगवन्, कुछ अन्तर नहीं होगा।'

भगवान् बुद्ध- 'एक व्यक्ति शीलवान है दूसरा शील से विहीन है तो महत्व किसका है ?'

आश्वलायन- 'शील का भगवन्।' तब बुद्ध जन्मना जाति की निस्सारता बताते हुए जीवन की शुद्धता का उपदेश देते हैं।'

(हमारी सांस्कृतिक विचारधारा के मूल स्रोत, पृ. 103-105)

संस्कृत के स्थान पर, गाँव की प्रचलित भाषा पालि और प्राकृत में गौतम बुद्ध रचनाएँ करने लगे। धर्म के समानान्तर, "धम्म" के रूप में, बौद्ध धम्म स्थापित हो गया। विलक्षण बौद्धिक क्षमता, करुणा और ममत्वपूर्ण व्यवहार ने लाखों लोगों को उनका अनुयायी बना दिया। तथाकथित कुछ ग्रन्थों में शूद्रों द्वारा वेद अध्ययन वर्जित कहा गया था। सम्भवतः उसी कारण भगवान् बुद्ध ने उद्घोष किया कि धर्मग्रन्थों तथा दूसरे के कथन पर विश्वास न करो। स्वानुमति से सत्य का अनुसंधान करो - अप्प(आत्म) दीपोभव। उनका सम्पूर्ण दर्शन और व्यवहार, मनुष्य-मनुष्य को समान समझने की आधारशिला पर ही खड़ा था। इसके अन्तर, हिन्दुत्व के मौलिक विचार जस के तस ही थे। यह विचार तेजी से फैला और विश्व के अनेक देशों में प्रसारित हो गया। हिंसा और स्वार्थ में डूबी मानव जाति के लिये यह एक नया सूर्योदय था। बौद्धमत की ध्वजा लेकर, हजारों युवक अनेक देशों में बिखर गये और उन्हें आशातीत सफलता मिली।

बौद्धमत संकट में - हिन्दू समाज की गतिशीलता तथा विचार स्वातन्त्र्य ने इस बौद्धमत में महायान, हीनयान, वज्रयान, सहजयान आदि अनेकमार्ग खड़े कर दिये। अहिंसा का अतिरेक, दुर्व्यवस्था तथा कर्मकाण्ड के जंजाल ने यहाँ भी संघर्ष खड़ा कर दिया। समाज को लगने लगा कि अपने दोषों को दूर कर पुरानी वैदिक परम्परा को ही पुनःलाना ठीक रहेगा। इस प्रकार बौद्धमत, धीरे-धीरे विदा होने लगा। छठी शताब्दी के पश्चात् कुछ विचित्र परिवर्तन होने लगे। बौद्ध-ग्रन्थों की

भाषा संस्कृत हो गयी। कुमारिल भट्ट ने बौद्ध ग्रन्थों से संस्कृत भाषा में ही विद्या प्राप्त की थी। गौतम बुद्ध मूर्तिपूजा का विरोध करते थे किन्तु उनकी मृत्यु के लगभग 500 वर्ष पश्चात् उनकी मूर्तियाँ बनने लगीं तथा विश्व की सबसे बड़ी और संख्या में भी सर्वाधिक मूर्तियाँ उनके भक्तों ने भगवान् बुद्ध की बना डालीं। यह परिवर्तन का काल था किन्तु यह बात ध्यान में रखने की है कि भगवान् बुद्ध ने एक ऐसी बौद्धिक एवं व्यावहारिक क्रान्ति का सृजन किया था जो आज भी विश्व पटल पर अपना स्थान बनाए हुए है। भारतीय राष्ट्रध्वज के मध्य का चक्र, धर्मचक्र प्रवर्तनाय का ही प्रतीक है। गान्धी जी की अहिंसा का प्रकाश भी वहीं बुद्ध से ही आता है। डा. अम्बेडकर जी ने भी ममता आधारित समता का संदेश भगवान् बुद्ध के दर्शन से ही स्वीकार किया था। उन्होंने कहा कि मैंने स्वतन्त्रता, समानता तथा बन्धुत्व का दर्शन फ्रांस की क्रांति से नहीं वरन् भगवान् बुद्ध के विचारों से प्राप्त किया है। वे मानवीय करुणा, प्रेम, दया तथा ममता की प्रतिमूर्ति थे।

॥ ॐ ॥

## आद्य शंकराचार्य

(वि.सं. पूर्व 451-419; ई0 पूर्व 508-476) \*

आचार्य शंकर का जन्म मालावार (केरल) क्षेत्र के कालडि नामक स्थान पर हुआ था। द्वारिका मठस्थ जन्मपत्री के अनुसार आचार्य शंकर का समय युधिष्ठिराब्द-2631 से 2663 माना गया है। इस बात की पुष्टि वहाँ से प्राप्त प्राचीन ताम्रपत्र के द्वारा भी हुई है। श्रीगोविन्दपाद से दीक्षा लेकर, संन्यास ग्रहण कर, बहुत छोटी सी आयु में ही यह तरुण संन्यासी अनेक भ्रान्तियाँ नष्ट करता हुआ, अद्वैत का प्रतिपादन करता चला जा रहा था। वे दक्षिण के चिदम्बरम् से लेकर काश्मीर तक, काशी से केदारनाथ और फिर द्वारिका होते हुए रामेश्वरम् जा पहुँचे। यह एक दार्शनिक दिग्विजय थी। भारत के इतिहास में सम्भवतया यह प्रथम अवसर था जब इतनी कम आयु होते हुये भी इस महान विद्वान ने अनेक धर्मशास्त्रों, दर्शनों, पुराणों के प्रकाण्ड पंडितों को इतनी सरलता से पराजित कर दिया था। 'वह आता था, शास्त्रार्थ करता था और लोगों पर विजय प्राप्त कर लेता था।' इस प्रकार यह एक नये सुधार युग का प्रारम्भ था।

आद्य शंकराचार्य की व्यापक सफलता के पीछे उनकी बौद्धिक प्रतिभा, अतुलनीय कर्मठता तथा उदारता थी। उन्होंने कर्मकाण्ड का खण्डन किया। उनके विचार से आत्मा ही एकमात्र सत्य है और वही चैतन्य, परिमाण रहित, निर्गुण और असीम-परम-आनन्द है। श्रीशंकर के वेदान्त का आधार प्रस्थानत्रयी अर्थात् उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता ही थे।

काशी की एक गली में, श्रीशंकराचार्य तथा चाण्डाल (श्वपच) का वार्तालाप प्रसिद्ध है। आद्य शंकराचार्य काशी में गंगास्नान करने जा रहे थे, मार्ग में चाण्डाल रास्ता रोके खड़ा मिल गया। शरीर से दुर्गन्ध आ रही थी तथा कमर से चार कुत्ते भी उसने बाँध रखे थे। श्रीशंकराचार्य के शिष्यों ने उसे दूर हटने को कहा, इस पर श्वपच, भगवत्पाद शंकराचार्य को पूछता है, 'महाराज, सर्वत्रैक्य तथा अद्वैत का

\* आद्य शंकराचार्य की जन्म तिथि के सम्बन्ध में अभी कुछ विवाद है। कांची के मठ में ई.पू. से आज तक के सभी शंकराचार्यों की सूची उपलब्ध है।

मन्देश देनेवाले आप किमे 'गच्छ-दूरमिति' कहकर दूर हटने को कह रहे हैं? क्या अन्न-निर्मित एक शरीर को, अन्न-निर्मित दूसरे शरीर से दूर जाने के लिए कह रहे हैं या एक चैतन्य स्वरूप को दूसरे चैतन्य स्वरूप से दूर करना चाहते हैं? क्या अभिप्राय है आपका?

श्वपच ने शंकराचार्य को आगे पृच्छा-गृह्णा की धारा या चाण्डालों की बस्ती में स्थित वावड़ी के पानी में प्रतिबिम्बित होने वाले सूर्य के बीच क्या कोई अन्तर है? अथवा क्या सोने के घड़े और मिट्टी के घड़े में स्थित आकाश में कोई अन्तर है? आत्मसत्ता में जो सहज आनन्द और ज्ञान का तरङ्गहीन महासागर है, उसमें यह ब्राह्मण है, यह श्वपच है, इस प्रकार भिन्नता की यह बड़ी भ्रान्ति कैसी है? अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्त, आद्य, उपाधिशून्य सभी शरीरों में रहने वाले एक पूर्ण अशरीरी पुराण पुरुष की इस प्रकार उपेक्षा आप क्यों कर रहे हैं?

इन वचनों को सुनकर श्रीशंकराचार्य को अपने शिष्यों की भूल का बोध हुआ तथा उन्होंने चाण्डाल को गुरु स्वीकार किया तथा हाथ जोड़कर प्रणाम किया और अपने मनोभाव को व्यक्त करते हुए कहा-जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में, जो शुद्ध चैतन्य स्पष्ट दीवता है, जो ब्रह्मा से लेकर पिपीलिका (चींटी) तक सभी प्राणियों के शरीर में विद्यमान है, वही मैं हूँ, ऐसी दृढ़ता से जिसकी प्रज्ञा हो, वह चाण्डाल हो या द्विज मेरा गुरु है, ऐसा मैं समझता हूँ।

(मनीषा पंचकम्-श्लोक-1)

'मैं ब्रह्म हूँ, यह सारा जगत् भी ब्रह्म है, उस ब्रह्म का ही विस्तार है, त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रजस्, तमस्) अविद्या के कारण कल्पित है, ऐसा जानकर जो नित्य, निर्मल परमानन्द ब्रह्म में दृढ़ चित हो, वह चाण्डाल हो या द्विज मेरा गुरु है ऐसा मैं समझता हूँ।' (मनीषा पंचकम्-श्लोक-2)

"चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम॥"

(शंकर ज्योति, पृ0 10-11)

इस प्रकार मनीषा पंचकम् के पांच श्लोक बोलते हुए, शंकर के मुख से पाँचवी बार 'मनीषा मम' इन शब्दों के समाप्त होते ही श्रीशंकराचार्य को ऐसा आभास हुआ कि इतना विद्वान चाण्डाल तो साक्षात् शिव रूप ही हैं। श्रीशंकराचार्य ने चाण्डाल को शिव मानकर प्रणाम किया। वास्तव में देखा जाय तो यह घटना

‘मनीषा पंचकम्’ की रचना के लिए मात्र एक भूमिका रही होगी। भगवान् विश्वनाथ ने एक दृश्य रचकर आचार्य शंकर को इस निमित्त प्रेरित किया। अब सच्चे अर्थों में सर्वात्मिक तथा अद्वैत का भाव श्रीशंकराचार्य के मन में जग चुका था। प्राणीमात्र की समानता के मौलिक सिद्धान्तों को व्यावहारिक जगत में उतारने के लिए उन्होंने नवीन व्याख्या दी।

आद्य शंकराचार्य को एक नया बोध हुआ, किसी भी शरीर से घृणा करना उचित नहीं। इस घटना ने उनके जीवन में एक महत्वपूर्ण मोड़ दिया। सभी प्राणियों के अन्दर आधारभूत समानता के सिद्धान्त को नई व्याख्या मिल गई।

आद्य शंकराचार्य ने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया उसके अनुसार सभी पदार्थों से तटस्थ भाव ही सर्वोत्तम योग-स्थिति है। संसार के मिथ्यात्व का चिन्तन ही सर्वोत्तम प्राणायाम है। श्रीशंकराचार्य ने बौद्ध और शैवों की अनेक बातों को त्यागकर उनके मुख्य सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया। आचार्य शंकर का आत्मतत्त्व किसी भी प्रकार के वर्णन, तर्क, इन्द्रियबोध तथा सम्बन्धों से दूर है और सभी प्राणियों में इसकी व्याप्ति समान है। वह तो जातिभेद, पिता, माता, बन्धु, मित्र, गुरु, शिष्य आदि सभी भेदों से ऊपर है। विश्व के सभी दर्शनों के सम्मुख एक सुन्दर उदाहरण रखते हुए वे उस निराकार, निर्विकल्प, आत्मतत्त्व का वर्णन निर्वर्णाष्टकम् में इस प्रकार करते हैं-

“न मृत्युर्न शङ्का न मे जाति भेदः पिता नैव मे नैव माता न जन्मः।

न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥

अहं निर्विकल्पो निराकाररूपोविमुक्तश्च सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणाम्।

न चासंगते नैव मुक्तिर्न बन्धश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥”

(भारत की संस्कृति और कला, पृ० 234)

पंचायतन पूजा पद्धति का प्रारंभ - अर्थात् श्रीशंकराचार्य जी ने उस समय ईश्वर के विभिन्न रूपों के उपासकों के मध्य उत्पन्न हो उठने वाले संघर्षों को समाप्त कर समन्वय स्थापित करने हेतु पंचायतन पूजा पद्धति प्रारंभ की जिसमें शिव, विष्णु, गणपति, सूर्य तथा शक्ति की एक साथ उपासना की व्यवस्था थी। श्रीशंकराचार्य ने करुणावतार बुद्ध को भगवान् विष्णु का नवम अवतार मानकर, समाज के एकीकरण में एक महत्वपूर्ण अध्याय जोड़ दिया। उन्होंने प्रत्यत्पूर्वक,

भगवान् बुद्ध की अनेक शिक्षाओं को मनाननी हिन्दुओं के विचार के साथ समन्वित कर दिया। इन सभी कारणों से समाज का व्यापक भेदभाव तो समाप्त हुआ किन्तु लोग यह कहने लगे कि श्रीशंकराचार्य भी प्रच्छन्न बौद्ध हैं।

आचार्य शंकर ने जोर देकर कहा कि ब्रह्मज्ञान का अधिकार शूद्रों तथा स्त्रियों को भी है। उनके अनुसार, वर्ण और आश्रम जैसी व्यवस्थाएं ब्रह्मज्ञान में बाधक नहीं हैं। वैदिक ज्ञान के सन्दर्भ में आचार्य शंकर ने अनेक उदाहरण (जैसे महाभारत के विदुर और धर्मव्याध तथा उपनिषदों के वाचस्पती के नाम) देते हुये, शूद्रों, स्त्रियों की स्थिति और उनके विशेषाधिकारों की समानता पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि प्रत्येक ज्ञानार्थी के लिये ज्ञान का द्वार उन्मुक्त है तथा ज्ञान की शर्त केवल स्तुति है।

अपने प्रारंभ के जीवन में श्रीशंकराचार्य, आत्मज्ञान का संदेश देते हैं। अद्वैत का दर्शन तथा दृश्य-जगत-मिथ्या का उपदेश देते हैं किन्तु आगे चलकर भक्ति का ही संदेश देते हुए संपूर्ण समाज को जोड़ते हैं। आद्य शंकराचार्य ने सामान्य जन को भी भक्तिमार्ग की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया। तभी तो वे विद्वानों को भी भक्ति का ही मार्ग बतलाते हुए कहते हैं कि अन्तिम समय में यही काम आएगा। ‘चर्पट पंजरिका’ में वे कहते हैं-

“भज गोविन्दम् भज गोविन्दम् भज गोविन्दम् मूढमते  
प्राप्ते सन्निहिते मरणे नहि नहि रक्षति डुकूलकरणे।”

अर्थात्, ‘हे मूढमति लोगों प्रभु का भजन करो, प्रभु का भजन करो, प्रभु का भजन करो, (क्यों कि) मृत्यु निकट आने पर भोग विलास रखा नहीं करेंगे।’ शंकराचार्य ने देवताओं पर इतने सुन्दर काव्यमय मधुर स्तोत्रों की रचना की जिनकी तुलना आज भी दुर्लभ है।

युगद्रष्टा शंकराचार्य ने भारत को एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में देखते हुए, इसको और अधिक मजबूत करने की दृष्टि से देश के चार कोनों पर चार मठों की स्थापना की। पश्चिम में द्वारिका का शारदा मठ, दक्षिण में शृंगेरी मठ, उत्तर में बद्रीनाथ का ज्योतिर्मठ तथा पूर्व में जगन्नाथपुरी के गोवर्धन मठ के रूप में इनको हम देखते हैं। राष्ट्रीय एकता के महान शिल्पी श्रीशंकराचार्य के करोड़ों अनुयायियों के साथ ये मठ आज भी विद्यमान हैं। देश के चारों कोनों पर इन चार मठों को स्थापित कर एक ओर वे देश को जोड़ रहे थे वहीं उन्होंने संन्यासियों की दस श्रेणियां

(दशनामी) बनाकर हिन्दू समाज को अनुशासन एवं आवश्यकता पड़ने पर 'मघर्ष-मिद्ध' करने का भी स्तुत्य प्रयास किया।

निम्नतम जानियों और स्त्रियों के अधिकारों तथा वर्ण के आध्यात्मिक मिद्धान्तों (जिनमें महत्व जन्म का नहीं वरन् आध्यात्मिक स्थिति का है) पर आचार्य शंकर ने जोर दिया। रुढ़िवादी धर्म-सम्प्रदायों के विरोध तथा कुत्सित प्रयामों के वावजूद आचार्य शंकर ने एक महान धर्म सुधार का सूत्रपात देश में किया।

यदि 32 वर्ष की छोटीसी उम्र में ही श्री शंकराचार्य जी की असामयिक मृत्यु न हुई होती तो दशनामी संन्यासियों तथा चारों मठों के एक साथ प्रारम्भ हुए प्रयामों के फलस्वरूप, समूचे भारत की आध्यात्मिक तथा सामाजिक एकता आगे चलकर, संगठित राजनीतिक चेतना को योग्य दिशा निर्देशन कर, भारत के ऊपर हो रहे बाह्य आक्रमणों को पराजित करने में निश्चय ही सफल हो जाती। इतिहास इस बात का साक्षी है कि इतना समय बीतने के पश्चात् आज भी आद्य शंकराचार्य द्वारा स्थापित इन व्यवस्थाओं ने राष्ट्रीय एकात्मता हेतु महत्वपूर्ण योगदान किया है।

॥ ॐ ॥

## आजीवक, सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय

भारतीय अध्यात्म जगत में आजीवक, सिद्ध तथा नाथ विचार दर्शनों ने दीर्घकाल तक सम्पूर्ण देश में अपना प्रभाव बनाए रखा। आजीवकों की परंपरा तो भगवान् बुद्ध से भी प्राचीन थी वहीं सिद्ध लोगों का विचार बौद्ध दर्शन की देन था तथा नाथपंथी लोग योगी मत्स्येन्द्र नाथ और योगी गोरखनाथ की योग माधना को लेकर चल रहे थे। इन तीनों ही दर्शनों ने हिन्दू समाज के अन्दर सभी प्रकार के भेदभावों के विरुद्ध जमकर संघर्ष किया। इन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था की रूढ़ियों एवं मानवीय भेदभाव को अमान्य कर दिया। हिन्दू समाज की सभी जातियों एवं वर्गों को साथ लेकर हजारों नाथ योगियों का इस्लाम के विरुद्ध संघर्ष रोचक तथा रोमांचकारी है।

\* आजीवक सम्प्रदाय-(ई० पू० छठी शताब्दी से - ई०सन् चौथी शताब्दी तक)

बौद्ध दर्शन का विकास होने पर इसमें भी जटिलताएं तथा कर्मकाण्ड बढ़ता चला गया। यद्यपि महायान, हीनयान, वज्रयान तथा सहजयान आदि धम्म की जटिल परम्पराओं से मुक्ति के प्रयास हेतु ही बन रहे थे किन्तु जन सामान्य की कठिनाइयाँ और भेदभाव वैसा ही हो गया। भगवान् बुद्ध के आविर्भाव के समय से ही देश भर में सनातन ब्राह्मणों, शूद्रों तथा पिछड़ी जातियों का संघ, आजीवक सम्प्रदाय भी चल रहा था। आजीवक सम्प्रदाय के नेता मन्वलि गोसाल, भगवान् बुद्ध तथा महावीर के समकालीन ही कहे जाते हैं। आजीवक सम्प्रदाय की स्थापना नन्दवच्छ ने की थी। आगे चलकर किम-समकिच्च और मन्वलि गोसाल इसके नेता हुए। पाणिनि ने उन्हें परिव्राजक कहा है। एक समय आजीवकों का प्रभाव, पश्चिम में सौराष्ट्र से लेकर पूर्व में अंग देश (उड़ीसा) तक था। इनका प्रभाव इतना था कि अशोक जैसे सम्राटों का समर्थन भी इन्हें प्राप्त हो सका।

इस सम्प्रदाय ने भी यही कहा कि मनुष्य-मनुष्य में भेद मानना उचित नहीं है। आजीवकों को ब्राह्मण-शास्त्रों तथा सवर्ण व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करने के साथ-साथ, बौद्धों की कुरीतियों से भी संघर्ष करना था। इन आजीवकों में शिल्पकार, दस्तकार, व्यापारी तथा बड़ी संख्या में कुम्हार आदि छोटी कही जाने वाली

जातियाँ सम्मिलित हो गयीं। आजीवक लोग, ज्ञान-विद्या और सदाचार को एक गतिशील वस्तु मानते थे तथा कहते- मुनने की मौखिक परम्परा में विश्वास करते थे। अतः उन्होंने शास्त्र, मूर्ति, मन्दिर तथा रुढ़िगत परम्पराओं आदि में विश्वास नहीं किया। आजीवक पथ ने मनुविचार के भीतर से विचार को निरन्तर उत्पन्न करने वाली जीवित संस्कृति को आधार दिया। आजीवकों का उल्लेख हम सुतपिटक, दिघ्निकाय, जैन आगम ग्रंथों की टीकाओं (चूर्णिका) में तथा तीसरी शताब्दी में लिखे गये वायुपुराण में भी पाते हैं।

\* सिद्ध परम्परा (ई. सन् 600 से ई. सन् 1100 तक)

आजीवकों के पश्चात् हम इस देश में सिद्धों की एक सशक्त परम्परा को देखते हैं। कभी-कभी ऐसा लगता है कि सिद्ध वागी बौद्ध हैं। बौद्ध रुढ़ियों में इनको आस्था नहीं है। स्वभाव से वे शास्त्र, ब्राह्मण तथा संस्कृत भाषा के पक्ष में नहीं हैं। चौरासी सिद्धों का लम्बा इतिहास है। उनके लिये घर और वन सब एक है। बौद्ध धर्म के महायान ने क्रमशः मंत्रयान का रूप धारण कर लिया। तंत्र, मंत्र, योग समाधि आदि का सहारा लेकर ये प्रचारक आगे चल कर सिद्ध कहलाये। मंत्रयान का केन्द्र दक्षिण का श्रीपर्वत था। सिद्धों का प्रभाव सारे देश पर, विशेष रूप से उत्तरी भारत में अधिक पड़ा। इन सिद्धों ने अवतारवाद का खण्डन किया परन्तु परमसत्य स्वरूप, शून्यरूप, अलख निरंजन की साधना का सहज-मार्ग लोगों के सम्मुख रखा। कुछ सिद्धों ने निर्गुण-ब्रह्म की साधना को ही आगे बढ़ाया।

ई०सन् 950 से 1200 के मध्य सिद्धों की इस परम्परा ने दूर-दूर तक विस्तार पाया। वैसे तो सिद्धों का प्रचार पूरे देश में था किन्तु पूर्वी प्रान्तों विशेषकर बंगाल, बिहार, उड़ीसा, कामरूप, तिब्बत आदि स्थानों पर उनकी प्रसिद्धि अधिक थी। इनमें सरहपा के अतिरिक्त लुइपा, कान्हापा, जालन्धरपा, शबरपा तथा मीनपा प्रसिद्ध हैं। सिद्धों की यह परम्परा पंजाब से लेकर तमिलनाडु तक मिलती है।

सिद्धों ने स्थानीय जनभाषा में रचनाएँ कीं तथा जातिगत भेदभाव को पूर्ण रूप से अस्वीकार कर दिया। सिद्धों की कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं।

\* तथाकथित छोटी जातियों से उनका लगाव अद्भुत है। उनका सारा जुड़ाव, दलित-शूद्र कही जानी वाली जातियों से ही अधिक है।

\* सिद्ध, श्मशान साधना करते हैं तथा इनके जीवन में एक अनोखी अंधार मस्ती है।

\* सिद्धों का सारा संघर्ष ब्राह्मणों-श्रमणों की भेदभाव पूर्ण प्रवृत्ति (संकीर्णता) से और संस्कृत भाषा से है।

\* वे ईश्वर में आस्था रखते हैं किन्तु वेद-शास्त्र नहीं पढ़ते। सिद्ध लोग मंत्र नहीं बोलते किन्तु कविताएँ गाते हैं और विविध राग-रागिनियों में अपनी बात कहते हैं।

चौरासी सिद्धों का यह आन्दोलन, श्रमण तथा ब्राह्मण जटिलताओं में संघर्षरत चैतन्य-साधु-समाज का विचित्र आन्दोलन है। सिद्धों का उद्भव, उस समय, समाज की परिस्थितियों में से हुआ था। सिद्ध लोग, जानिगत भेदभाव को नहीं मानते थे किन्तु पूजा-अर्चना करके क्षमताएँ अर्जित करने में उनका विश्वास था।

ये आचार्यगण (सिद्ध) सहजावस्था प्राप्त कर महामुख अनुभव की चर्चा करते हैं। योग साधना के द्वारा सहजावस्था को प्राप्त करने वाला साधक ही 'अवधूत' कहा जाता है। भूसुकपाद सहजानंद-लीला से स्वयं के साक्षात्कार में ही महामुख का अनुभव करते हैं-

“भूसुक भनइ मइ दूझि अकेलें।

सहजानंद महासुख लीलें॥” (कबीर, पृ. 32)

इन लोगों का वाह्य अनुष्ठानों में कोई विश्वास नहीं था, ब्राह्मण, याज्ञिक, त्रिदंडी, जटाधारी आदि सभी का वे उपहास करते थे और किसी प्रकार की पूजा-अर्चा में विश्वास नहीं करते थे। उनका मानना था कि भला ध्यान-धारणा में, पूजोपचार में और शास्त्र पाठ से कहीं मुक्ति होती है?

“मोख कि लब्धइ ज्ञान पविट्ठा।

किन्तह किज्जइ किन्तह णिवेज्जं

किन्तह किज्जइ किन्तह सेव्वं।” (कबीर, पृ. 33)

\* सिद्ध सरहपा-(ई०सन् 750 के लगभग)

आठवीं शताब्दी में एक प्रसिद्ध सिद्ध सरहपा हो गये हैं। वे जन्मना ब्राह्मण थे तथा वेद-वेदाङ्ग के निष्णात पंडित थे। उन्होंने त्रिपिटकों का भी गंभीरता पूर्वक अध्ययन किया और आश्चर्य की बात यह रही कि जब बौद्ध-मत अपने पतन की ओर था तब वे बौद्ध-मत में दीक्षित हो गये। सिद्ध सरहपा नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्य थे। वहाँ उन्होंने महान रसायन वैज्ञानिक नागार्जुन को रहस्यवादी

दर्शन तथा रमायन विद्या की दीक्षा दी थी। उन्होंने उस समय की जाति व्यवस्था को नकारने हुए शूद्र कन्या से विवाह किया तथा भील जाति के शबरपा को अपना प्रधान शिष्य बनाया। उन्होंने जीवन भर, वाह्याचार, दिशा-विहीन शास्त्र ज्ञान, पाषण्ड, भावहीन पूजा, डोंग तथा जानिगत भेदभाव का खण्डन किया। वे हिन्दी साहित्य के प्रथम कवि थे। राहुल मांकृत्यायन ने इनकी एक दर्जन पुस्तकों की सूची दी है। रहस्यवादी कवियों में सबसे प्राचीन महर्षा सिद्धाचार्य ही थे। कुछ लोग उन्हें आदि सिद्ध या सिद्धनाथ पंथ का संस्थापक भी मानते हैं।

महर्षादे ने महासुख की अनुभूति के बारे में अपने चित्त को सम्बोधन करके कहा है कि- 'ऐ मेरे चित्त, वहाँ चलकर विश्राम करो जहाँ सूर्य तथा चन्द्र की भी गति नहीं, जहाँ मन और पवन भी संचरित नहीं होते-'

“जहि मन पवन न संचरइ रवि शशि नाह पवेश।

तहि वट चित्त विश्राम करु सरहें कहिअ उवेश॥” (कबीर, पृ. 33)

यह जो 'महासुख' है वह वाणी के वर्णन से परे है इस कारण भगवान् बुद्ध भी इस वर्णन के विषय में मौन रह गए। 'यह सुखराज ही सार है, यही शून्यावस्था है; क्योंकि न इसका आदि है न अन्त है न मध्य है। न इसमें अपना ज्ञान रहता है न पराए का। न यह जन्म है न मोक्ष, न भव, न निर्वाण। इसी अपूर्व महासुखराज को सरहपाद ने कुछ इस प्रकार कहा है-'

“आइ न अंत न मज्जा नउ नउ भव नउ णिन्वाण।

एहु सो परम महासुह नउ पर नउ अप्पाण ॥”

(कबीर, पृ. 67)

सिद्धों की इन वाणियों से संत कबीर का बड़ा भारी संबन्ध है। संत कबीर भी स्थान-स्थान पर यही भाषा बोलते हैं। आगे चलकर हम देखेंगे कि ये सिद्ध-साधक अपनी साधना पद्धति के आधार पर धीरे-धीरे नाथपंथियों के निकट बढ़ने चलते हैं। नाथपंथ के अवधूतों तथा सिद्धों में बड़ा साम्य है।

\* **नाथ सम्प्रदाय** (ई. सन् 1000 से ई. सन् 1600 तक प्रभावी भूमिका)

सिद्धों की परम्परा में ही महानयोगी तथा तत्त्वज्ञानी के रूप में योगी मत्स्येन्द्रनाथ तथा योगी गोरखनाथ पैदा होते हैं। देखते ही देखते, सैकड़ों नाथ-योगियों की एक बड़ी परम्परा सम्पूर्ण देश में खड़ी होती चली गई। सिद्ध साधकों में

में ही कुछ मंत्रायान के एवं कुछ वज्रयान के प्रचारक हो गए थे। आगे चलकर वज्रयानी सिद्ध परम्परा में से ही एक नया पंथ विकसित हो गया जो नाथपंथ के नाम से प्रसिद्ध है। इसके प्रवर्तक योगी मत्स्येन्द्रनाथ (आविर्भाव काल ई० मन् 11वीं शताब्दी का मध्य या उत्तरार्ध) तथा इनके शिष्य योगी गोरखनाथ हो गये हैं। इन्होंने अपनी आराधना पद्धति में अनेक बातों का समावेश किया। इन नाथयोगियों ने अष्टांग-योग-साधना को अपना लिया। शरीर को साधनोपयुक्त बनाने के लिए कष्ट साध्य हठयोग का भी महारा लिया। मानव शरीर में स्थित कुण्डलिनी, इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि नाडियों को जागृत करके 'अनहदनाद' मुक्त करने के अपने अनिर्वचनीय सुख की प्राप्ति को ही उन्होंने जीवन का परम-लक्ष्य स्वीकार किया।

सामाजिक समस्याओं के लिए योगी गोरखनाथ ने 'भागीरथ - प्रयत्न किए। जातिगत भेदभाव को उन्होंने पूर्ण रूप से अमान्य कर दिया। राजा - प्रजा, धनी - निर्धन, पण्डित - मूर्ख, मदाचारी - कदाचारी, पुरुष - नारी, ब्राह्मण - चाण्डाल, समाज नेता - समाज बहिष्कृत सबके निकट जाकर, समान भाव से वे धर्म की शिक्षा देते थे। त्रिपुरा की राजमहिषी भयनामति, गुरु गोरखनाथ की शिष्या थी। वहीं डोम का काम करने वाला तथा उस काल के हिसाब से अति निम्न समझा जाने वाला हाड़ी सिद्ध भी उन्हीं का शिष्य था। महाराजी भयनामति ने डोम हाड़ी को अपना गुरुभाई मान कर सम्मान किया तथा अपने पुत्र गोविन्दचंद्र को उनका शिष्य बनने को कहा। गोविन्दचंद्र बाद में हाड़ी सिद्ध के शिष्य गोपीचंद्र के नाम से विख्यात हुए।

सिद्धों तथा नाथों का अभिन्न सम्बन्ध है। अनेक सिद्धों के नाम, नाथों की सूची में भी हैं। अभी तक, धर्मपंथों तथा ब्राह्मणों की संकीर्णता से इनका संघर्ष चल रहा था किन्तु अब आगे संघर्ष के आयाम कुछ बदल जाते हैं।

**इस्लाम का चौरफा आक्रमण** - बारहवीं शताब्दी से इस्लाम की प्रबल शक्ति का भारत में आक्रमण होता है। इसके साथ ही धार्मिक संकीर्णता, भाषा, शास्त्र, शास्त्र-धर्म-परिवर्तन और सबसे बड़ी घटना फकीरों का आगमन हुआ। पूरे भारत को इस आतंककारी चुनौती का सामना करना पड़ता है। फकीर लोग सम्पूर्ण भारत में फैल गये और वे यहाँ के भोले-भाले लोगों को समझाते हैं कि हजारों देवी-देवता या एक अल्लाह, जातिगत भेदभाव या इस्लाम का प्रेमपूर्ण व्यवहार,

छुआछूत या आदमी तथा आदमी के बीच बराबरी का रिश्ता. पूजा के नाम पर होग-कर्मकाण्ड या इस्लाम की मीथी-मच्छी पूजा पद्धति? अन्याचार, आतंक तथा अन्याय के प्रतीक. मुस्लिम शासन के संरक्षण में ये फकीर अपना काम कर रहे थे। फकीरों तथा मुस्लिम शासकों का मिलकर उद्देश्य एक ही था कि किस प्रकार पूरे भारत को इस्लाम में बदल दिया जाय। यह संघर्ष बड़ा विचित्र था। अजमेर शरीफ, दिल्ली तथा फतेहपुर सीकरी आदि स्थानों की दरगाहें, मुस्लिम आक्रमणकारियों के साथ काम कर रहे उन्हीं फकीरों की हैं।

नाथ-योगी धार्मिक जागरण में निकल पड़े - नाथ-योगियों ने इस्लाम की मार और प्यार की इस खतरनाक चुनौती को भली प्रकार समझा। नाथ-योगियों ने इन फकीरों और पीरों के पसरते हुए प्रभाव को पहचान कर, घर-घर अलख जगाने का कार्य अपने हाथ में ले लिया। नाथों ने जातिगत भेदभाव को कोई स्थान नहीं दिया। नाथ-योगी गाँव-गाँव में प्रातःकाल घूमकर, 'अलख निरंजन' (अदृश्य परमेश्वर) की अलख जगाने लगे। प्रतिदिन 3-4 ग्रामों में फेरी लगाते तथा बैरवी गाते जोगी(योगी), साधक भी हैं तारक भी हैं। कविता, कथा, संगीत, भिक्षा, तप, तन्त्र, चमत्कार तथा आरोग्य (रोग-मुक्ति) आदि के संदेश द्वारा वे एक धार्मिक तथा समरसता का रोमांचकारी वातावरण बना देते हैं। जो अलख है वही राम है, "तातें गोरख राम रसैला" (इस कारण गोरखनाथ ने राम की शरण ले ली है)। वे अलख जगाने की पद्धति के अनुसार ब्रह्म-मुहूर्त में बैरवी गाते हैं, ये सभी जोगी योगी कहलाये। ये जोगी आराधक हैं, विलासी हैं, तथा चमत्कारी भी हैं। जुलाहा, कोरी, तेली, दस्तकार, आदि श्रमजीवी जातियों में उन्होंने बहुत अच्छा स्थान बनाया।

वेदान्त की धारा का ही सहारा लेकर किन्तु जातिगत भेदभाव से दूर रह कर नाथ-सम्प्रदाय के योगी, हजारों की संख्या में, गाँव-गाँव में घूमते हैं तथा इस्लाम के आक्रमण से सन् 1000 से सन् 1600 तक जमकर संघर्ष करते हैं। उस समय की जटिल सामाजिक परिस्थिति के कारण लाखों लोग उपेक्षित और वंचित थे, नाथ उन्हें साथ ले लेते हैं। नाथों ने सभी को जोड़ने का प्रयास किया है।

हिन्दू समाज के अन्दर ब्राह्मण, संन्यासी तथा योगी को पूज्य माना गया था किन्तु संन्यासी अथवा योगी विवाह करके यदि गृहस्थी बसा लेते थे तो वे आश्रम-

नाथ या विगड़े माधू कहलाते थे। आश्रम-भ्रष्ट संन्यासी या भ्रष्ट-योगी को बहुत ही दंड दृष्टि में देखा जाता था। इन भ्रष्ट-संन्यासियों की संतति भी अस्पृश्य मानी गयी थी। ये संतति किसी आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं आती थी। हिन्दू ऐसे लोगों को अपने साथ नहीं रखते थे। इनका सामाजिक वहिष्कार कर दिया जाता था। सर्वप्रथम इन्हें नाथों ने ही शरण दी। धीरे-धीरे इनमें से अधिकांश जातियाँ नाथमत में विदीन हो गईं। सर्वप्रासी हिन्दू समाज ने अब उन्हें पूर्ण-रूपेण आत्मसात् कर लिया है। आज भी ऐसी अनेक जातियाँ जैसे-नट, बहेलिया, सपेरा, यति, चरिया, भगत, जोगी, नचनी, कथिक, मंगता आदि की जनसंख्या लाखों में है। ये भजनों पर तो जानें हैं किन्तु अपने आपको योगी गोरखनाथ का शिष्य भी मानते हैं। इनका निकाह तो होता है किन्तु 'अल्लाह-ओ-अकबर' नहीं बोलते वरन् भांगी लेकर शिव के भजन गाते हैं और भर्तृहरि की समाधि पर भेंट चढ़ाने जाते हैं। ये सभी शिवभक्त हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाथों ने इनको इस्लाम में पूरी तरह जानें से रोका हुआ है। नाथों ने जातिगत विषमता को नहीं माना। गोरखपुर नाथ के महन्त श्री अवैद्यनाथ जी तथा योगी आदित्यनाथ जी उसी परम्परा के हैं। योगी गोरखनाथ के योगमार्ग में गुरु की महिमा का पर्याप्त वर्णन है। गुरु के अन्दर सभी श्रेष्ठताएँ विराजित रहती हैं तथा केवल अवधूत ही गुरु-पद का अधिकारी हो सकता है-वह अवधूत जिसके वाक्य-वाक्य में वेद निवास करते हैं, पद-पद में तीर्थ वसने हैं, प्रत्येक दृष्टि में कैवल्य या मोक्ष विराजमान होता है, जिसके एक हाथ में त्याग है और दूसरे हाथ में भोग और फिर भी जो त्याग और भोग दोनों में अलिप्त है। गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह में महामहिम गोपीनाथ कविराज लिखते हैं-

“वचने वचने वेदास्तीर्थानि च पदे पदे।  
दृष्टौ दृष्टौ च कैवल्यं सोऽवधूतः श्रियेऽस्तु नः॥  
एकहस्ते धृतस्त्यागयोगोऽश्वैककरे स्वयम्।  
अलिप्तस्त्यागयोगाभ्यां सोऽवधूतः श्रियेऽस्तु नः॥”

(कबीर, पृ. 37)

मन्त्रा अवधूत वह है जो वर्णाश्रम से परे है तथा ममस्त गुरुओं का नाशान् गुरु है. न उसमें कोई बड़ा है और न बराबर-

“अतिवर्णाश्रमी साक्षात् गुरुणां गुरुच्यते ।

न तत्समोऽधिको वारिमन् लोकैस्त्येव न संगयः ॥”

(कबीर, पृ. 37)

इसका अर्थ यही है कि नाथपंथ को मानने वाले लोग सभी प्रकार के जाति-वर्ण आदि के भेदभावों से सदा दूर रहे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नाथ-योग-साधना के अनुसार पक्षपातविनिर्मुक्त योगेश्वर को ही 'नाथ-पद' की प्राप्ति संभव है। पक्षपात रहित होने से अर्थ है कि ब्राह्मणत्व आदि के अभियान से रहित रहना। इस प्रकार गोरखपंथी लोगों का मानना है कि वर्ण तथा आथर्माभिमान वाले किसी को भी गुरु नहीं बनाया जा सकता।

नाथमत का देशव्यापी प्रसार - देश की उस समय की कठिन परिस्थितियों में नाथमत के योगी अपनी योगसाधना लेकर देश के कोने-कोने में फैल गए। उनर से दक्षिण तक तथा पूर्व से पश्चिम तक देश के प्रत्येक प्रांत में हम इन्हें पाते हैं। समाज के सभी प्रकार के भेद-भावों से दूर रह कर वे योग-साधना तथा भक्ति का प्रचार करते हैं और अलग जगते हुए हिन्दुत्व की रक्षा भी करते हैं।

मराठी के आदि कवि श्री मुकुन्दराज (ई. मन्. 1128 - 1200) ने अपनी गुरु परम्परा आदिनाथ से ही मानी है। महाराष्ट्र के निवृत्तिनाथ, जैनेश्वर, सोपान तथा मुक्ताबाई तो नाथपंथ में ही दीक्षित हुए थे। सिक्खपंथ या नानकपंथ के प्रवर्तक श्रीगुरु नानकदेव ने 'गोरखहट्टी' में नाथयोगियों से जानचर्चा की है। उन्होंने गोरखनाथ के शिष्य 'लोहारीणा' तथा 'चरण' का उल्लेख किया है। नाथयोगियों से उनकी चर्चा 'सिख-गोष्ठी' के नाम से विख्यात है। मल्ल कबीर (मम्वन्. 1456-1575) से प्रारम्भ होनेवाले निर्गुण सन्त-मत को नाथपंथ का विकसित रूप माना जाता है। कबीरदास को योग भी इसी परम्परा से मिला है। कबीरदास की योगी गोरखनाथ के प्रति अनन्य श्रद्धा है, वे गोरखनाथ की भक्ति से प्रसन्न हैं:-

“गोरखनाथ न मुद्रापरिहरी मस्तक नहीं मुड़ाया ।

ऐसा भगत भया भू ऊपरि गुरु पै राज छुड़ाया ॥”

(कबीर और भारतीय संत साहित्य, पृ. 71)

राजस्थान का सत्त-साहित्य नाथयोग से प्रभावित है। राजस्थान के जसनाथी और निरंजनी सम्प्रदाय योगसाधना को महत्व देते हैं। चित्तौड़ के राणावंश की

दुड़ना, म्वनन्वना हेतु चेतना तथा स्वाभिमान के मूल में भी गुरु गोरक्षनाथ का अजीर्वाद रहना था।

नमिलनाट्ट के मिट्ट और नाथ आपस में मिले-जुले हैं। निरमूलर, नमिल साहित्य के आदि मिट्टकवि हैं। इनकी परम्परा में इराभत्तेवर, कवमुनि, इडैकाडर, नन्वन्नि, वान्मीदि, कंमेलमनि, पोहनादर, मंचमुनि, कोंगणर पंदजवि, नदिनेवर, पोदगुरु, पाम्वादित्तिन, चट्टमुनि, मुन्दरगिन्दसेवर, कुदम्बौचितर तथा कोरवकर आदि की जानकारी मिलती है। नमिलनाट्ट के लोगों का मानना है कि कोरवकर ही योगी गोरखनाथ हैं।

कन्नड़ का 'वीरगैव-सम्प्रदाय' भी नाथमत से पूर्णतः प्रभावित है। कर्नाटक के भक्त वमवेश्वर के गुरु श्रीअल्लम प्रभु या प्रभुदेव भी नाथ सिद्धों की सूची में आते हैं। भक्त वमवेश्वर ही आगे चलकर वीरगैव मत को पुनर्जीवन प्रदान करते हैं। उड़िया भाषा में नाथ साहित्य की रचना पर्याप्त हुई है। उड़ीसा के सभी जिलों में नाथमत के अनुयायी मिलते हैं। ओड़िया में नाथयोग की प्राचीनतम पुस्तक योगी गोरखनाथ रचित शिशुवेद मानी जाती है। इसकी रचना बारहवीं शती में हुई होगी, इसको वे पंचम वेद भी कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाथ परम्परा, पूरे देश में फैल गयी थी। यह बहुत प्रभावी है तथा जनमानस पर अपनी पकड़ बनाये हुए है।

नाथयोगियों की खेचरी मुद्रा साधना- नाथयोगी अनेक प्रकार की योगिक साधना करते हैं उसमें एक खेचरी मुद्रा साधना भी है। इस साधना में योगी, जीभ को ऊपर की ओर उलट कर कपाल-कुहर में प्रवेश कराता है तथा उसकी दृष्टि भ्रवों में केंद्रित हो जाती है। साधना तथा अभ्यास के पश्चात् ही ऐसा संभव हो पाता है। इस योगमुद्रा का विशेष रूप व्योमचक्र भी कहलाता है। ब्रम्हरन्ध्र के महान्नार पदम के मूल में त्रिकोणात्मक शक्ति का केन्द्र है वही चन्द्रमा का स्थान भी है। इसमें से सदा अमृत झरना रहता है, इसी स्थान को योगी भी कहते हैं:-

“ब्रह्मरंघ्रे हि यत्पदं सहस्रं व्यवस्थितम् ।

तत्र कंदे हि या योनिः तस्याः चन्द्रो व्यवस्थितः ॥

त्रिकोणाकृतिस्तस्याः सुधा क्षरति सततम् ।”

(कबीर, पृ. 49)

इस योगिक क्रिया में साधक अपनी आयु बढ़ाते हैं तथा इमको 'गोमांस-भक्षण' कहा गया है। हठयोग प्रदीपिका में इस योगिक क्रिया का वर्णन करते हुए कहा गया है कि खेचरी मुद्रा में योगी की ऊर्ध्वांग जित्वा उसी अमृत-रस का पान करती रहती है। यही अमृत सोमरस है जिसका पान कर सकनेवाला योगी अमर हो जाता है -

“गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।  
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकः ॥  
'गो' शब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।  
गोमांस-भक्षणं तत्तु महापातक नाशनम् ॥  
जिह्वा-प्रदेश-संभूताः बहिर्नोत्पादितः खलु ।  
चंद्रात्स्रवति यः सारः स्यादमरवारुणी ॥”

(कबीर, पृ. 49)

अर्थात्, जो नित्य गोमांस का सेवन करता रहता है और ऊपर से अमर-वारुणी नामक मदिरा का पान करता रहता है वही योगी कुलीन माना जाता है। और योगी तो कुलघातक है, क्योंकि 'गो' का अर्थ जिह्वा है और उसे उलटकर तालू-देश में ले जाने को ही गोमांस-भक्षण कहते हैं। निःसंदेह यह महापातक को नाश करने वाला है। ऊपर जिस चन्द्रमा से, निर्जीरित सोमरस की चर्चा की गई है, वही अमर-वारुणी है।

सन्त कबीर ने भी कहा है कि जो योगी यह दो कार्य नहीं करते उन्हें कुलीन कैसे कहा जाय? इसी रस का पान करने के लिए वे योगी अवधूत बनकारते हैं-

“अवधू, गगन मण्डल घर कीजै ।  
अमृत झरै सदा मुख उपजै, वंकनलि रस पीजै ॥”

(वही, पृ. 49)

योगशास्त्रों में इस 'खेचरी मुद्रा' को ही महत्वपूर्ण माना गया है। हठयोगप्रदीपिका में इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि-

“एकं सृष्टिमयं बीजं, एक मुद्रा च खेचरी ।  
एको देवो निरालंबः, एकावस्था मनोन्मनी ॥”

(वही, पृ. 49)

अर्थात् 'एक ही सृष्टिमय बीज है, एक ही खेचरी-मुद्रा है, एक ही देव देव है और एक ही मनोन्मनी अवस्था अवस्था है।' खेचरी मुद्रा का अभ्यास करने वाला योगी अपनी आयु आश्चर्यजनक रूप से बढ़ा लेता है। किन्तु दुःख की वान यह है कि इस योग-साधना के भाव को बिना समझे, केवल शब्दों के आधार पर अपने अनुसार अर्थ निकालते हुए हिन्दू दर्शन के आलोचकों ने पुस्तकें छापकर मिथ्या प्रचार प्रारम्भ कर दिया कि प्राचीन काल में ये आध्यात्मिक साधना करने वाले लोग गोमांस खाते थे।

नाथमत के लोग आगे चलकर, सन्त परम्परा की ओर बढ़ते हुए लिखते हैं। नाथमत की जनता में लोकप्रियता कम हुई और उसी समय दक्षिण की वैष्णव भक्ति के प्रवर्तक के रूप में आचार्य राघवानन्द तथा स्वामी रामानन्द जैसे समन्वयशील महात्मा लोग उत्तर भारत में आगे आ गये। इसी समय, नाथमत तथा वैष्णव-भक्ति के समन्वय से नवीन दर्शन विकसित हुआ तथा इस योग-भक्ति-समन्वित मत को ही संतमत के नाम से जाना गया। नाथ और सन्त दोनों ही भक्ति को अपना आधार मानते हैं। नैतिक तथा सामाजिक जीवनमूल्यों के लिये दोनों में बहुत समानता है। जातिगत भेदभाव को दोनों ही व्यर्थ मानते हैं। बाह्याचार का खण्डन, पुस्तकज्ञान तथा शास्त्रज्ञान की अपेक्षा अनुभव और प्रत्यक्ष दर्शन पर अधिक विश्वास करते हैं। जातिव्यवस्था द्वारा जो भेदभाव उत्पन्न हो गया है वह नाथों और सन्तों दोनों को कष्ट देता है। इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से समझना चाहिये कि नाथपंथ, वर्णाश्रम तथा जातिव्यवस्था विरोधी, सांस्कृतिक परिवर्तन धारा की एक महत्वपूर्ण कड़ी है जो आगे चलकर भारतीय सन्त-परम्परा के नवीन स्वरूप में परिवर्तित होती दिखती है।

॥ ॐ ॥

अच्छे कार्यो में ईश्वर स्वयं रहते हैं। फिर कार्य करने वाला कोई भी क्यों न हो। उनकी इस व्यापक भावना ने सामाजिक मद्भावना तथा महिष्णुता को जन्म दिया और वर्ण, जाति के भेदभाव में दूर आदर्श समाज व्यवस्था निर्माण करने के प्रयास किये।

श्रीरामानुजाचार्य अपने काल के अत्यन्त विद्वान्, साहसी तथा सामाजिक दृष्टिकोण से उदार धार्मिक, पथप्रदर्शक थे। आद्य शंकराचार्य की तरह आप भी भाग्य की यात्रा में काशी, अयोध्या, वद्रीनाथ, जगन्नाथपुरी, द्वारिका आदि तीर्थस्थलों पर अपने आध्यात्मिक तथा सामाजिक विचारों को लेकर गये। मनुष्य-मनुष्य को समान मानने के उनके इस मानवीय गुण की स्वामी विवेकानन्द ने हृदय से प्रशंसा की है। उन्हीं की शिष्य परम्परा में श्रीरघवाचार्य हुए तथा इनके शिष्य काशी के स्वामी रामानन्द थे।

चोल साम्राज्य के अन्तर्गत रहते हुए एक दिन श्रीरामानुजाचार्य के मार्ग में, नामनें शूद्र कन्या आ गई। श्रीरामानुजाचार्य ने उसको दूर हटने को कहा तो वह शूद्र कन्या कहती है कि - 'महाराज मैं किस दिशा में जाऊँ ? मुझे तो चारों दिशाओं में सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् प्रभु की उपस्थिति मालूम पड़ती है। सर्वत्र उस प्रभु की पवित्रता विद्यमान है, मैं अपना अपवित्र शरीर लेकर कहाँ जाऊँ ? हे महान् मन्थासी कृपया मेरा मार्गदर्शन तो करिये।' विद्वान् मन्थासी के पास उस शूद्र कन्या के लिए कोई उत्तर नहीं था। कुछ क्षण मौन रहने के पश्चात् वे बोले- 'ओ बेटी! मुझे क्षमा कर दो। मैं अपनी जाति के मिथ्याहंकार में डूबा हुआ था। मेरे ज्ञान पर पर्दा पड़ा हुआ था। तुमने मेरी आँखें खोल दी हैं। मेरे बजाय तुम ईश्वर की सच्ची भक्त हो।' आगे चलकर वह शूद्र कन्या श्रीरामानुजाचार्य के शिष्यों में सम्मिलित हो कर महत्त्वपूर्ण स्थान पर प्रस्थापित हो गई।

श्रीरामानुजाचार्य ने वाल्यावस्था में 'यादव प्रकाश' नामक अद्वैत विद्वान् के यहाँ अध्ययन किया। बाद में अपने गुरु के साथ मतभेद होने पर वे वहाँ से हट गए। इसके पश्चात् वे 'यामुनाचार्य' के शिष्य हो गए तथा श्री सम्प्रदाय की स्थापना की। 'यामुनाचार्य' के वैकुण्ठवास के पश्चात् अपनी असाधारण प्रतिभा और विद्वत्ता के कारण वे वैष्णव मत की गद्दी के उत्तराधिकारी बने।

श्रीरामानुजाचार्य ने पाँच आचार्यों के यहाँ शास्त्रों का अध्ययन किया था। श्री पेरिय नांबी (महापूजा) ही श्रीरामानुज के प्रमुख गुरु थे, यद्यपि ये निम्न जाति के माने जाते थे फिर भी वेदों तथा नालायिर प्रबन्धम् (तमिल वेद) का अध्ययन

## श्रीरामानुजाचार्य

(वि.सं. 1074-1194; ई. सन् 1017-1137)

आज से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व, तमिलनाडु के श्री परम्बदूर नामक कस्बे में श्रीरामानुजाचार्य का जन्म हुआ था। वे जन्म से ब्राह्मण थे किन्तु उन्होंने समाज के पिछड़े वर्ग की पीड़ा का हृदय से अनुभव किया। उनसे महानुभूति की, उस समय की अनुष्ठान पद्धति में यथा सम्भव सुधार किया तथा नई अनुष्ठान पद्धतियों की सृष्टि उन लोगों के लिये की जिनके लिये यह अत्यावश्यक थी। उन्होंने ब्राह्मण में लेकर चाण्डाल तक सभी के लिये सर्वोच्च आध्यात्मिक उपासना का द्वार खोल दिया। यद्यपि इस कार्य के लिये उनको सभी स्थान पर विरोध का सामना करना पड़ा किन्तु न वे डरे, न झिझके और न ही रुके।

श्रीरामानुजाचार्य, सामाजिक दृष्टि से वर्णव्यवस्था के अन्दर किसी भी प्रकार के भेदभाव को स्वीकार नहीं करते थे। चाण्डाल के हाथ से भोजन करने में भी श्रीरामानुज ने संकोच नहीं किया। श्रीरामानुजाचार्य वृद्धावस्था में स्नान करने जाते समय दो ब्राह्मणों के कन्धे पर हाथ रखकर जाते थे और जब स्नान कर वापस आते थे तब दो चर्मकारों के कन्धे का सहारा लेकर आते थे। लोगों ने आपत्ति की तो उन्होंने कहा अरे अपने मन की कलुषता को समाप्त करो। उनका मानना था कि-  
"न जातिः कारणं लोके गुणाः कल्याण हेतवः।"

(श्रीरामानुज चरित, पृ०-232)

अर्थात्, 'जाति नहीं वर्ण गुण ही कल्याण का कारण है। जाति के अहंकार से बड़ा मनुष्य का कोई शत्रु नहीं।' श्रीरामानुजाचार्य ने श्रीरंगपट्टम के उत्तर में मेलुकोट (दक्षिण वदरिकाश्रम) नामक स्थान पर प्रसिद्ध तिरुनारायण परमाल वैष्णव मन्दिर के द्वार पंचमों (शूद्रों से भी दूर कहे जाने वाले लोगों) के लिये खोल दिये। ई.सन् 1099 में, यह मन्दिर श्रीरामानुजाचार्य ने ही बनवाया था। अब्राहमणों को वैष्णव धर्मावलम्बियों के जाति-विहिन तथा जीवन-पद्धति को अपनाने की आज्ञा तथा अनेक अन्य मन्दिरों में सभी के प्रवेश की व्यवस्था भी आपने की।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि धुद्र, निराश्रय मानव भी अपनी भक्ति, समर्पण तथा ज्ञान के सहारे ईश्वर को प्राप्त कर लेता है। उनके अनुसार मनुष्य के सभी

श्रीरामानुज ने उन्हीं के चरणों में बैठकर पूर्ण किया। इन्होंने ही श्रीरामानुज को वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित कराया था।

श्रीरामानुजाचार्य के दूसरे गुरु तिरुक्कोटियूर नांबी (गोष्ठीपूर्ण) थे। यद्यपि वे वर्ण में शूद्र थे किन्तु वेदों के ज्ञान तथा ईश्वर-भक्ति से प्रभावित होकर, श्रीरामानुजाचार्य ने उनसे शिक्षा लेना स्वीकार किया। तिरुक्कोटियूर नांबी ने श्रीरामानुज को पूछा कि- 'मैं तो निम्न कुलोद्भव शूद्र हूँ, मैं तुम जैसे ब्राह्मण का शिक्षक किस प्रकार हो सकता हूँ ?' श्रीरामानुज ने उत्तर दिया, 'गुरुदेव, क्या यज्ञोपवीत पहनने से कोई ब्राह्मण हो जाता है ? जिसकी भक्ति ईश्वर में है, वही सच्चा ब्राह्मण है। महान आलवार भक्त, विविध जातियों के थे किन्तु सभी भगवद्भक्त थे। आप भली प्रकार जानते हैं कि निम्न-कुल में उत्पन्न तिरुम्पान आलवार अपनी योग्यताओं के कारण अनेक ब्राह्मणों लिए भी पूज्य हो गए।' श्रीरामानुजाचार्य की क्षमता तथा भक्ति को देखकर 'तिरुक्कोटियूर नांबी' (गोष्ठीपूर्ण) ने उन्हें पढ़ाना स्वीकार कर लिया।

श्रीरामानुज के गुरु श्री नांबी (गोष्ठीपूर्ण) ने उन्हें अष्टाक्षरी मन्त्र 'ॐ नमो नारायणाय' दिया। इसे गुप्त रखने के लिये भी बतलाया और कहा किसी को बतलादोगे तो नरक में जाओगे। श्रीरामानुज ने गोपुर के ऊपर चढ़कर गौव के सभी जाति-वर्ग के लोगों को एकत्रित कर उच्च स्वर में समझाया, यह मन्त्र है जिससे मुक्ति मिलती है। बाद में गुरु ने कहा पाप लगेगा। श्रीरामानुजाचार्य ने कहा- 'यदि इतने लोग इस मन्त्र से दुःख-मुक्त होते हैं तो मैं नरक में रहना पसन्द करूँगा।'

अपने गुरु 'तिरुमलैयाण्डान' तथा 'आलवन्दार आलवान्' से श्रीरामानुज ने तिरुवायमोलि का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था और 'विरुमलै नांबी' के यहाँ रामायण का अध्ययन किया। इस प्रकार श्रीरामानुज का ज्ञान क्षेत्र बहुत व्यापक था। 23 वर्ष की आयु में गृहस्थी को त्याग कर उन्होंने संन्यास ग्रहण किया तथा मानव समाज को दोषमुक्त एवं गुण-सम्पन्न करने के महत्कार्य में वे लग गए।

**देश भ्रमण तथा साहित्य सृजन** - श्रीरामानुज ने लोकजागरण का आधार भक्ति को ही मान्य किया और भक्ति के प्रचार-प्रसार हेतु व्यापक प्रवास किया। उन्होंने रामेश्वरम् से लेकर बदीनाथ तक की यात्रा की। पश्चिम में महाराष्ट्र से लेकर पूर्व में उड़ीसा होते हुए वे दक्षिण में वापस आ गए। अपने प्रमुख शिष्य 'कुरंतालवार' (कुरेश) को लेकर वे श्रीनगर गए तथा वापस श्रीरंगम् आकर श्री भाष्य लिखने लगे। इसके पश्चात् उन्होंने वेदान्त दीप, वेदान्त सार, वेदार्थ संग्रह,

गीता भाष्य, नित्य ग्रन्थ तथा गद्य त्रयम् (शरणार्थि गद्य, श्रीरंगम् गद्य, श्री वैकुण्ठ गद्य) की रचना की। श्रीरामानुजाचार्य ने आलवार भक्तों में सम्बन्धित नीर्थों की यात्रा पूर्ण की तथा दूसरी बार उत्तर भारत की यात्रा प्रारम्भ कर दी। अजमेर, मथुरा, वृन्दावन, बदीनाथ, काशी होते हुए वे पूरी आ गए तथा वहाँ एक मठ की स्थापना की। दक्षिण भारत के विविध स्थानों पर उन्होंने अनेक मठों की स्थापना की। आलवार भक्तों के प्रबन्धम् को उन्होंने वैष्णव मन्दिरो की उपासना प्रणाली में जो महत्त्व दिया है, उससे प्रबन्धम् के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा का पता चलता है।

आलवार प्रबन्धम् के प्रति श्रीरामानुजाचार्य का समर्पण-श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के मूलम्रोत प्रबन्धम् ही है। श्री नम्मालवार (शूद्र वर्ण के थे) उनकी तिरुवायमोली को ही श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में भक्ति और दर्शन का आधारभूत ग्रन्थ माना गया है। 'श्रीरामानुजाचार्य ने प्रबन्धम् में प्रतिपादित वैष्णव-भक्ति और दर्शन के मूल सिद्धान्तों को अपनी विचारधारा में उचित स्थान दिया और एक प्रकार से प्रबन्धम् के उन्हीं विचारों को युगानुकूल शास्त्रीय विवेचना का रूप दिया।'

(वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन, पृ 240-241)

प्रख्यात लेखक हूपर ने भक्ति की चर्चा करते हुए कहा है कि श्रीरामानुजाचार्य के पूर्व आलवारों ने भक्ति की सुन्दर भूमि तैयार की थी जिसपर श्रीरामानुज ने भक्ति का प्रसार किया। वह लिखता है- "The Alvars provided the soil out of which Ramanuja's teaching naturally sprang and in which later it could bear fruit. He is not really the 'morning star' of the Bhakti movement, that is a name far more fitly given to Alvars; but in him Bhakti shines in the full splendour of great philosophical exposition"

(The Hymns of Alvars, J.S.M. Hooper, page: 7-8)

श्रीरामानुजाचार्य ने अपना केन्द्र मेलुकोट (कर्नाटक) में बनाया था। उनके अनेक शिष्य निम्न कही जाने वाली जातियों के भी थे किन्तु सभी भगवद्भक्त थे। श्रीरामानुजाचार्य के समय भगवान् की रथयात्रा के समय पहले तथाकथित निम्न जाति के लोग ही रथ खींचते थे। वही परम्परा आज भी चली आ रही है। स्मरण रहे कि मलिक काफूर यहाँ की प्रतिमा की सुन्दरता को देखकर इसे अपने साथ दिल्ली ले गया था। श्रीरामानुजाचार्य इस प्रतिमा को पुनः वापस लाये तथा इस कार्य में निम्न कही जाने वाली जातियों ने पूरा सहयोग किया था, इसी कारण रथयात्रा प्रारम्भ होते समय पहले नीची कही जाने वाली जातियाँ ही रथ खींचती हैं, बाद में

अन्य लोगों को यह अवसर प्राप्त होता है।

**बीबी नाचियार** - मेलुकोट के भगवान की वह प्रतिमा जिसका मलिक काफूर उठाकर दिल्ली ले गया था, नवाब की बेटी बीबी नाचियार को बहुत अच्छी लगी और उसने श्रद्धा के साथ उसको अपने पास ही रख लिया। जब श्रीरामानुजाचार्य अपने भक्तों के साथ प्रतिमा को वापस लेकर आये तब नवाब की यह भक्तिन पुत्री बीबी नाचियार भी कर्नाटक आ गयी। वह लड़की भक्तिभाव से प्रभु के सम्मुख नृत्य करती थी तथा भजन गान्ती थी। श्रीरामानुजाचार्य की उदारता के कारण ही मुमकिन लड़की को मन्दिर में प्रवेश मिल सका। नाचियार-अर्थात् नृत्य करने वाली। वह जीवनभर प्रभु की भक्ति में वही मन्दिर परिसर में ही निवास करती रही। मृत्यु होने पर उसकी प्रतिमा मन्दिर में ही स्थापित कर दी गई जो आज भी वहाँ स्थित है तथा भक्ति द्वारा सामाजिक समरमता का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है।

श्रीरामानुज के गुरु, गुरुदेव महापूर्ण ने जब एक शूद्र भक्त के मृत शरीर का संस्कार किया तो अनेक लोगों ने इस कार्य की आलोचना की। महापूर्ण के मंगे सम्बन्धी भी उन्हें छोड़कर चले गये। श्रीरामानुज इस प्रसङ्ग पर दुःखी हो गये, उन्होंने ऐसे आचरण के लिये पूछा तो गुरुदेव ने उत्तर दिया- “वत्स, धर्म क्या है? महाजनो येन गताः स पन्थाः अर्थात्, महापुरुष जिस पथ पर चलते आये हैं, वही सच्चा धर्मपथ है। देवो, तिर्यक योनि में उत्पन्न होने पर भी जटायु का संस्कार श्री रामचन्द्र जी ने किया। युधिष्ठिर धत्रिय होकर भी शूद्र विदुर की पूजा करते हैं अर्थात्, सच्चे ईश्वरभक्तों की कोई जानि नहीं होती है। वे सभी वर्णों में श्रेष्ठ हुआ करने हैं क्योंकि श्रीराम तथा युधिष्ठिर के समान धर्मरक्षकों के द्वारा कभी अनुचित आचरण होना संभव नहीं। मैंने जिन भक्त के शरीर का संस्कार किया है वे मेरी अपेक्षा हजारों गुना अधिक भगवद्भक्ति परगण थे। उनका दासत्व करके मैं स्वयं को कृतार्थ समझता हूँ।”

(श्रीरामानुज चरित, पृ. 233)

**मन्दिरों की पुनर्व्यवस्था** - श्रीरामानुज ने मेलुकोट के मन्दिर निर्माण के पञ्चात् अनेक मन्दिरों का निर्माण करवाया तथा मन्दिरों की संचालन व्यवस्था तथा उपामना पद्धति को संशोधित भी किया। सभी वर्णों तथा जातियों के लोगों को इसमें स्थान दिया गया। श्रीरामानुज द्वारा स्थापित मठों का वैष्णव भक्ति के व्यापक प्रचार में बहुत बड़ा योगदान रहा।

**व्यापक शिष्य परम्परा**- श्रीरामानुज के शिष्यों में सभी जातियों के व्यक्ति

थे। आलवारों की उदार धार्मिक नीति को ही उन्होंने अपनाया। उनके प्रमुख शिष्य 74 माने जाते हैं जो विविध मठों के संचालन में लगे हुए थे और मठकी देखभाल स्वयं श्रीरामानुज करने थे। उनके मार्गदर्शन पर हजारों की संख्या में उनके अनुयायी वैष्णव-भक्ति के प्रचार में लगे हुए थे। श्रीरामानुज के व्यापक धार्मिक दृष्टिकोण तथा उनकी अद्भुत संगठन शक्ति ने वैष्णव आन्दोलन को 12वीं शताब्दी में चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया। इसमें मन्दिर नहीं कि भारतीय धार्मिक इतिहास में श्रीरामानुजाचार्य के समकक्ष किसी दूसरे महान वैष्णवाचार्य के दर्शन नहीं होते।

श्रीरामानुजाचार्य के प्रमुख शिष्य कुरुक्केश (जो कुरुन्तालवान या पिल्लान के नाम से विख्यात थे) ने श्रीरामानुज की प्रेरणा से ही श्री नम्मालवार की निरुवायमोली पर एक बृहद् भाष्य लिखा। श्रीरामानुज ने श्री नम्मालवार की निरुवायमोली के विचारों का ही अनुसरण किया है। सभी विद्वान यह मानते हैं कि श्रीरामानुज के भक्ति विषयक सिद्धान्तों पर आलवारों की विचारधारा का गहरा प्रभाव पड़ा है।

महान समाज सुधारक-उत्तर भारत में 14वीं शताब्दी में स्वामी रामानन्द ने भक्ति का अधिकार सभी को दिया अर्थात् सर्वे प्रपतेरधिकारणो मताः। यह प्रपत्ति शब्द अर्थात् गणगति भाव स्वामी रामानन्द के पास श्रीरामानुजाचार्य की परम्परा से ही प्राप्त होता है। प्रपत्ति शब्द तो आलवारों द्वारा गणगति को दिया हुआ पारिभाषिक नाम ही है। आलवारों में भक्ति के जो लक्षण थे उन्हें अन्य भक्तों के लिए निश्चित करने को श्रीरामानुज ने ‘प्रपत्ति’ शब्द का पुनः प्रयोग किया।

श्रीरामानुज के समय, वेद शास्त्र तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन तथा अध्यापन सभी जाति-वर्णों के लोगों के लिए मुलभ हो गया। अब मामान्य जन के लिए भी आलवार भक्तों के द्वारा लोकभाषा समिल में लिखे गए पवित्र भजन, द्रविड़ वेद अथवा दिव्य प्रबन्धम् के नाम से उपलब्ध थे।

इस प्रकार श्रीरामानुजाचार्य ने अपने 120 वर्ष के दीर्घजीवन काल में हिन्दू धर्म ग्रन्थों की समयानुसृत व्याख्या कर समाज के सम्मुख रखा। अस्पृश्य कहे जाने वाले लोगों के लिए सभी धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन की व्यवस्था की, शूद्रों को मन्दिर के अन्दर प्रवेश दिया तथा मन्दिर की व्यवस्थाओं में भी उन्हें लगाया। शूद्र कहे जाने वाले ग्रन्थों में स्वयं शिक्षा ग्रहण की तथा अनेक शूद्र वर्ग के लोगों को

शिष्य बनाकर आगे बढ़ाया। मुनिम महिला को मन्दिर के अन्दर रहकर पूजा एवं भक्ति करने की अनुमति प्रदान की तथा आध्यात्मिक माधना की पद्धति को सभी लोगों के लिए मुलभ बनाने हेतु व्यापक प्रयत्न किए। उनके द्वारा स्थापित मैकड़ों मठ, आश्रम तथा विद्यालयों के माध्यम से हजारों सन्तों ने देशभर की व्यापक यात्राएं प्रारम्भ कर दी। इस प्रकार उत्तर-दक्षिण के मध्य वैष्णव-भक्ति-केन्द्रों के माध्यम से व्यापक सम्बन्ध स्थापित हो गया।

आज से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व, श्रीगमानुजाचार्य द्वारा किए गए ये प्रयास स्तुत्य थे। इन्हीं प्रयासों के फलस्वरूप भक्ति-आन्दोलन न केवल समाजोन्मुखी हुआ वरन् देशव्यापी भी होने लगा। आगे चलकर, जिस व्यापक भक्ति-जागरण को देश ने एक हजार वर्षों में देखा उसकी चिंगारी श्रीगमानुज ने जगा दी थी।

॥ ॐ ॥

## श्रीस्वामी रामानन्द

(चि. संवत् 1356-1505; ई. सन् 1299-1448)

उत्तर भारत के भक्ति-आन्दोलन में स्वामी रामानन्द का अतुलनीय योगदान है। अमाधाराण व्यक्तित्व तथा चरित्र-बल से समकालीन हिन्दू समाज के ऊपर इनका व्यापक प्रभाव हुआ और सर्वत्र क्रान्ति की लहर फैल गई। स्वामी रामानन्द अपने समय के प्रभावशाली पथ-प्रदर्शक के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। उसकाल के सभी सन्त, इनसे कहीं न कहीं प्रभावित अवश्य हुए हैं। आपका जन्म प्रयाग में हुआ तथा 12 वर्ष की आयु से ही काशी में रहकर शास्त्रों का अध्ययन किया, विवाह नहीं किया और श्रीराघवानन्द से दीक्षा लेकर काशी में पंचगंगा घाट पर तपोमय जीवन प्रारम्भ कर दिया।

परमवैराग्यवान् श्रीरामानन्द जी ने सम्पूर्ण मानवता, देश तथा हिन्दू समाज की रक्षा करने के लिए जीवन पर्यन्त विरक्त रहना ही स्वीकार किया। श्री राघवानन्द जी ने अपने प्रिय शिष्य को आशीर्वाद देते हुए कहा-

“करो पुत्र विमुखों को भक्ति परायण।  
करें सभी श्री रामचरित्र का गायन ॥  
जग जग-कर्त्ता के स्वरूप को पहचाने।  
दुःखद द्वन्द्व से दूर प्रेम रस छाने ॥”

(रामानन्द सम्प्रदाय और साहित्य, पृ. 25)

सैकड़ों माधू-महात्माओं तथा काशी के विद्वानों को साथ लेकर भक्तिजागरण, लोकमंस्कार तथा सामाजिक एकता के महत्त्वकार्य में वे जुट गए। उत्तर भारत, महाराष्ट्र, बंगाल तथा असम के क्षेत्रों तक भक्ति की जो अजस्र धारा बहने लगी उसका श्रेय स्वामी रामानन्द को ही है। उनके विषय में यह उक्ति बहुत प्रसिद्ध है-

“भक्ति दक्षिण ऊपजी लाए रामानन्द”

इस भक्ति-आन्दोलन ने देशभर के हिन्दू समाज के सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में एक नई क्रान्ति का मूजन कर दिया। स्वामी रामानन्द जी की प्रेरणा में खड़े हुए, मंत लोग सामाजिक बुराइयों तथा इस्लाम की कुर अन्धकारी शक्तिके विकरल लोहा लेने के लिए वातावरण तैयार कर रहे थे।

भक्ति-साधना का अधिकार सभी को- उत्तर भारत में, भक्ति के प्रसार हेतु

जैसा उल्लेखनीय और कल्याणकारी कार्य स्वामी रामानन्द ने किया वैसा ही अविस्मरणीय कार्य उन्होंने सामाजिक, पञ्चात्मता के लिए भी किया। स्वामी रामानन्द ने जानिगत ऊँच-नीच की भावना को धर्म के विरुद्ध धोषित कर दिया। उन्होंने स्पष्ट जवाब में आह्वान किया कि ईश्वर की उपासना करने का अधिकार सभी को है-

‘सर्वे प्रपत्तेरधिकारणो मत्ताः’ अर्थात्, ‘ईश्वर के जगणपति के लिए सभी समान अधिकारी हैं।’ “जाति-पैति पूछे नहि कोई, हरि को भजै सो हरि का होई” का मन्त्र देनेवाले स्वामी रामानन्द ने जानिगत भेदभाव दूर करने के लिए केवल प्रवचन ही नहीं दिये वरन् उन्होंने अपना अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करने हुए सभी जानियों के लोगों के अन्दर पञ्चीम हजार शिष्यों की व्यापक शिष्य परंपरा भी खड़ी की। सभी जानियों के लोगों को गुरुमन्त्र देकर दीक्षा दी तथा भक्ति के द्वारा समाज परिवर्तन का नया युग प्रारम्भ कर दिया। आपके शिष्यों में द्वादश शिष्य विशेष कृपापात्र थे। वे हैं- अनन्तानन्द, मुखानन्द, मुरंगनन्द, तरहयानन्द, योगानन्द ये सभी ब्राह्मण थे। संत पीपा (क्षत्रिय), संत कबीर (जुलाहा), संत मेन (साई), संत धन्ना (जाट), भक्त रैदास (चर्मकार) तथा पद्मावती और मुरमरि नामक स्त्रियाँ भी थीं। उनका यह मत था कि ईश्वरभक्ति में सभी मनुष्य समान हैं।

स्वामी रामानन्द का व्यक्तित्व उदार था। उन्होंने समाज में किसी भी प्रकार के वैषम्य को स्वीकार नहीं किया तथा सच्चे अर्थों में वे मानवतावादी मन्त्र हैं। जन्म के आधार पर किसी भी विषमता के कटु विरोधी हैं। उन्होंने सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि में उपेक्षित और शोषित मनुष्यों के उद्धार तथा कल्याण का संकल्प लिया। उनकी दृष्टि में, भक्ति की मलान सभी समान हैं। उस काल में उनके द्वारा लिया गया ऐसा कहा कि ईश्वर की मलान सभी समान हैं। उस काल में तो उचित था ही साथ ही एक सामाजिक संकल्प, कालगत दोषों की दृष्टि में तो उचित था ही साथ ही एक माहसिक कार्य भी था। उन जैसा दृढ़-संकल्पी विचारक ही यह कार्य कर सकता था।

**भक्तिभाव के सगुण-निर्गुण दोनों रूप** - उनके शिष्य, निर्गुण एवं सगुणोपासना के साथ ही विविध प्रकार की साधनाओं वाले भी थे। स्वामी रामानन्द के गुरु में आने में सभी के आराध्य राम हो गए। स्वामी रामानन्द ने माना कि राम के सगुण और निर्गुण दोनों ही रूप हैं। हम चाहे जिस रूप की उपासना कर सकते हैं। संत कबीर ने राम के निर्गुण रूप को अपनाया और गोस्वामी तुलसीदास ने सगुण रूप की आराधना की। स्वामी रामानन्द ने योग शिक्षा स्वामी राघवानन्द से प्राप्त की थी। स्वामी रामानन्द ने योगपरक रामभक्ति का प्रचार किया। आचार्य हजारी प्रसाद

द्विवेदी भी यही बात कहते हैं कि- कबीरदास की भक्ति का योग रामानन्द ही थे। कबीर तथा रैदास में यही भक्ति रामानन्द के कारण दिखाई देती है। कबीरदास का पाठक वर्ग जानता है कि कबीर के पदों में उम्र कोई एक अनन्य साधारण बात मिलती है जो भिन्नो और जोशियों की अस्मृता भरी उक्तियों में नहीं मिलती, जो वेदान्तियों के तर्क कर्कश ग्रन्थों में नहीं है, जो समाज सुधारकों की हाय-हाय में नहीं है, है कोई अनन्य-संशयान बात। वह क्या है? फिर वह वस्तु भी क्या है जिसे रामानन्द से पाकर कबीर जैसा मर्ममौलिक फलकड़ हमेशा के लिये उनका कृतज्ञ हो गया? इसका एक ही उत्तर है - वह बात ‘भक्ति’ थी। वह योगियों, मुत्वाओं तथा काजियों के पास नहीं थी। इसी परमाद्भुत रत्न को पाकर कबीर कृतकृत्य हो गये। स्वामी रामानन्द जी ने कालमीर में कल्याणकुमारी तथा झरिकापुरी में जगन्नाथपुरी नामक सम्पूर्ण तीर्थों का दर्शन करने हुए समस्त भारत का भ्रमण किया तथा मुस्लिम अत्याचारों को स्वयं देखा।

**मुसलमानों की शुद्धि के कार्यक्रम**- मुसलमान शासकों की क्रूर प्रकृति तथा हिन्दू समाज के उपर हो रहे अत्याचारों में वे दुःखी थे। हिन्दू समाज के अन्दर एक भावना दृढ़ हो गयी थी कि कोई व्यक्ति हिन्दू से मुसलमान तो हो सकता है किन्तु वह मुसलमान से हिन्दू नहीं हो सकता। स्वामी रामानन्द ने हिन्दू समाज में फैली इस भ्रान्त धारणा को समाप्त कर पुनः हिन्दू बनाने का कार्य शुरू कर इसकी आस्थवी मान्यता भी दिला दी। यह एक असूतपूर्व कार्य था जो धर्मतगरी काजी से मान्यता प्राप्त कर आगे बढ़ चला। हजारों मुसलमानों को अपने पैतृक हिन्दू धर्म में लाने का यह पवित्र कर्म इस क्रान्तिकारी मन्यामी ने प्रारम्भ कर दिया। डा. उदय प्रताप सिंह लिखते हैं- “जबर्न इस्लाम में लागू गण हिन्दुओं को पुनः हिन्दू धर्म में लाने के लिए परावर्तन संस्कार की विधि भी रामानन्द ने प्रचलित करा दी। यह एक ऐतिहासिक कदम था। अयोध्या के राजा हरीमिह के नेतृत्व में, 34 हजार राजपूतों (जो मुसलमान हो चुके थे) को एक मंच से स्वामी जी ने स्वधर्म अपनाने की प्रेरणा दी थी।” (अनुचिन्तन एवं अनुसंधान, पृ. 97)

स्वामी रामानन्द ने हिन्दू से मुसलमान बन गए लोगों को पुनः हिन्दू धर्म में सम्मान के साथ मान्यता प्रदान की। भविष्यपुराण में उनके द्वारा दी गई इस घर-वापसी की व्यवस्था का उल्लेख किया गया है-

“रामानन्दस्य शिष्यो वै अयोध्यायामुपागतः।  
कृत्वा त्रिलोमं तं तन्त्रं वैष्णवांस्तान कारयत् ॥”

(भविष्यपुराण)

अर्थात् 'स्वामी रामानन्द जी के शिष्यों ने अयोध्या में मुसलमानों के पड़यन्त्रों को उलटकर उनमें प्रवेष्ट करके बनाए गए व्यक्तियों को वैष्णव धर्म में दीक्षित कर लिया।'

भविष्यपुराण में कहा गया है कि 'स्वामी रामानन्द जी के इस नवीन युगानुकूल विचार में प्रेरित होकर अनेक म्लेच्छों (अर्थात् मुसलमानों) ने वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया था और उनके गले में तुलसी की माला, जिह्वा पर राम का नाम तथा माथे पर वैष्णव तिलक था।' उन्हें मंयोगी कहा जाता था और वे अयोध्या के समीप बस गए थे। अभी तक तो मुसलमान फकीर लोग अपने सम्प्रदाय (इस्लाम) की सामाजिक समानता की दुहाई देकर हिन्दुओं के धर्म परिवर्तन में लगे हुए थे किन्तु अब हिन्दू धर्म परिवर्तनकारियों को भी एक ऐसा शस्त्र मिल गया था जिसके आधार पर वे मुसलमानों को घर-वापस ला सकते थे। इस नवीन परिवर्तन के कारण ईश्वर के स्वतंत्र पुजारी एवं मानवता प्रेमी हिन्दू समाज का आत्मविश्वास बढ़ गया।

लोकभाषा में लिखने की प्रेरणा दी - स्वामी रामानन्द का एक महत्वपूर्ण कार्य और है और वह है लोकभाषाओं की स्वीकृति। इनके पूर्व जो भी आचार्य हुए, उनमें प्रमुख- श्रीरामानुजाचार्य, श्रीनिवाकाचार्य, श्रीमाधवाचार्य, श्रीविष्णुस्वामी आदि सभी ने संस्कृत में ही अपने सिद्धान्त निरूपण किए थे किन्तु स्वामी रामानन्द ने उस समय की प्रचलित परम्परा से हटकर हिन्दी में भी अपनी अनेक रचनाएं लिखीं, इस प्रकार देववाणी संस्कृत का मोह त्यागकर, लोकभाषा हिन्दी को अपनाया। वस्तुतः मन्त्रा लोकनायक बही होता है जो अपनी बात लोकभाषा में कहे। गौतम बुद्ध ने भी लोकभाषा पालि में ही अपना उपदेश दिया था और संस्कृत के अधिकारी विद्वान होने हुए, भी गोस्वामी तुलसीदास ने लोकभाषा अवधी में श्रीरामचरितमानस लिखा। इसके पश्चात् तो कबीर, रैदास, मीरा, धन्ना, पीपा आदि भक्तों ने प्रभु की भक्ति के काव्य लोकभाषा में लिखने प्रारम्भ कर दिये। ऐसा होने से वे लोग जो संस्कृत पढ़-बोल नहीं सकते थे अब सरलता के साथ भक्ति-काव्य लिखने और बोलने के अधिकारी हो गये। भक्ति अब सामान्य जन के लिए मूलभूत थी। जो कार्य दक्षिण में आतवारों ने किया था वह स्वामी रामानन्द जी ने उत्तरभारत में प्रारम्भ कर दिया।

स्वामी रामानन्द संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे किन्तु वे परिस्थितियों की गंभीरता को समझ गए और मूर्तिपूजा आदि के कर्मकाण्ड में समाज को बाहर लाना चाहते थे। इस कारण हिन्दी में निर्गुण ब्रह्म की उपासना तथा गुरु का महत्व वे बतलाते हैं। 'आदि ग्रन्थ' में संकल्पित उनका हिन्दी का यह गीत देखने में उनका

उद्देश्य ध्यान में आ जाएगा। स्वामी रामानन्द कहते हैं-

"कत जाइये घर लाग्यो रंगु, मेरा चित्त न चले मन भयउ पंगु।  
एक दिवस मन उठी उमंग, धर्म चन्दन चोवा बहु सुगन्ध।  
पूजन चाली ब्रह्म ठाई, सो ब्रह्म बतायौ गुरु मनहि मांहि।  
जहां जाइए तहँ जल-परवान, तू पूरि रह्यौ है सब समान।  
वेद पुरान सब देखे जोई, वहां न जाइए जहँ तू न होई।  
सत गुरु मैं बलिहारी तोर, जिनी सकल विकट भ्रम काटे मोर।  
रामानंद स्वामी रमत ब्रह्म, गुरु का सँघट काटै कोटि करम ॥"

(भारत की संस्कृति और कला, पृ. 287)

भक्ति-आन्दोलन लोकानुमुखी हुआ - स्वामी रामानन्द द्वारा हिन्दी अपनानी जाने के कारण मध्यकालीन, भक्ति आन्दोलन लोकानुमुखी हो गया। इसके सिद्धान्त घर-घर पहुँचने लगे और सबसे प्रमुख बात यह रही कि पिछड़ी समझी जाने वाली जातियों में सैकड़ों सन्त-महात्मा खड़े हो गये जिन्होंने अपनी लोकभाषा में ईश्वरभक्ति की रचनाएं प्रारम्भ कर दीं। जनभाषा में भगवत्-महिमा का गान गाया जाने लगा। इस प्रकार अब हम आगे देखेंगे कि उत्तर भारत में स्वामी रामानन्द के शिष्यों द्वारा तथा महाराष्ट्र में संत नामदेव, संत ज्ञानेश्वर के पश्चात् सन्त परम्परा का अखण्ड प्रवाह प्रारम्भ हो गया। देखते ही देखते पंजाब, राजस्थान, गुजरात से लेकर बंगाल, ओड़िशा तथा असम तक स्थानीय भाषा में भक्ति-काव्य लेखन की परम्परा बढ़ती चली गई। देश के प्रत्येक प्रान्त ने जनभाषा में लिखने वाले भक्त और कवि खड़े कर दिये। यह आश्चर्यजनक था किन्तु यह हुआ और इसकी जड़ में कहीं न कहीं स्वामी रामानन्द की विलक्षण सर्वसमावेशी प्रतिभा दृष्टिगोचर होती है।

स्वामी रामानन्द को भारतीय सांस्कृतिक-इतिहास के महानतम व्यक्तियों में से एक माना जाना चाहिए। चौदहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक, उत्तर भारत के अधिकांश धार्मिक आन्दोलन के स्रोत स्वामी रामानन्द ही थे। उनकी सम्प्रदायिक बुद्धि के कारण जन सामान्य विभिन्न मतों का अनुयायी बनकर हिन्दुत्व की मूलधारा के साथ पुनः जुड़ गया। जन सामान्य तक पहुँचने का उनका प्रवेश-पथ भक्ति ही था और यह संदेश जनभाषा (हिन्दी) के माध्यम से अब लोगों के सम्मुख रखा जा रहा था। उनके प्रवचनों की भाषा संस्कृत न होकर हिन्दी हो गई थी।

स्वामी रामानन्द ने सम्पूर्ण हिन्दू समाज के लिए स्वीकृत देवता हनुमान जी

की स्तुति हिन्दी भाषा में गई। उनके द्वारा लोकभाषा में लिखी हनुमान जी की यह आरती शीघ्र ही घर-घर में गाई जाने लगी तथा हनुमान जी के मन्दिरों की स्थापना ग्राम-ग्राम में होने लगी। 'हनुमान लला' सभी जाति-वर्ग भेदों को दूर करने वाले पारिवारिक तथा ग्राम देवता के रूप में स्थापित हो गए-

“आरति कीजै हनुमान लला की। दुष्ट दलन रघुनाथ कला की॥  
जाके बल गरजे महि काँपे। रोग सोग जाके सिमों न चाँपे॥  
अंजनी-सुत महाबल-दायक। साधु सन्त पर सदा सहायक॥  
बाँए भुजा सब असुर सँघारी। दाहिन भुजा सब संत उबारी॥

.....

जो हनुमानजी की आरती गावैं। बसि बैकुण्ठ परम पद पावैं॥  
लंक विध्वंस कियो रघुराई। रामानन्द (स्वामी) आरती गाई॥  
सुर नर मुनि सब करहीं आरती। जै जै हनुमान लला की॥”

आगे चलकर स्वामी रामानन्द की शिष्य परंपरा के गोस्वामी तुलसीदास ने स्वामी रामानन्द जी की दूरदृष्टि की स्मरण में रत्नकर वीर हनुमान के भगवत्स्वरूप को लोकमान्यता के शीर्षस्तर पर पहुँचा दिया। गोस्वामी तुलसीदास कृत हनुमान चालीसा ने लोक-हृदय में कैसा स्थान बनाया यह हम सभी जानते हैं।

समाज के समन्वय तथा उसको दिशा देने की अद्भुत क्षमता ईश्वर ने उनको दी थी। सगुण और निर्गुण, ऊँच और नीच, शैव और वैष्णव, हिन्दू और मुसलमान, जनभाषा और संस्कृत, वेद-वेदांग और लोकभाषा के नए शास्त्र तथा उत्तर और दक्षिण आदि सभी को जोड़ने तथा युगानुकूल मोड़ने का विलक्षण सामर्थ्य उनके पास था। वे काल के अनुसार नहीं चल रहे थे वरन् काल स्वयं उनका अनुगामी हो उठा। यही वह परमविलक्षण बात थी जिसने उन्हें भक्ति आंदोलन का जनक बना दिया।

श्रीस्वामी रामानन्द जी का जीवन अलौकिक था। वे अपनी गुफा में रहते हुए भी सर्वत्र रहते थे। उनका दिव्य तेज विष्व के दिग्दिगन्तों में छा गया था। हिन्दू जाति के लिए वह एक महाभयङ्कर काल था। आर्यधर्म के त्राण के साथ ही विष्व कल्याण एवं भागवत-धर्म के उत्थान के लिए ही उनका अवतार हुआ था।

हिन्दू समाज के सर्वनाश पर तुला मोहम्मद तुगलक उनकी विलक्षण क्षमताएं देखकर क्षमायाचना करने लगा। समसामयिक फकीर मौलाना रसीदुद्दीन ने

अपनी पुस्तक 'तजकीरतुल फुकरा' में लिखा है-

“इस पुरी (काशी) में पञ्चगंगा घाट पर एक प्रसिद्ध महान्मा रहते हैं। वे नेत्रपुञ्ज और पूर्ण योगेश्वर हैं। वैष्णवों के मर्ममान्य आचार्य हैं, सदाचार एवं ब्रह्मनिष्ठत्व के स्वरूप ही हैं, परमान्तत्वग्रहस्य के पूर्ण जाना हैं, मन्त्रे भगवत्त्रैमियों एवं ब्रह्मविदों के समाज में उत्कृष्ट प्रभाव रखते हैं। अपितु, धर्माधिकार में वे हिन्दुओं के धर्म-कर्म के सम्राट हैं। केवल ब्रह्मवेला में अपनी पुनीन गुफा में गङ्गा-स्नान के लिए बाहर निकलते हैं। उन पवित्र आत्मा को स्वामी रामानन्द कहते हैं।” (कल्याण, संत-अङ्क, पृ. 445)

वास्तव में आध्यात्मिक जगत के वे मार्वाभौम चक्रवर्ती थे। सब जगत उनका था और वे जगत के थे। जगद्गुरु शब्द उनके सम्बन्ध में अक्षरशः सार्थक था। लोगों का यह कहना भी उचित ही है कि त्रैतायुग में भगवान् श्रीराम ने अवतरित होकर जिस प्रकार मानवता और धर्म की रक्षा तथा सेवा की, वही कार्य स्वामी रामानन्द ने (14 वीं-15 वीं शताब्दी में) सम्पन्न किया। इसलिए अगस्त्य संहिताकार ने सच ही कहा है-

“रामानन्दः स्वयं रामः प्रादुर्भूतो महीतले।”

॥ ॐ ॥

## भारतीय सन्त परम्परा

व्यापक अर्थ में सन्त का अर्थ है पवित्रात्मा, परमेश्वरी, मदाचारी आदि। हिन्दी शब्दसागर में सन्त का अर्थ - माधु, त्यागी, महात्मा, ईश्वर-भक्त, धार्मिक पुरुष आदि माना गया है। लोगों की मान्यता है कि सन्त इस संसार में स्वयं कष्ट महक भी दूसरों के कष्ट का निवारण करते हैं। सन्त स्वयं तीर्थ के समान हैं तथा सर्वत्र, सदैव, सभी को मुलभ रहते हैं। उनकी दृष्टि में सभी प्राणी समान हैं। भक्तों की मान्यता है कि संत साक्षात् परमेश्वर स्वरूप हैं।

इस पृथ्वी पर प्रभु, तो कभी-कभी अवतार ग्रहण करते हैं किन्तु सन्त नित्यावतार है। संत तो समाज में निरंतर भ्रमण करते हैं, उनके सुख-दुख बाँटते हैं, आदर्श जीवन जीने की प्रेरणा देते हैं तथा सभी को प्रेम का सन्देश देते हैं। वे समाज को सत्य पर अधिष्ठित करते हैं। संत तो स्वयं दया, क्षमा, शान्ति तथा प्रेम की प्रतिमूर्ति होते हैं। सामान्य जन तो सन्तों को ही देखते हैं। ये सन्त लोग अपने प्रेमपूर्ण व्यवहार से, समाज के दुर्गुण एवं कुरीतियों आदि को दूर करने का सामर्थ्य रखते हैं। सभी तो श्री चैतन्य महाप्रभु की हत्या करने के लिये आने वाला व्यक्ति भी हरिभक्त बन गया।

गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं कि भगवान् तो समुद्र की तरह हैं परन्तु सन्त लोग मेघ की भाँति हैं। समुद्र में अथाह जल है किन्तु वह प्यास नहीं बुझा सकता न किसानों को जल दे सकता है किन्तु यही समुद्र जब मेघ रूप में बदल जाता है तब सम्पूर्ण पृथ्वी पर जीवन-वर्षा करता है। सन्त भी प्रेम और ज्ञान की वर्षा करते हैं। संत कबीर कहते हैं, जिसका कोई शत्रु नहीं जो निष्काम है, ईश्वर से प्रेम करता है, विषयों से असम्पृक्त रहता है वही सन्त है-

“निरखैरी निहकामता साईं सेती नेह।  
विषया सँ न्यारा रहै, संतन के अंग एह।”

(कबीर ग्रन्थावली, पद सं- 29/1, पृ० 50)

भक्त पलटू तो सन्त को तीर्थ से भी अधिक महत्व देते हैं -

“पलटू तीरथ को चला, बीचे मिलियो सन्त।  
एक मुक्ति के कारने, मिलि गई मुक्ति अनन्त ॥”

(सन्त संग्रह बाणी, भाग-1, पलटूदास, पृ० 219)

गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं कि सन्तों की दृष्टि में सभी प्राणी एक समान होते हैं। वे सभी का हिन उमी प्रकार चाहते हैं जैसे अंजलि में रवे पुष्प बाँये-दाँये हाथ का भेद नहीं करने। वे तो दोनों हाथों को समान रूप में मृगन्धित करते हैं-

“बंदउ सन्त समान चित हित अनहित नहिं कोऊ।

अंजलि गत सुभ सुमन लिमि सम सुगन्ध कर दोऊ ॥”

(राम चरित मानस, बालकाण्ड)

भगवान् राम, भरत को सन्त का लक्षण बताते हुए कहते हैं -

“सन्तन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगनित श्रुति पुरान बिल्याता ॥

संत असंतन्ह कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी ॥

काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगन्ध बसाई ॥

विषय अलम्पट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर ॥

कोमल चित दीनन्ह पर दाय। मन वच क्रम मम भगति अमाया।

सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी ॥”

(रामचरित मानस, उत्तर काण्ड, दोहा- 37-38)

अर्थात् ‘भरत भाई, सन्तों के उन लक्षणों को बताता हूँ जिनको अनेक श्रुतियों तथा पुराणों में कहा गया है। संतों तथा असंतों के कार्य ऐसे हैं जैसे कुल्हाड़ी तथा चन्दन के वृक्ष के आचरण से ध्यान में आते हैं। कुल्हाड़ी, चंदन को काटती है किन्तु फिर भी चन्दन अपनी सुगन्ध उसको दे देता है। सन्त लोग विषयों से दूर रहते हैं, विनम्र तथा गुणग्राही होते हैं। दूसरे के दुःख को देखकर दुःखी तथा सुख को देखकर सुखी होते हैं। सन्तों का हृदय बहुत कोमल होता है तथा निर्बल लोगों पर वे सदा दया करते हैं। मन, वाणी तथा कार्यों द्वारा भक्ति में लीन रहते हैं तथा माया से दूर हैं। सभी को सम्मान देने हैं किन्तु स्वयं सम्मान से दूर रहते हैं। हे भरत, ऐसे लोग मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं।’

गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं कि सन्त के लिये शत्रु-मित्र समान हैं-

“सजु न काटू करि गनै, मित्र गनै नहिं काहि।  
तुलसी यह मत सन्त को, चालै समता माहि ॥”

(वैराग्य सदीपनी)

सन्तों द्वारा सामाजिक-सांस्कृतिक तन्त्रजागरण- विगन एक हजार वर्ष में भारतवर्ष की संत परंपरा, समाज के स्वाभाविक जागरण की देन है। सन्त साहित्य मूल रूप से लोकजीवन का काव्य है। इसमें भक्ति के साथ-साथ, उपेक्षित-वर्ग की पीड़ा और उनके मन की इच्छाओं को व्यक्त किया गया है। धर्म के नाम पर समाज

में हो रहे पाषण्ड, अत्याचार तथा कुगीतियों के विरुद्ध ये सन्त दृढ़ता से खड़े हो गये। मनुष्य-मनुष्य में भेद करने वाली मिथ्या दीवार को ये सन्त तोड़ देते हैं तथा मानवीय एवं सामाजिक जीवन मूल्यों को स्थापित करने पर बल देते हैं। समता, बन्धुत्व, प्रेम तथा ईश्वर की मना का प्रतिपादन करने हैं। इन सन्तों की मूल चेतना आध्यात्मिक है। ये साधक हैं, सुधारक हैं, स्वभाव से सन्त हैं किन्तु समझौतावादी नहीं हैं और न पलायनवादी ही हैं। वे तो हिन्दुत्व के मूल-स्वर को ही बार-बार मुखरित करते हैं तथा अभ्युदय के साथ निःश्रेयस ही उनकी कामना है।

**भक्त और संत परम्परा** - मध्यकालीन भारतीय धार्मिक आन्दोलन में सन्त और भक्त में कोई विणेष अन्तर नहीं माना गया था। भक्ति-आन्दोलन अपने वैभव पर था तब भी सन्त और भक्त अलग-अलग नहीं रखे जाते थे किन्तु आज सन्त और भक्त में थोड़ा सा अन्तर विचार किया जाता है। सगुण मार्गी सूर, तुलसी, मीरा, चैतन्य आदि भक्त कहलाते हैं तथा निर्गुण मार्गी कबीर, रैदास, नामदेव, तुकाराम, धन्ना आदि सन्त कहलाते हैं किन्तु एक बड़ा वर्ग ऐसा भी है जो इस अन्तर को मानता नहीं। सामान्य रूप से यह समझा जाता है कि 12 वीं शताब्दी के बाद सन्तों का प्रादुर्भाव होता है।

भारत की आध्यात्मिक परम्परा में गुरु का बहुत महत्व है। सन्त वे हैं जो गुरु, मन्त्र तथा दीक्षा में विश्वास करते हैं। सन्तों की परम्परा में गुरु को स्वीकार किया गया है। उनका मानना है कि गुरु के बिना ज्ञान और विवेक नहीं होता। गोरक्षनाथ कहते हैं-

“गुरु कीजै गहिला, निगुरा न रहिला।

गुरु बिन ज्ञान न, पायला रे भईला ॥”

संत कबीर कहते हैं- “गुरु बिन चेला ज्ञान न लहे”। संत मल्लूकदास कहते हैं- “भ्रमभागा गुरु बचन सुनि, मोह रहा नहि लेस।” उसी बात को श्रीगुरु नानक ने कहा- “गुरु बिनु ज्ञान न पाई”- इस प्रकार गुरु की महिमा के हजारों उदाहरण देखने को मिलते हैं। संत ज्ञानेश्वर ने संत नामदेव के अहंकार को नष्ट करने को उन्हें बिसोवा खेचर (शूद्र) के पास भेजा, संत नामदेव ने उसे स्वीकार भी किया। सन्त ज्ञानेश्वर के परदादा ब्यंवर पंत को गोरक्षनाथ ने दीक्षा दी थी।

13 वीं शताब्दी के पश्चात् सम्पूर्ण देश में विकसित हुई व्यापक संत परंपरा के संबंध में कुछ बिन्दु ध्यान में रखने योग्य हैं-

✧ विचार स्वातंत्र्य के कारण, सन्त लोग पुरानी व्यवस्था के खण्डन के लिये खड़े हो जाते हैं। पुरानी सामाजिक व्यवस्था में अनेक अमानवीय दोषों के

विरुद्ध संघर्ष करने वाली यह सन्त संस्कृति पूरे भारत वर्ष में हजारों सन्तों तथा भक्तों को उत्पन्न कर देती है।

✧ यह सभी जानियों में पैदा हुए हैं किन्तु एक बड़ी संख्या तथाकथित नीची कही जाने वाली जातियों में से आती है। इन संतों की मान्यता है कि जब सभी मनुष्य ईश्वर के सम्मुख समान हैं तब जन्म के आधार पर भेदभाव करना ईश्वर के साथ अन्याय है।

✧ सन्त लोग मन्दिर, मूर्ति, शास्त्र, संस्कृत-भाषा, ब्राह्मण, कर्मकाण्ड तथा वर्ण-व्यवस्था और जातिगत भेदभाव आदि के ढोंग-पाषण्ड के विरुद्ध साधुता, कविता और संगीत जैसे अहिंसक शस्त्रों से ‘सबद-जुद्ध’ करते हैं। इन सन्तों ने देश भर में संकीर्णताओं, मिथ्याडंबरों तथा मिथ्यारूढ़ियों का जमकर विरोध किया तथा मानवता का सन्देश दिया।

देशव्यापी संत परंपरा के अंतर्गत एक विशेष बात हम देखते हैं कि निर्गुण मतवादी सन्तों के उग्र विचार के बावजूद उनकी समस्त रीति-नीति, साधना, वक्तव्य-वस्तु के उपस्थापन की प्रणाली, छन्द और भाषा सभी कुछ भारतीय और भारतीय आचार्यों की देन है।

सन्तों की भाषा - वेदों की ऋचाओं को मन्त्र कहते हैं। मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण का बहुत महत्व होता है। मन्त्र की भाषा संस्कृत होती है किन्तु सन्त तो जनता के मध्य बोलते हैं तथा जनभाषा में बोलते हैं। यह जनता बहुत भोली तथा सरल है। वेदों की भाषा नहीं जानती। सन्त लोग अन्तर्मान से बोलते हैं। इनके बोल, शब्द कहलाते हैं तथा उनके भक्तों को विश्वास है कि इनका प्रभाव मन्त्र की तरह ही होना है। सन्तों ने संस्कृत को अपने साहित्य की भाषा नहीं बनाया। हिन्दी, अवधी, भोजपुरी, वृज, राजस्थानी, कन्नड़, गुजराती, पंजाबी, मराठी, ओड़िया, असमिया, बंगला, तमिल, तेलुगु, मलयालम आदि स्थानीय लोकभाषाओं तथा बोलियों में वे अपनी बात सीधे सरल ढंग से रखते हैं। सन्तों द्वारा प्रतिपादित नवज्ञान तथा प्रकट की गई भावात्मक अभिव्यक्ति, हिन्दू दर्शन का ही स्वरूप है किन्तु सन्त जिन लोगों के मध्य बात कर रहे हैं, वे सामान्य जन हैं तथा संस्कृत भाषा नहीं जानते। संस्कृत तो कुछ विद्वान लोगों की भाषा है, सामान्य जन की भाषा तो लोकभाषा है। इसीलिये संत कबीर कहते हैं-

“संसकरित है रूप जल, भाषा बहिता नीर”।

(सावी ग्रन्थ, भाषा को अंग, पृ० 555)

अर्थात्, 'संस्कृत तो कुण के जल के समान है (जिसे पाने के लिए परिश्रम करना पड़ता है) किंतु लोकभाषा तो नदी के बहने हुए जल के समान है (जो सभी को महज मुलभ है)।' सन्तों की भाषा समझने के पहले यह जान लेना अधिक आवश्यक है कि वे किस वातावरण में बोल रहे हैं। होना यह है कि रुद्रि और जड़ता की प्रवृत्ति से संघर्ष लेने के लिये पहले मन में बृह निश्चय, निरस्कार और उत्तेजना की मनोवृत्ति बनानी पड़नी है। यह स्वभाव शब्दों में भी प्रकट होता है। निरस्कार से कभी-कभी भाषा कठोर, गाली, अपभाषा जैसी लगती है। तभी तो संत रैदास कहते हैं:-

“मेरी जाति कमीनी पाँति कमीनी, ओछा जनम हमारा।

तुम सरनागति राजा रामचन्द्र, कहि रैदास चमारा ॥”

(गुरु ग्रन्थसाहिब, पृ० 659)

लेकिन धीरे-धीरे संत रैदास अपने लोगों में आत्मविश्वास भी भरते हैं। सन्तों की वाणी में, अपढ़ और अबोध होने का बोध बना रहता है। लिखित शास्त्रों में तो सन्तों को ही विश्वास होता है, सन्तों को नहीं। सन्तों को विश्वास है कि वे कोरे कागद पर सत्य लिख रहे हैं। पुस्तकीय ज्ञान के अहंकार में डूबे लोगों को कबीरदास समझाते हैं कि जो सामने दिख रहा है तथा अनुभव सिद्ध है वही महत्वपूर्ण है। इस कारण कबीरदास कहते हैं:-

“तू कहता कागद की लेखी - मैं कहता आँखन की देखी”।

सन्तों के पद, शब्द, भजन, दोहे आदि विविध रागों में गाये जाते हैं और सभी रागों के गाने का समय अलग है। जैसे- भैरवी प्रातःकाल तथा विहाग सायंकाल शयन का राग है।

क्रान्तिकारी करवट - इन सन्तों को जिस घृणाचक्र में लड़ना है वह जानि-भेद के भीतर से उपजी अमानवीय क्रूरता की नियति है। अतः हम कह सकते हैं कि सन्त लोग नीची कही जाने वाली जातियों की क्रान्तिकारी करवट हैं। इस प्रकार आगे आने वाले एक हजार वर्ष में, समय-समय पर ऐसे आचार्य, सन्त, भक्त, गुरु, नाथ आदि लोग देश भर में खड़े होने रहे जिन्होंने अध्यात्म का सहाय लेकर कठिन से कठिन सामाजिक लड़ाई को लड़ा तथा सभी को सम्मान देने की मूल अवधारणा को स्थापित करने के प्रयास निरन्तर जारी रखे।

॥ ३४ ॥

## सन्तों और भक्तों का मध्ययुगीन धार्मिक-आन्दोलन

बारहवीं शताब्दी में लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक एक तीव्र धार्मिक-आन्दोलन देशभर में फैल जाता है। देश का कोई भी प्रान्त उसमें अछूता नहीं रहता। इसके लिये वातावरण आठवीं सदी में ही बनने लगा था।

मध्यकाल के धार्मिक जागरण की पूर्व वेला - मुसलमानों के इस देश पर आक्रमण करने के पूर्व भी अनेक जानियाँ इस देश में आयीं, वे विजयी हुई, पराजित हुई और यही की समाज व्यवस्था में समाहित हो गई। इनमें - शक, हूण, मंगोल तथा यवन प्रमुख थे किन्तु इस्लाम यहाँ की सामाजिक व्यवस्था में मिलने को तैयार नहीं हुआ वरन् इसने यहाँ एक बड़ा संकट खड़ा कर दिया। सामाजिक स्तर पर प्रमुख रूप से दो चुनौतियाँ सामने आ गयीं।

\* हिन्दू समाज का उच्चवर्ण धर्मरक्षा की भावना के कारण संकीर्णता और पाबंद से घिरता जा रहा था।

\* निम्नवर्ण के लोग मुसलमानों द्वारा तो कष्ट पा ही रहे थे साथ ही हिन्दू भी उन्हें हेय दृष्टि से देखते थे। इस प्रकार उन्हें लगता था कि इस्लाम समता का मन्देज दे रहा है। सामन्तवादी व्यवस्था के कारण भी पिछड़े वर्गों की छुटपटाहट बढ़ती जा रही थी। यह वह काल है जब हम इस नये धार्मिक-आन्दोलन का सूत्रपात पाते हैं।

वेदमत और लोकमत का समन्वय - इस नवीन धार्मिक जागरण में पूरे देश में वेदमत और लोकमत का समन्वय हो रहा था। ब्राह्मण वर्ग तक सीमित शास्त्रीय चिन्तन के उच्च धरातल पर अब सामान्य जन भी पहुँचने को आतुर और प्रयासरत दीखता है। भाषा और विचार की दृष्टि में भी सम्पूर्ण धार्मिक आन्दोलन लोकप्रियता से ही रहा था और संस्कृत का स्थान जनभाषाएँ ले रही थीं।

सामाजिक न्याय और समानता का आन्दोलन - इस आन्दोलन का सांस्कृतिक और सामाजिक महत्त्व भी है। सामाजिक दृष्टि में यह न्याय और समानता का आन्दोलन है। जानियत भेदभाव के कारण कष्ट पा रही, न्यायकथित नीची जानियाँ, धार्मिक आधार पर एक मंच पाती हैं तथा ईश्वर के सम्मुख आराधना का और भक्ति का अधिकार पानी हैं। ये जानियाँ एक लम्बे समय में वैपश्य के जुग को छोड़ी थीं अब उस अन्यायपूर्ण जुग को उतारकर फेंकने को आतुर दिखती हैं। उच्च वर्ग के

भेदभाव पर न व्यवहार के कारण सामान्य जन में आक्रोश बढ़ता जा रहा था, उस समय गमता मूलक इस तथे आन्दोलन के प्रवर्तक के रूप में, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीगणेशाचार्य, संत ज्ञानेश्वर, संत एकनाथ, स्वामी रामानंद, श्रीगुरु नानकदेव, भीरवाई एवं समर्थ गुरु रामदास आदि सैकड़ों संत आगे आये। यद्यपि ये तथाकथित उच्चकुल में उत्पन्न तो हुए थे किन्तु अपनी मनोभावना एवं जीवनशैली से उन्होंने वर्णाभिमान को सदैव निरस्त किया। आगे चलकर इस आन्दोलन को बढ़ावा देने वाले सन्त पिछड़े वर्गों से आये।

**पिछड़ी जातियों में नवजागरण का धार्मिक स्वरूप** - दक्षिण के आलवार भक्तों में अनेक तथाकथित निम्नवर्ग के थे। महाराष्ट्र के सन्तों में संत गोर और संत राका (कुम्हार), संत नामदेव (दर्जी), संत मावता (माली), संत नरहरि (सुनार), संत जोगा (तेली), संत श्यामा (चूड़ीवाला), संत वंका और संत चोखा (महार) तथा संत कान्होपात्रा (वेश्या पुत्री) थी। काश्मीर की सन्त लल्ला मेहतर जाति की थी। हिन्दी के निर्गुणी सन्तों में संत कबीर (जुलाहा), संत सेना (नाई), संत धन्ना (जाट), संत रैदास (चमार), संत सिंगाजी (खाला), संत दादू (धुनियाँ), संत वपना (मीरसी), संत बुल्लासाहब (कुर्मी), संत दीन (दरवेश), संत रज्जब (लोहार), संत दरिया साहब (मारवाड़वाले, धुनियाँ), संत दरिया साहब (बिहार वाले दर्जी) तथा संत लालगिरि (चर्मकार) थे। ये सभी सन्त पिछड़ी जातियों से आये थे। उनकी संख्या सैकड़ों से भी अधिक है। ये वे थे जिन्होंने सामाजिक विपमता को स्वयं भोगा। इन सभी ने इंसके की चोट पर कहा कि मनुष्य की जाति एक होती है, सभी मनुष्य ईश्वर की सन्तान हैं और यह सभी भेदभाव कृत्रिम है। इन सन्तों में अनेक ऐसे भी थे जिनकी वैदिक परम्पराओं के प्रति कोई रुचि नहीं थी किन्तु वैदिक जीवन-मूल्यों में पूरा विश्वास था। इन संतों ने शास्त्र-ज्ञान की अपेक्षा अनुभव को महत्व दिया। ये शास्त्रविद् न होते हुए भी बहुश्रुत थे।

यह भक्त-सन्त परम्परा विविध प्रान्तों में वहाँ की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के अनुरूप खड़ी होती चली गयी। इन संतों और भक्तों की संख्या सैकड़ों-हजारों में है। आगे के अध्यायों में हम क्षेत्र के अनुसार कुछ ऐसी आध्यात्मिक विभूतियों की चर्चा करेंगे जिन्होंने वहाँ की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों को दूर तक प्रभावित किया तथा सामाजिक समरस जीवन एवं राष्ट्रीय एकात्मता की दृष्टि से अनूठे प्रयास किये।

॥ ॐ ॥

## उत्तर प्रदेश के संतों और भक्तों द्वारा सामाजिक जागरण

उत्तर प्रदेश में 'सन्त एवं भक्त परम्परा का प्रवाह' तेरहवीं शताब्दी में स्वामी रामानन्द से माना जाता है। आगे चलकर संत कबीर, संत रैदास, संत सधना, संत मलूकदास आदि की सशक्त सन्त परम्परा उत्तर प्रदेश में खड़ी हो गयी। वहीं भक्त परम्परा में भक्त वल्लभाचार्य, भक्त विठ्ठलनाथ, भक्त कुम्भनदास, भक्त सूरदास, भक्त बाबा हरिदास, भक्त रसवान, गोस्वामी तुलसीदास आदि प्रसिद्ध हो गये हैं। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि मूल तथा भक्त किसी भी प्रकार के जाति-भेद को नहीं मानते। किन्तु सन्त लोग जाति-भेद के विरोध में खड़े होकर संघर्ष करते हैं तथा नवीन समाज व्यवस्था के लिये प्रयास भी करते हैं। भगवद्भक्ति की दृष्टि से सन्त और भक्त में कोई अन्तर नहीं।

12 वीं शताब्दी से ही इस्लाम के व्यापक आतंक के बावजूद भक्ति के द्वारा समाज जागरण के प्रयास जारी रहे। संतों ने सभी जातियों को साथ लेकर घूम-घूम कर व्यापक समाज जागरण किया तथा प्रेम और मानवीय समानता का शाश्वत मन्देश भी दिया। रामानन्दी, कबीर पंथी, रैदासी, मलूकदासी, वल्लभ मम्प्रदायी एवं तुलसी आदि के अनुयायियों द्वारा इस्लाम की सत्ता के विरोध के बावजूद भक्ति-जागरण जारी रहा। एक ओर जहाँ समुण भक्ति वाले सूर, तुलसी, कुम्भन तथा रसवान आदि ने दशरथ नन्दन राम या नन्दनन्दन कृष्ण की भक्ति जगाई वहीं दूसरी ओर निर्गुण ब्रह्म के उपासकों में कबीर, रैदास, सधना, मलूकदास, अपा साहब, महात्मा बानादास, शिवनारायण साहब तथा मोहन शाह आदि संत अपने हज़ारों अनुयायियों के साथ सर्वव्यापी ब्रह्म की आराधना करते रहे।

उपरोक्त के इन भक्तों और संतों ने निरंकुश इस्लामी सत्ता के सम्मुख झुकने से स्पष्ट इंकार कर दिया और निःसंकोच भाव से सर्वनियन्ता परब्रह्म को ही अपना शासक स्वीकार किया। सम्राट अकबर के बुलाने पर भक्त कुम्भनदास का कहना कि- 'भक्तन कहा सीकरी सों काम' तथा तुलसी की गवैक्ति कि- 'हम चाकर रघुवीर के' आदि ने समाज को यह अहसास करा दिया कि इस परकीय सत्ता के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण क्या है। निर्गुण हों या समुण 'राम' ही उनके राजा

थे। तुलसी उनको दशरथ मंदन 'राम' कहकर स्तुति गा रहे थे वही कबीर और रैदास ने उन्हें घट-घट व्यापी 'राम' कहकर उनका सुमिरन जारी रखा।

उ०प्र० के संतों और भक्तों की इस महान यशस्वी परंपरा ने अपने प्रेमपूर्ण व्यवहार, आदर्श जीवन तथा उत्कट-भक्ति के बल पर जातिगत एवं गंप्रदायगत विभेदों की दीवारों को चूर-चूर कर दिया। इनकी हृदयस्पर्शी वाणी का भक्ति-प्रवाह इतना प्रबल था कि इनके लाखों अनुयायी सभी प्रकार के भेदभावों को भुलाकर शासन के विरोध और अत्याचारों के बावजूद अपने निर्धार्मिक लक्ष्य की ओर निरंतर गतिमान रहे। इतिहास इस बात का माक्षी है कि इस्लाम की अखिल भारतीय सत्ता के केंद्र यदि उ० प्र० में आगरा और फतहपुर सीकरी थे तो वहीं काशी, मथुरा, वृन्दावन और प्रयाग ने भी उसी दृढ़ता के साथ भक्ति-जागरण के दायित्व को संभाले रखा। संतों और भक्तों ने काल, परिस्थिति और स्थान के अनुरूप भक्ति को नये-नये आयामों के साथ समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया। इसी कारण तो रामानन्द जैसे वेदपाठी ब्राह्मण ने कबीर, रैदास जैसे शूद्र कुलोद्भव भक्तों को अपना श्रेष्ठ शिष्यत्व प्रदान किया और वहीं अनेक राजे-महाराजे इन शूद्र संतों के शरणागत हो गए। यह भक्ति का पुण्य-प्रवाह ही था जिसमें सभी लोग मिलकर अवगाहन कर रहे थे। वहाँ प्रेम था, समता थी और अपनत्व था किन्तु जातिगत भेदभाव को कोई स्थान नहीं था। आवश्यकता पड़ने पर इन संतों ने जातिगत भेदभाव तथा सामाजिक बुराइयों की जमकर आलोचना भी की किन्तु व्यक्तिगत तथा सामाजिक चरित्र के उच्चादर्शों हेतु भक्ति-प्रेरित उद्बोधन जारी रखा। यहाँ हम उत्तर प्रदेश के कुछ प्रभावी संतों एवं भक्तों आदि के बारे में चर्चा करेंगे।

\* सन्त कबीरदास - सन्त परम्परा का अद्भुत सन्त-

(वि. संवत् 1455-1575; ई. सं. 1398-1518) काशी

संत कबीरदास का जन्म जुलाहा के घर हुआ तथा वे कभी विद्यालय नहीं गये। उन्होंने 120 वर्ष की आयु पायी। कबीरदास के समय भारत में इस्लाम के आक्रमणकारी मिर्ज़ा-नोदी का आतंक मचा हुआ था।

उत्तर भारत की सन्त परम्परा के अनेक सन्त कबीर हैं। संत कबीर अपने आप में अकेले हैं। अब तक हुए संतों में कबीरदास अस्वर्ग हैं किन्तु विनम्र हैं। वे दृढ़ हैं और सच को (जो देखा वैसा) कहने की हिम्मत करते हैं। संत कबीर जातिगत भेदभाव, पावण्ड, वास्लाचार आदि का निर्भयता पूर्वक खण्डन करने हैं

किन्तु ईश्वर की मना में पूरा विजयाम करने हैं। वैष्णवों के नियं वे वैष्णव-भक्त हैं, सिव उन्हें भगत कहते हैं, कबीर पंथियों के लिये अवतार, प्रगतिजीव लोगों की दृष्टि में समाज सुधारक, जातिगत श्रेष्ठता के विरोधी, जोरित वर्ग के पक्षधर तथा न्याय-समता-वन्तृत्व भावना के प्रतीक के रूप में कबीर एक प्रतिष्ठित स्थान पर स्थापित हो गये हैं। ईश्वर प्रदत्त समता के लिए वे मंथपरन मंत हैं। वे हार नहीं मानते किन्तु उनके इस सामाजिक मंथर्प का आधार भक्ति ही है।

संत कबीरदास को समझने के पहले उस समय की ऐतिहासिक जातूकारी तथा उनके परिवार तथा जाति की पृष्ठभूमि को समझ लेना अधिक आवश्यक है। ताथमन का अध्ययन करते समय यह बात हमारी जानकारी में आ गई थी कि आश्रमभ्रष्ट लोगों की अलग-अलग जातियाँ बनती जा रही थी। जोगी नामक आश्रमभ्रष्ट घरवारियों की एक जाति उत्तर से लेकर पूर्वी भारत में व्यापक रूप से फैली हुई थी। ये लोग कपड़ा बुनते थे, सूत कातते थे या गोरखनाथ और भरथरी (भरतहरि) के नाम पर भीख माँगकर अपनी आजीविका चलाते थे। ये निराकार के उपासक थे और जातिभेद तथा ब्राह्मण-श्रेष्ठता के प्रति इन्हें कोई सहानुभूति नहीं थी और न अवतारवाद में ही कोई आस्था थी। आसपास के बृहत्तर हिन्दू समाज के लिए ये नीच और अस्पृश्य ही कहे जाते थे। मुसलमानों के आने के बाद ये धीरे-धीरे मुसलमान होने लगे। कबीरदास इन्हीं तब-धर्मान्तरित लोगों में पालित हुए थे। ऐसा लगता है कि कबीरदास के जन्म के थोड़ा समय पूर्व ही भारत में निम्न कही जाने वाली आश्रमभ्रष्ट जातियों में से कुछ लोग इस्लाम में चले गए थे। जुलाहा जाति के लोग भी हिन्दू बुनकर (कोरी) जाति से मुसलमान बने लोग थे। लेकिन यह बात स्मरण में रखनी चाहिए कि कबीरदास का पालन-पोषण यद्यपि मुसलमान परिवार में हुआ था किन्तु उन परिवारों के संस्कार अभी बड़ी मात्रा में हिन्दू ही थे। इसी कारण कबीरदास अपने आपको कोरी (हिन्दू) नाम से भी पुकारते हैं-

“ हरि को नाँव-अभै-पद दाता कहै कबीरा कोरी।” (कबीर, पृ. 18)

किन्तु सर्वाधिक लगनेवाली बात तो यह है कि कबीरदास ने अपने आपको जुलाहा कहा, कोरी कहा लेकिन मुसलमान एक बार भी नहीं कहा। यह बात तो निर्विवाद सत्य है कि कबीरदास जिस वंश में पालित हुए थे उसमें योगमत की व्यापक पैठ थी। कबीरदास स्वयं भी इस योगमत के निष्णात विद्वान-साधक थे। इसी कारण वे अवधूत, योग-साधना, कुण्डलिनी जागरण, सहज-समाधि आदि की

व्यापक चर्चा अपने माहित्य में करने हैं किन्तु कबीरदास का सारा ध्यान प्रभु की भक्ति में ही है। एक ओर कबीरदास ने वंचित कहे जाने वाले वर्ग को साथ लेकर भेदभाव के विरुद्ध गंभीर गर्जना की वहीं दूसरी ओर वे भगवद्भक्ति तथा प्रेम की वाणी में अपने लोगों सहजानि वंशुओं को हिन्दुत्व की ओर ले आए। कबीरदास की निर्गुण 'गम' के प्रति अविचल भक्ति तथा 'ढाई आखर के प्रेम' ने ऐसी मीठी का निर्माण किया जिसे कागण, लागों लोग जो इस्लाम की ओर जा रहे थे, हिन्दुत्व की ओर वापस आ गए। कबीरदास ने हिन्दू समाज के अन्दर घर कर गई बुगड़ियों के विरुद्ध बोलने में कोई संकोच नहीं किया किन्तु किसी भी प्रकार से हिन्दुत्व को छोड़कर मुसलमान बनने की अनुमति नहीं दी।

जातिगत भेदभाव पर प्रहार - संत कबीरदास ने जन्म से ऊँच-नीच माने जाने वाली परंपरा पर प्रहार किया और इसका उपहास भी उड़ाया। सभी मनुष्यों के जन्म की विधि एक ही है, चाहे वे किसी भी वर्ण के क्यों न हों। मानव शरीर में त्वचा, अस्थि, माँस-पज्जा, मल, मूत्र आदि एक मद्गुण हैं। एक ही रक्त एवं शरीर के अंग सब एक ही हैं। एक ही बूँद से समस्त मानव की सृष्टि की गई है, फिर ब्राह्मण और शूद्र का अन्तर कैसा ?

“एकै त्वचा हाइ मल मूत्रा, एक रिधुर एक गूदा।

एक बूँद सों सूट रची है, को वाहन को सूदा ॥”

(बीजक, सवद 75, पृ० 224)

कबीरदास का कहना है कि ऊँची जाति वाले अपनी जाति के अहंकार में नष्ट हो गये क्योंकि उनके रोम-रोम में अहंकार भरा पड़ा था। आत्मज्ञान के बिना, शरीर को ही आत्मा मानने वाले, चारों ही वर्ण चमार हैं -

“बड़े गये बड़ा पने रोम रोम हंकार।

सतगुरु को परचै बिना चरिउ वरन चमार ॥”

(बीजक, साखी 139, पृ० 407)

कबीरदास कहते हैं - परमात्मा के एक ही प्रकाश से सारी सृष्टि हुई है इसलिये कौन भला, कौन बुरा है? सभी मानव एक ही हैं -

“अला एकै नूर उपनाया ताकी कैसी निदा।

तानूर थे सब जग कीया कौन भला कौन मंदा ॥”

(कबीर ग्रन्थावली, पद 51, पृ० 81)

ऊँच-नीच का भेद मिथ्या है - संत कबीर कहते हैं कि ‘ऊँच - नीच का

कथन ही नीचना है क्योंकि संपूर्ण संसार पंचमहाभूतों अर्थात् पवन-जल-मिट्टी-इत्यादि से बनता है, उनका स्रष्टा ब्रह्मा है। कुंभकार रूपी ब्रह्मा ने एक ही चाक पर संपूर्ण संसार का निर्माण किया है। प्राणी, नाद-विन्दु (रज-वीर्य) के द्वारा शरीर धारण करता है। सभी में एक ही ज्योति समान रूप से व्याप्त है। नाम रक्कर भेद किये हैं। जब आत्मा इस शरीर से अलग हो जाता है तब उसकी कौन सी जाति रह जाती है? आत्मा श्याम है या श्वेत है, बाल है या पीला है, उसका कोई वर्ण है क्या? वह गर्म है या ठण्डा? सन्त कबीरदास कहते हैं कि किससे कहें कोई मानता नहीं। जो परमात्मा का सेवक है वही वास्तविक तत्व को जानता है -

“उंच नीच है मध्य की बानी। एकै पवन एक है पानी ॥

एकै मटिया एक कुम्हारा। एक सभन का सिरजनहारा ॥

एक चाक सब चित्र बनाई। नाद - बिंद की मध्य समाई ॥

व्यापिक एक सकल की ज्योति। नाम धरे का कहिये भोति ॥

हंस देह तज न्यारा होई। ताकर जाति कहें धौं कोई

स्याह सफेद कि राता पियरा। अवरन बरन कि ताता सियरा ॥

कहिये काहि कहा नहि माना। दास कबीर सोई वै जाना ॥”

(बीजक, विप्रमतीसी, पृ० 294-295)

तुम जन्म से बड़े और हम छोटे कैसे हो गये ? - अभी तक तो सभी सन्त तथा भगवद्भक्त कहते थे कि ईश्वर की दृष्टि में सभी समान हैं किन्तु कबीरदास पहले सन्त हैं जो हिम्मत से पूछते हैं कि क्यों भई तुम जन्म से ही बड़े किस आधार पर हो गये, यह बात हमको तो बताओ। हम छोटे कैसे हो गये? क्यों पाण्डे, यह छूत कहाँ से आई? हमको समझाओ तो सही। संत कबीर कहते हैं- ‘मनुष्य जन्म से ब्राह्मण या शूद्र नहीं हो सकता। चाहे राजा हो या प्रजा, सभी का आदि ॐ है। एक ही रक्त तथा एक ही प्राण सभी में है। एक ही स्थान पर दस मास तक जन्म के पूर्व रहे थे, एक ही प्रकार से माँ ने हम सभी को जन्म दिया। इसमें तुमको कौन सा जान और प्राण हो गया जिससे तुम अलग हो गये’ -

“ऊँकार आदि है मूला। राजा परजा एकहि मूला ॥

हम तुम माँ है एकै लोहू। एकै प्राण जीवन है मोहू ॥

एक ही बास रहै दस मासा। सूतग पातग एकै आसा ॥

एक ही जननी जन्मो संसारा। कौन ग्यान थे भये निनारा?”

(कबीर ग्रन्थावली, चौपदी रमैणी, पृ० 185)

मन कबीरदास कहते हैं कि मनों की जानि पृथ्वी व्यर्थ है-

“मन जात न पूछो निरगुनियाँ।

साध ब्राह्मन साध छतरी, साधे जाती बनियाँ।

साधनमाँ छत्तीस कौम है, देही तोर पुछनियाँ।

साधे नाऊ साधे धोबी, साधे जाति है बरियाँ।

साधनमाँ रैदास संत हैं, सपुच ऋषि सो भँगियाँ।

हिन्दु-तुर्क दुई दीन बने हैं, कछु नहीं पहचनियाँ।”

(कबीर, पृ. 179)

संत कबीर यही कहते हैं कि निर्गुण की साधना करने वाले लोग जानि-पाँति नहीं पूछते। साधुओं में सभी जानियों के लोग हैं। अन्त में भक्त रैदास तथा सपुच ऋषि की चर्चा कबीर करते हैं। ये सपुच ऋषि कौन हैं? यज्ञसागर, उग्रगीता आदि कबीर ग्रन्थों में बताया गया है कि कलियुग के आरम्भ में जब कबीर साहब इस पृथ्वी पर प्रगट हुए, ये तो काशी के सुदर्शन नामक महान्मा ने उनसे दीक्षा ली थी। वे जाति के भंगी थे। युधिष्ठिर ने महाभारत युद्ध जीतने के पश्चात् भ्रातृ-हत्या के पाप से उद्धार पाने के लिए एक बड़ा यज्ञ किया था। श्रीकृष्ण चन्द्र ने इस यज्ञ में एक घंटा वाँध दिया था। जब घंटा सात बार बजे तभी पाप छूटेगा, ऐसा संकेत कर दिया था। हजारों ब्राह्मण और साधू भोजन कर चुके पर घंटा नहीं बजा, तब श्रीकृष्ण के कहने पर भीम काशी के सुदर्शन भंगी को लिवा लाने गए। भीम के अहंकार के कारण सुदर्शन ने जाना अस्वीकार कर दिया। तब स्वयं युधिष्ठिर जाकर उन्हें ले आए और भोजन कराया। उनके भोजन करने पर घंटा बजा। प्रयाग क्षेत्र में श्रीकृष्ण के कहने से सब लोगों ने वहाँ जल में अपनी छाया देखी तब केवल सुदर्शन की छाया मनुष्य की थी, बाकी सबकी कुत्ते आदि निकृष्ट जीवों की। इन्हीं सुदर्शन (सपुच ऋषि) का वर्णन श्रेष्ठ साधू के रूप में कबीर ने किया है। (कबीर, पृ. 179-180)

छुआछूत केवल पण्डितों-पुरोहितों की कल्पना है -संत कबीर अक्वड़पन में पण्डित में पूछते हैं- ‘क्यों पाण्डेय, तुम जानि पूछकर पानी पीते हो परन्तु तन्वों के स्वरूपों का विचार क्यों नहीं करते। जिस मिट्टी के घर में तुम बैठे हो, इस मिट्टी में सारी सृष्टि समा गयी है। इसी मिट्टी में, कगोड़ों यदुवंशी, अठामी हजार मुनिजन मिल गये। कदम-कदम पर पैगम्बर गढ़े हुए हैं। सभी सड़-गल कर मिट्टी बन गये (उसी मिट्टी के वर्तन बने हैं)। नदियों के जल में, मछली-कछुए-

घड़ियाल प्रभव करने हैं तथा उनके रक्त में जल भरा रहता है। गाय का दूध तो अस्थि-मज्जा को र्गर्ग करना हुआ आता है फिर भी तुम उसको पीते हो और मिट्टी को अप्रगुय कहते हो? अन्त में कबीरदास निर्भीकता से कहते हैं ‘यह सब बाने छोड़ दो पाण्डे, यह सब तुम्हारे द्वारा फैलाया गया भ्रम है और यह सब तुम्हारी कल्पना है-

“पाँडे बूझि पियहु तुम पानी।

जेहि मटिया के घर मैं बैसे, तैमंह सिस्टि समानी।

छप्पन कोटि जादौ जहँ भीजे, मुनीजन सहस अठामी।

पैग पैग पैगम्बर गाढ़े, सो सब सरि भौ माँटी।

तेहि मिटिया के भाँडे पाँडे, बूझि पियहु तुम पानी॥

मच्छ कच्छ घरियार बियाने, रुधिर-नीर जल भरिया।

नदिया नीर नरक बहि आवै, पसु-मानस सब सरिया॥

हाड़ झरी झरि गूद गरी गरि, दूध कहाँ ते आया।

सो लें पाँडे जेवन बैठे, मटियहि छूत लगाया॥

वेद कितेव छौँड़ि देउ पाँडे, ई सब मन के भरमा।

कहहि कबीर सुनहु हो पाँडे, ई तुम्हरे हैं करमा॥”

(कबीर, पृ. 242)

मन कबीरदास ने हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के कर्मकाण्डीय ढोंग तथा जड़ता का विरोध किया। पंडित तथा मुल्ला मौलवी दोनों को एक साथ कबीर लनाड़ने हैं-

“पाहन पूजै हरि मिलै तो मैं पूजूं पहाड़।

याते ये चाकी भली पीस खाय संसार॥

कांकर पाथर जोड़ के मस्जिद लई चिनाय।

ता चढ़ मुल्ला वाँग देत क्या बहिरा हुआ खुदाय॥”

सबका मूजनहार एक परमात्मा है - मन कबीर मानते हैं कि एक ही परमात्मा का अणु सब में विराजमान है-

“एक पवन एक ही पानी, एक जोति संसारा।

एक ही खाक धड़े सब भाँडे, एक ही सिरजनहारा॥”

(कबीर ग्रन्थावली, पद 55, पृ. 82)

दूसरे के दुःख का स्वयं अनुभव करो - जो दूसरे का दुःख अनुभव नहीं कर

सकता वह माधु या पीर कैसे हो सकता है -

“कबिरा मोई पीर है जो जाने पर पीर।

जो पर पीर न जानई सो काफिर बे पीर।”

(कबीर वचनावली, विविध 699, पृ. 153)

भक्तिभाव से सराबोर कबीर- कबीरदास राम के परम भक्त हैं किन्तु उनके आराध्य दशरथ पुत्र राम नहीं हैं। वे तो घट-घट वामी राम हैं, वे गोम-गोम में बसते हैं। राम नाम के बिना सब संसार बेकार है। अपनी पत्नी लोई को मँवत करके वे कहते हैं-

“कहत कबीर सुनहू रे लोई, राम नाम बिन और न कोई॥”

(कबीर ग्रन्थावली, पद 367, पृ. 157)

राम नाम के स्मरण से परम पद (ब्रह्म ज्ञान) की प्राप्ति होती है तथा समस्त विघ्न विकार मिट जाते हैं-

“राम के नाम परम पद पाया, छूटे विघ्न विकारा॥”

(कबीर ग्रन्थावली, पद 267, पृ. 134)

राम का नाम ही संसार में सार है और यही भवसागर से तरने का साधन है -

“राम नाम संसार में सारा, राम नाम भौ तारनहारा।”

(कबीर ग्रन्थावली, सतपदी रमैणी, पृ. 173)

मुझ को राम नाम के अतिरिक्त और कुछ भी पढ़ने की आवश्यकता नहीं है -

“नहिं छाड़ौ बाबा राम नाम, मोहि और पढ़न सूँ कौन काम”

(कबीर ग्रन्थावली, पद 379, पृ. 161)

भक्ति विरोधी धार्मिक आचार अधर्म हैं - कबीरदास कहते हैं कि सभी कार्यों का आधार भक्ति होनी चाहिये। भक्ति रहित योग, यज्ञ, व्रत, दान, आदि निरर्थक है-

“भक्ति विमुख जे धर्म सो सब अधर्म करि गाये।

योग यज्ञ व्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखाए॥”

(हिन्दी संत काव्य-ममाज शास्त्रीय अध्यायन, पृ. 36)

कबीरदास तो वीर साधक हैं। वे भक्ति की साधना में लीन हैं। उन्हें अपनी भक्ति पर भरपूर विश्वास जो है। वीरना तो अखण्ड आत्मविश्वास का सहारा पाकर अपना नेवर दिखलाती है। इस दृढ़मय आत्मविश्वास के कारण ही तो वे मस्त हैं, फक्कड़ हैं और अक्कड़ भी हैं। कबीरदास की भक्ति उथली नहीं

है। अखण्ड विश्वास पर आधारित भक्ति ने उनको वीर बना दिया है। नभी तो वे भक्ति के निमित्त सबकुछ देने को नैयाग रहते हैं और कहते भी हैं कि भक्ति करना तो वीरों का काम है-

“भगति देहुली राम की, नहिं कायर का काम।

सीस उतारै हाथि करि, सो लेसी हरि नाम॥”

(कबीर, पृष्ठ 129)

अपने इष्टदेव के प्रति अखण्ड अविचलित आत्मविश्वास से उपजी वीरता ने उनकी वाणी में कैसी असाधारण भक्ति भर दी है? कबीरदास के पास ‘परमाद्भुत रत्न’ भक्ति ही है। इसमें पूर्ण समर्पण है। कुछ भी तो बचाकर नहीं रखा कबीर ने। इस कारण बिनत भाव से वे कहाँ तक पहुँच गए। आत्मसमर्पण की हद तो देखिए-

“कबिरा कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ।

गलै राम की जेवड़ी, जित खैचै तित जाउँ॥

तो तो कर तो बाहुडों, दुरि दुरि करै तो जाउँ।

ज्यूँ हरि राखै त्यूँ रहौं, जो देवै सो खाउँ॥”

(कबीर, पृ. 130)

कबीरदास राम के कुत्ते के रूप में अपना परिचय देते लजाए नहीं। वे कहते हैं- ‘कबीर राम का कुत्ता है, मुतिया उसका नाम है। राम ने ही मुतिया के गले में एक रस्सी बाँध दी है। सो वह जिधर मींचता है, मुतिया उधर ही जाता है। जब वह तो-नो करके पुकारता है तो मुतिया भी उसके पास चला जाता है और जब दुर-दुर करता है वेचारे मुतिया को भागने के सिवा और चारा ही क्या है? कबीरदास कहते हैं कि भगवान् जैसे रंगे रंगे ही रहना श्रेयस्कर है, वह जो दे दे वही खा लेना कर्त्तव्य है। सारल्य का यह चरम दृष्टान्त है।

कबीरदास के गोम-गोम में भक्ति बसी हुई है। संत कबीर ने उसी भक्ति का व्यापक प्रचार किया। भक्ति को सर्वश्रेष्ठ तथा सभी सद्गुणों का आधार माना। कहा जा सकता है कि द्रविड़ देश में उपजी हुई जिस भक्ति को स्वामी रामानन्द उत्तराखण्ड में ले आये थे उसे संत कबीर ने मत्तद्वीप तथा नवखण्डों में व्याप्त कर दिया-

“भक्ति द्वाविड़ उपजी लाए रामानन्द।  
परगट किया कबीर ने, सत्तद्वीप-नवखण्ड।”

(कबीर, पृ० 116)

मंत कबीर वेद विरोधी नहीं हैं - वस्तुतः कबीरदास पुस्तकीय ज्ञान के विरोधी नहीं हैं। उनका विरोध तो ऐसे लोगों में है जो वेद आदि पढ़ने हैं किन्तु उनके मर्म को नहीं जानते। वेद आदि झूठे नहीं हैं, झूठे तो वे लोग हैं जो धर्मग्रन्थों का नाम लेकर स्वार्थ-सिद्धि में लगे हैं-

“वेद कतेब कहहु मत झूठे, झूठा जो न विचारै।”

(कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ. 214)

कुछ लोग कबीरदास को निर्गुणी मानते हैं किन्तु मंत कबीर तो निर्गुण-सगुण के भी ऊपर हैं, वे कहते हैं -

“सगुण की सेवा करौ निर्गुण का करू ज्ञान।

निर्गुण सगुण के परे तहै हमारा ध्यान॥”

(कबीर रचनावली, कर्तारिण्य, 10, पृ० 95)

कबीरदास का ब्रह्म, निराकार और साकार की शब्द व्याख्या से भी ऊपर है-

“कोई ध्यावे निराकार को, कोई ध्यावे साकारा।

वह तो इन दोऊ ते न्यारा, जाने जाननहारा।”

(कबीर रचनावली, कर्तारिहता 12, पृ० 166)

कबीरदास का मन एक निरंजन परब्रह्म में लग गया और सभी भ्रम दूर हो गये-

“कहै कबीर भरम सब भागा। एक निरंजन सँ मन लागा।”

(कबीर ग्रन्थावली, पद 338, पृ० 152)

मंत कबीर आत्मज्ञानी की स्थिति में - धीरे-धीरे कबीरदास अन्तर्मुखी होते चले गये, वही आत्मज्ञानी की स्थिति है, वही व्यक्ति पूर्णब्रह्म का साक्षात्कार करता है-

“पूरे की पूरी दृष्टि, पूरा करि देखी।”

(कबीर ग्रन्थावली, पद 181, पृ० 112)

कबीरदास स्वयं अपने अनुभव को कहते हैं कि मुझको यह परमानन्द की अनुभूति, प्रभु कृपा अर्थात् रामप्रसाद के रूप में मिली है -

“कहै कबीर मैं पूरा पाया भय राम परसाद॥”

(कबीर ग्रन्थावली, पद 281, पृ० 137)

कबीरदास पूर्णब्रह्म में समा गये अर्थात् ब्रह्म के साथ एकाकार हो गए। इसीलिए मंत रैदास कहते हैं कि हम पर भी कृपा हो-

“तुमह तो पूरन ब्रह्म समाये, हम पर होय दयाला।”

(कबीर रैदास गोष्ठी, अंक-1, पृ. 51, 1)

मंत कबीरदास तो ब्रह्म को ही परमतत्त्व, परमार्थिक सत्य मानते हैं। उनको संसार में ब्रह्म के अलावा कुछ नहीं दिखता। सभी उसी में से निकले हैं और उसी पूर्ण ब्रह्म में विलीन होंगे। सभी पूर्ण हैं और सभी उस पूर्ण ब्रह्म में विलीन हैं। कबीरदास ने इसी परसत्य की अनुभूति की। इसका साक्षात्कार किया, उस परब्रह्म में अपने को अनुभव किया। जिसके बाद कोई दुःख नहीं कोई सुख नहीं। फिर कोई अपूर्णता नहीं, सदैव पूर्णता ही पूर्णता। उसी को बृहदारण्यकोपनिषद् में गाया है -

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णं पूर्णतत्त्वमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमिवावशिष्यते॥

मृत्यु पूर्व मगहर चले गये - कबीरदास, जीवन भर काशी में रहे किन्तु उन्होंने तीर्थ सम्बन्धी जड़ता का विरोध किया। बाह्याडम्बरों का खण्डन करने वाले कबीरदास को अपने राम पर विश्वास था। लोग कहते हैं कि काशी में मरने से मोक्ष मिलता है और मगहर में मरने वालों को नरक मिलता है किन्तु कबीरदास को तो अपने राम पूरा भरोसा है। कबीरदास कहते हैं कि यदि हम भी काशी में ही मरेंगे तो हमारे राम का क्या अर्थ रहा? फिर राम को कौन याद करेगा? संत कबीर मृत्यु के पूर्व मगहर चले गये और वहीं प्राण छोड़े-

“क्या काशी क्या ऊसर मगहर, राम हृदय बस मोरा।

जो काशी तन तजै कबीरा, रामहिं कौन निहोरा॥”

संत कबीर की निर्मल भक्ति देखकर, हिन्दुओं की तथाकथित सवर्ण जातियों के हजारों लोग, कबीरदास की गालियाँ खाकर भी संत कबीर की शरण में आ गए।

कबीरदास विलक्षण हैं, निराले हैं - दवे कुचले लोगों को कबीरदास एक दवंग वाणी देते हैं। जो मंच है और मानवीय है उसे कहने में कोई संकोच नहीं करते, वे पक्षपात रहित समीक्षक हैं, जाति, वर्ण, धर्म आदि के आधार पर होने वाले सभी भेदभावों का वे खण्डन करते हैं। उनमें विनयशीलता और अस्वइप्पन का अद्भुत संयोग है। वे वैष्णवभक्त हैं किन्तु वैष्णवों के पाखण्ड की निन्दा से नहीं चूकते। साथ परम्परा के अनुसार कुण्डलिनी जागरण से शरीर की परमज्योति

के साक्षात्कार का उपदेश देने हैं किन्तु नाथयोगी अवधूतों को लताड़ते हैं, भक्ति के पायण्ड का विरोध करने हैं किन्तु स्वयं को राम का कुत्ता या राम की बहुरिया कहने में संकोच नहीं करते। वे मुमलमान के घर जन्मे किन्तु मुमलमान नहीं हैं साथ ही मुल्ला मौलवियों को जी भर कर कोमते हैं। स्वामी रामानन्द के शिष्य हैं किन्तु हिन्दुओं के सभी ढोंग का विरोध करते हैं। साधु होते हए भी साधु नहीं (गृहस्थ) हैं, वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं, योगी होकर भी योगी नहीं, भगवान् ने उनको सबसे अलग बनाकर भेजा है, वे निराले हैं, वे विचित्र हैं। ढोंग पायण्ड से त्रस्त, समस्त मानव जाति के लिए निर्भीक, मुखरित वाणी का नाम कबीर है। वे भक्त हैं, सन्त हैं, ब्रह्ममय हैं और साथ ही वे मच्चे समाज सुधारक भी तो हैं। पिछड़ी कही जाने वाली जातियों के हृदय में उन्होंने स्वाभिमान का भाव भरा, उन्हें भक्ति का मार्ग दिखाया तथा सम्मानजनक स्थान के साथ ही साहसभरी वाणी भी दे दी। आज भी वे उतने ही प्रासंगिक और जीवन्त हैं जितने 600 वर्ष पूर्व थे।

#### \* सन्त सधना - (14 वीं शताब्दी)

कुछ लोग उन्हें खटीक तथा कुछ कसाई बताते हैं। संत सधना मांस वेचने का कार्य करते थे किन्तु जीव हत्या नहीं करते थे। ये स्वामी रामानन्द के शिष्य थे। भक्त रैदास से आयु में बड़े थे तथा संत रैदास ने भी इन्हें कबीर, नामदेव, त्रिलोचन के समकक्ष रखा है। भक्तिभाव से परिपूर्ण इनका एक पद श्रीगुरु ग्रन्थसाहिब में लिया गया है। संत-सधना के घर पर सैकड़ों भक्तों की भीड़ एकत्रित होती थी जिस में सभी जातियों के लोग श्रद्धाभाव से आते थे।

सन्त सधना के जीवन के विषय में बहुत जानकारी उपलब्ध नहीं है किन्तु संत गाथा नामक पुस्तक में आपके छह पद दिये गए हैं। संत रैदास ने इनकी भक्ति से प्रभावित होकर इनकी गणना नामदेव, कबीर तथा त्रिलोचन के साथ की है-

“नामदेव कबीर त्रिलोचन, सधना सैणु तरे।”

(संत और सूफी साहित्य, पृ० 91)

अपने कुल के परम्परागत कार्य के अनुसार वे मांस बेचने का काम करते थे। अनजाने में गंडकीयुत अर्थात् शालिग्राम की बटिया का उपयोग बाट की जगह होता था। एक दिन किसी साधु ने शालिग्राम का ऐसा अपमान देखा तो चिढ़ गया और बटिया को पूजा के लिए अपने घर ले गया। कहते हैं कि स्वप्न में शालिग्राम ने उसे आज्ञा दी कि मुझे संत सधना के ही पास पहुँचा दो, तब उसने ऐसा ही किया।

संत सधना के ऊपर इसका इतना प्रभाव पड़ा कि वे अपने कुल का उद्यम छोड़कर जगन्नाथ जी चले गए। श्रीगुरु ग्रन्थसाहिब में सधना का पद देखकर लगता है कि रचना में भक्ति के साथ प्रौढ़ता भी है। सधना ईश्वर की शरण ही माँगने हैं-

“एक बूँद जल कारनै चातक दुख पावै।

प्रात गए सागर मिलै फुनि काम न आवै॥

प्रात जु थाके थिर नहीं कैसे बिरमावौ।

बूढ़ि मुए नौका मिलै कहु काहि चढ़ावौ॥

मैं नाहीं कछु हौं, नहीं कछु आहि जु मोरा।

औसर लज्जा राखि ले सधना जन तोरा॥”

(संत और सूफी साहित्य, पृ० 92)

अर्थात् सधना प्रभु से प्रार्थना करता है कि एक बूँद जल के कारण चातक कितना दुःख पाता है, प्राण निकल जाने के पश्चात् यदि सागर भी मिला तो वह किम काम का है, अर्थात् व्यर्थ है। प्राण भी तो स्थिर नहीं है मैं कैसे पूजा करूँ। यदि डूबने के बाद नाव मिली तो व्यर्थ है। मैं तो कुछ भी नहीं हूँ प्रभु इस अवसर पर अब आप ही मेरी लज्जा रख लीजिए।

\* सन्त रैदास (वि.सं. 1433-1584; ई. सन्. 1376-1527) काशी

संत रैदास का जन्म वाराणसी के चर्मकार परिवार में हुआ था। अपनी आध्यात्मिक साधना, चरित्रबल तथा विनयशील स्वभाव के कारण लाखों लोग, उनके जीवनकाल में ही उनके शिष्य हो गये। अपने पारिवारिक कार्य (जूता बनाने) को लेकर उनको कोई ग्लानि नहीं थी।

स्वामी रामानन्द के शिष्य - पंचगंगा घाट के प्रसिद्ध मन्त स्वामी रामानन्द का शिष्य बनने की इच्छा भक्त रैदास के मन में जागी तो स्वामी रामानन्द ने इसे तुरन्त स्वीकार कर लिया। भक्त रैदास ने कहा हम चमार हैं तो स्वामी रामानन्द ने कहा प्रभु के यहाँ कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। स्वामी रामानन्द ने रैदास को प्रभुराम की भक्ति करने तथा भजन लिखने का आग्रह किया। भक्ति-भाव से पद लिखना, भक्तों के मध्य गाना किन्तु जूते बनाने का अपना व्यवसाय भी करते रहना, यही उनकी दिनचर्या हो गयी।

जातिभेद मिथ्या है - भक्त रैदास कहते हैं कि- सभी का प्रभु एक है तो यह जातिभेद जन्म से क्यों आया? यह मिथ्या है -

“जाति एक जामें एकहि चिन्ह, देह अवयव कोई नहीं भिन्ना।

कर्म प्रधान ऋषि-मुनि गावें, यथा कर्म फल तैसहि पावें।  
जीव के जाति वरन कुल नाहीं, जाति भेद है जग मूरखाई।  
नीति-स्मृति-शास्त्र सब गावें, जाति भेद शठ मूढ़ बतावें।”

(हमारे साधू मन्त्र, भाग - 1, पृ. 17)

अर्थात्- ‘जीव की कोई जाति नहीं होती, न वर्ण, न कुल। ऋषि मुनियों ने वर्ण को कर्म प्रधान बताया है, हमारे शास्त्र भी यही कहते हैं। जाति भेद की बात मूढ़ और शठ करते हैं। वास्तव में सबकी जाति एक ही है।’ संत रविदास कहते हैं कि सन्तों के मन में तो सभी के हित की बात ही रहती है। वे सभी के अन्दर एक ही ईश्वर के दर्शन करते हैं तथा जाति-पाँति का विचार भी नहीं करते-

“संतन के मन होत है, सब के हित की बात।

घट-घट देखें अलख को, पूछें जात न पात॥”

(संत रविदास, पृ. 119)

संत रैदास ने जातिगत भेदभाव की व्यवस्था को अपनी वाणियों में बहुत ही सहज ढंग से व्यक्त किया और लोगों को समझाया कि जन्मना कोई श्रेष्ठ या नीच नहीं होता। ओछे कर्म ही व्यक्ति को नीच बनाते हैं-

“रविदास जन्म के कारनै, होत न कोऊ नीच।

नर को नीच करि डारि है, ओछे करम की कीच॥”

(हिंदी संत काव्य: समाज शास्त्रीय अध्ययन, पृ. 264)

उनके विचार से जन्मना कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नहीं है। ऊँची जाति का व्यक्ति वही है जिसके कर्म अच्छे हैं-

“ब्राह्मन् खसरी वैंस सूद, रविदास जनम ते नाहिं।

जौ चाहइ सुवरन कउ, पावइ करमन माहिं॥”

(वही, पृ. 264)

संत रविदास कहते हैं कि तुम्हारी जाति कोई भी क्यों न हो भगवद्भक्ति सभी का उद्धार करने में सक्षम है-

“ब्रह्मन वैंस सूद अरु ख्यत्री डोम चंडार म्लेक्ष मन सोई।

होई पुनीत भगवत भजन ते आपु तारि तारे कुल दोई॥”

(संत रविदास, पृ. 121)

आत्म-सम्मान हेतु रैदास का संघर्ष - संत रैदास को जिस जातिगत घृणा से लड़ना है वह हिन्दू समाज की अपनी ही हीनता तथा जातिभेद में से उपजी हुई

अमानवीय क्रूरता की निर्यात है। संत रैदास अध्रम कही जाने वाली जानियों के अन्दर पैदा हो गयी क्रान्तिकारी चेतना के आग्रही-जुझारू तथा म्वाभिमानी पथ-प्रदर्शक बन जाते हैं और अपनी इन जानियों में आन्तर्ममान के लिये भगवद्भक्ति को आधार बनाकर संघर्ष करने हैं।

संत रैदास को मुसलमान बनाने के प्रयास - मदना पीर इनको मुसलमान बनाने आया था किन्तु उनकी भक्ति और आध्यात्मिक माध्रना से प्रभावित होकर रामदास नाम से शिष्ट बन गया। संत रैदास को मुसलमान बनाने से उनके लाखों भक्त भी मुसलमान बन जायेंगे ऐसा मोहकुर उन पर मुसलमान बनने के लिए अनेक प्रकार के दबाव आये किन्तु संत रैदास की श्रद्धा और निष्ठा को हम अटूट पाते हैं। एक ओर तो वे जातिगत भेद, बाह्याचार, डोंग आदि के विरोध में संघर्ष करते हैं किन्तु वैदिक धर्म में अपनी पूर्ण आस्था बग़ल रखते हैं। सिकन्दर लोदी उनको मुसलमान बनाने के लिये प्रलोभन तथा दबाव दोनों की नीति अपनाता है, लोगों को उनके पास भेजना है किन्तु उनका उत्तर सीधा-सपाट है। वे बार-बार हिन्दू धर्म में अपनी श्रद्धा, निष्ठा तथा आस्था व्यक्त करते हैं। उनकी दृष्टि तथा सोच स्पष्ट है-

“वेद धरम है पूरन धरमा, वेद अतिरिक्त और सब भरमा।

वेद धरम की सच्ची रीता, और सब धरम कपोल प्रतीता।

वेद वाक्य उत्तम धरम, निर्मल वाका ज्ञान।

यह सच्चा मत छोड़कर, मैं क्यों पढ़ूँ कुरान।

सुति-सास्त्र-स्मृति गाई, प्राण जाय पर धरम न जाई।

कुरान बहिश्त न चाहिये, मुझको दूर हजार।

वेद धरम त्यागूँ नहीं, जो गल चलै कटार।

वेद धरम है पूरण धरमा, करि कल्याण मिटावे भरमा।

सत्य सनातन वेद हैं, ज्ञान धर्म मर्याद।

जो ना जाने वेद को, वृथा करे बकवाद।”

(हमारे साधू सन्त भाग - 1, पृ. 22-23)

सिकन्दर लोदी ने संत रैदास को कठोर दण्ड देने की धमकी दी तो उन्होंने निर्भीकता के साथ उत्तर दिया -

"म नहिं दब्यू बाल गंवारा, गंग त्याग गहू ताल किनारा।  
प्राण तजू पर धर्म न देऊँ, तुमसे शाह सत्य कह देऊँ।  
चोटी शिखा कबहुँ नहिं त्यागूँ, वस्त्र समेत देह भल त्यागूँ।  
कंठ कृपाण का करौ प्रहारा, चाहैं डुबावो सिन्धु मंजारा॥"

(वही, पृ० 23)

भक्ति रस की निर्मल गंगा - मुस्लिम आतंक के उस कठिन काल में भी संत रैदास ने सच्ची भक्ति की निर्मल गंगा प्रवाहित कर दी। उन्होंने मैकड़ों भक्ति पदों की रचना की और उन पदों को भाव विभोर होकर वे गाने थे। वे अपने इष्ट को गोविन्द, केसव, राम, कान्हा, वनवारी, कृष्ण-मुरारी, दीनदयाल, नरहरि, गोपाल, माधो आदि विविध नामों से सम्बोधित करते हैं किन्तु उनका ईश्वर मन्दिर में मूर्ति की तरह विराजित भगवान् से भिन्न है। वह तो घट-घट वासी निगकार ब्रह्म की सुन्दर प्रतीति है किन्तु भक्त रैदास तो ईश्वर को उसके अनेक नामों द्वारा सम्बोधित करते हैं-

"राम विनु जो कुछ करिगु सब भर्म रे भाई।"

-----  
"ऐसा ध्यान कहैं बनवारी।"

-----  
"माधो संगति मरनि तुम्हारी जगजीवन कृष्ण मुरारी।"

-----  
"कान्हां हो जगजीवन मोग दीनदयाल दयाल नरहरि॥"

(संत रैदास, पृ० 49)

भक्त रैदास कहते हैं कि राम के बिना हम जंजाल से मुक्ति कठिन है-

"राम बिन ससै गांठि न छूटै।

काम क्रोध मद मोह माया, इन पंचनि मिलि लूटै।"

(वही, पृ० 50)

भक्त रैदास परमहंस की निस्पृह स्थिति में पहुँच गए। वे कहते हैं कि मैंने संसार के सब रिश्ते तोड़ दिये हैं, अब तो केवल प्रभुचरणों का ही सहारा है -

"मैं हरि प्रीति सबनि सौं तोरी, सब सौं तोरी तुम्हें संग जोरी।

सब परिहरि मैं तुम्हीं आसा, मन बचन क्रम कहै रैदासा॥"

(वही, पृ० 51)

भक्त रैदास के अभीष्ट राम हैं। सर्वव्यापी राम। उसी भक्ति के सहारे वे जीवन के सारे कार्य कर रहे हैं। उनके सभी कार्य राम को समर्पित हैं। अब उनका अपना कुछ भी नहीं, जो भी कुछ है वह राम का ही है-

"राम नाम धन पायौ ताथैं, सहज कहैं व्यौहार रे।

राम नाम हम लाद्यों ताथैं, विष लाद्यौ संसार रे।"

समाज में उन दिनों शैव तथा वैष्णव का भेद भी पर्याप्त था किन्तु संत रैदास के लिए शैव और वैष्णव का भेद मिथ्या है, इस दृष्टि में शैव और वैष्णव-भक्ति का भिदा जुला पद जिसमें कृष्ण, शिव तथा राम तीनों की भक्ति एक साथ वे कर रहे हैं, देखिये-

"गोविन्दे चरनारविन्द सों समाधि लागी।

उर भुवंग भरम अंग सन्त न वैरागी॥ ॥ देक॥

जाकैं तीन नैन अमृत वैत, शीश जटाधारी।

कोटि कलि ध्यान अल्प, मदत अनन्त कारी॥ 1॥

जाकैं लील चीन्ह अकल, ब्रम्ह, गलै, रुण्ड माला।

प्रेम मगन फिरत नगन, संग सखा बाला॥ 2॥

ऐसे महेश विकट भेष, अजहु दरस आसा।

कैसे राम मिलूँ तोहि, गावै रैदासा॥ 3॥"

(वही, पृ० 108)

ईश्वर भक्ति में वैचैत भक्त रैदास कहते हैं -

"दर्शन देहो राम दर्शन देहो, दर्शन दीजै राम विलम्ब न कीजै॥"

(वही, पृ० 109)

पूजा का नहीं, पूजा के ढोंग का विरोध- भक्त रैदास कहते हैं, किससे पूजा कहें? नदी का जल मछलियों ने गन्दा कर दिया है, फूल को भौरे ने जूठा कर दिया है, गाय के दूध को बछड़े ने जूठा किया है, अतः मैं हृदय में ही पूजा कर रहा हूँ। उन्होंने पूजा का नहीं बरन् पूजा के नाम पर हो रहे ढोंग का विरोध किया। समाज में ऊँच-नीच का भाव भरा पड़ा था। भक्त रैदास जानते हैं कि उनका जन्म ऐसी जाति में हुआ है जिसको समाज में प्रतिष्ठा नहीं है और इस बात को वे निर्भीकता से स्वीकार करते हैं। इस प्रकार अपनी सम्पूर्ण जाति को जातिगत संकोच से वे

निकालने हैं और सभी को राम की शरण की ओर ले चलने हैं-

“जाति भी ओछी जनम भी ओछा, ओछा करम हमारा।

हम सरनागति राम राइकी, कहै रैदास विचारा ॥”

(वही, पृ० 48)

भक्ति से ही तो प्रभु, प्रभु हैं :- भक्ति वह मार्ग है जो धीरे-धीरे माधक को प्रभु से जोड़ता चलता है और भक्त का अधिकार अपने प्रभु पर बढ़ता चलता है। भक्ति की पराकाष्ठा देखिये कि रैदास कह उठते हैं कि भगवान् आपकी सार्थकता के लिये हम आवश्यक हैं। भक्ति से परिपूर्ण रैदास अधिकार पूर्वक कहते हैं-

“अब कैसे छूटै राम रट लागी।

प्रभुजी तुम चन्दन हम पानी। जाकी अंग-अंग बास समानी ॥

प्रभुजी तुम घन, वन हम मोरा। जैसे चितवत चंद चकोरा ॥

प्रभुजी तुम दीया हम बाती। जाकी जोति बरै दिन राती ॥

प्रभुजी तुम मोती हम धागा। जैसे सोनहिं मिलत सोहागा। ॥

प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा। ऐसी भक्ति करै रैदासा ॥”

(बूंद मिले सागर में, पृ० 24)

अर्थात्, 'प्रभुजी आप चन्दन हैं तो हम पानी हैं, हम आपके साथ मिलकर घिसेंगे तभी तो आपकी सुगन्ध फैलेगी। आप जल भरे मेघ हैं तो हम मोर हैं, हमारे नृत्य करने से ही तो आपकी शोभा होती है। आप चन्द्रमा हैं तो हम चकोर पक्षी हैं। चकोर की आँख ही चन्द्रमा की शीतलता का अनुभव करती हैं। प्रभुजी आप दीपक हैं तो हम उसकी वाती हैं, वाती के बिना कैसे प्रकाश देगा दीपक? आप मोती हैं तो हम धागा हैं किन्तु बिना धागा प्रभु के गले का हार कैसे बनेगा? आप स्वर्ण हैं तो हम मुहागा हैं। हमारे बिना सोना चमकेगा कैसे? प्रभुजी आप स्वामी हैं और हम दास हैं। रैदास ने ऐसे भक्ति करी कि प्रभु के साथ वे एक रूप हो गये। यद्यपि पानी, वाती, धागा, मुहागा आदि मूल्यहीन हैं किन्तु इनके बिना चन्दन, दीपक, मोती, स्वर्ण आदि अपना अस्तित्व नहीं बना पाते।

संत रैदास प्रभु के साथ घुल-मिल गये, एकाकार हो गये। भक्त रैदास ने ऐसा सम्बन्ध जोड़ा है कि प्रभु को यदि प्रभु बनना है तो भक्त रैदास साथ रहेगा, एक क्षण को भी रैदास प्रभु को छोड़ना नहीं चाहते। भक्त रैदास प्रभु को कहते हैं कि मैं तुमको अब नहीं छोड़ूँगा और अब आप भी मुझसे दूर नहीं जा सकते। एक पद में वे गाते हैं-

“जो हम बाँधे मोह फाँस हम प्रेम बंधनि तुम बाँधे।  
अपने छूटन को जतन करहु हम छूटे तुम आराधे ॥”

(मन और मूफी माहित्य, पृ० 122)

अर्थात्, 'हे माधव ! यदि तुमने मुझे ममार के मोह में बाँध रखा है तो मैंने भी तुम्हें अपने प्रेम से बाँध रखा है। मैं तो तुम्हारी आराधना करके बंधन मुक्त हो ही गया हूँ (मेरा भाव्यपक्ष अवश्य चटोगा), तुम अपने छूटने का उपाय करो, कैसे छूटोगे?’

काशी नरेश भक्त रैदास के शिष्य बने - भक्त रैदास ने अपने जीवन में यह मित्र कर दिया कि त्याग, समर्पण और भगवद्भक्ति से व्यक्ति ऊँचा उठता-चलता है और फिर उसकी जाति महत्वहीन हो जाती है। भक्त रैदास का भक्तिभाव देखकर काशी नरेश उनके शिष्य बन गये।

झाली रानी तथा मीरा के गुरु भक्त रैदास - चित्तौड़ के महाराणा उदय सिंह की पत्नी झाली रानी सन्त रैदास की शिष्या हो गयी। कुछ इतिहासकार उस झाली रानी को राणा कुम्भा की माँ तथा कोई उसको राणा सांगा की धर्मपत्नी समझते हैं। सन्त नाभादास ने भक्तमाल में इसका वर्णन किया है -

“बसत चित्तौर माँझ रानी एक झाली नाम,  
नाम बिन काम खालि आनि शिष्य भई है ॥”

(मन रैदास, पृ० 23)

पण्डित्य, शक्ति सम्पन्न चित्तौड़ की कुलवधू मेड़तणी मीरा ने भी भक्त रैदास को ही अपना गुरु स्वीकार किया। कृष्णभक्ति में आकंठ डूबी मीरा अनेक प्रकार का विरोध सहन करती हुई भक्त रैदास की शरण में आ गयी। उन्हीं में मीरा ने आशीर्वाद पाया और भक्ति में लीन हो गई। मीरा और भक्त रैदास का मिलन मधुण और निर्गुण भक्ति धाराओं का मिलन तो है ही साथ ही साथ जातिगत आधार पर भेद मानने वालों को एक सुन्दर अनुकरणीय सीख भी है।

चित्तौड़ के राणा द्वारा भक्त रैदास का सम्मान - भक्त रैदास की ख्याति दूर-दूर तक फैल रही थी तभी चित्तौड़ के मन्दिर में प्राण-प्रतिष्ठा के लिये राणा ने भक्त रैदास को बुलाया। अनेक ब्राह्मणों द्वारा विरोध करने के बावजूद राणा ने मन रैदास का सम्मान किया। पादपूजा की। भक्त रैदास के सम्बन्ध में हरिग्राम व्यास ने अपनी व्यास वाणी में लिखा है-

“एक भक्त रैदास पर बारों बाह्यमन कोटि।” (वही, पृ० 32)

संत रैदास स्वयं अनेक स्थान पर इस बात का उल्लेख करते हैं कि हमारे घर-परिवार के लोग तो अभी भी वनाराम (वाराणसी) के आसपास भरे हुए। जानवर उठाने का कार्य करने हैं। किंतु मैं तो प्रभु का दाम बनकर प्रभु की भक्ति में ही लगा रहा और अब उस दामानुदाम 'रैदास' को आचार्य, विप्र आदि लोग आकर प्रणाम (दण्डवत्) करने हैं। यह सब प्रभु की भक्ति के प्रसाद में ही संभव हुआ है। श्रीगुरु ग्रन्थसाहिब में रैदास का यह पद देखिए-

“जाके कुंटव सब डोर दोवत फिरहिं आजहुँ बनारसी आसापासा।

आचार संहित विप्र करहिं डंडउति तित तनै रविदासत दासा ॥”

(मल्ल रैदास, पृ. 35)

भक्त रैदास को सम्पूर्ण देश में सम्मान मिला तथा उनके 41 पद श्रीगुरुग्रन्थ साहिब में प्रतिष्ठा पाये। भक्त रैदास के साथ पूरी चर्मकार जाति भी प्रतिष्ठित हुई। 'रैदास' नाम एक उपाधि की तरह बन गया। हजारों सवर्ण कहे जाने वाले लोग संत रैदास के भक्त हो गये। हिन्दू समाज के अन्दर एक जाति खड़ी हो गई, जिसने अपने आप को रैदासी कहने में गौरव की अनुभूति की। संत कबीर ने भी 'संतन में रविदास संत हैं' कहकर इनके प्रति श्रद्धा प्रकट की है।

जाति से कोई पद नहीं पहुँचा- भक्त रैदास ने ही कहा था कि “जाति में कोई पद नहीं पहुँचा”। यह शाश्वत सत्य है कि अपनी जाति के कारण किसी व्यक्ति ने इतिहास में अपना स्थान नहीं बनाया। स्वामी रामानन्द ने धन्ना (जाट), मेता (नाई), रैदास (चर्मकार), कबीर (जुलाहा) को शिष्य क्यों बनाया? मेवाड़ के राणा परिवार की वैभव सम्पन्न कुलवधू मीरा, काशी नरेश तथा झाली रानी ने संत रैदास को क्यों अपना गुरु बनाया? व्यक्ति को बड़ा बनाने का कार्य उसकी विद्या, कर्मउत्ता, श्रद्धा, उदारता, कर्तव्यपरायणता तथा मानवीय पहलू ही करने हैं, उसकी जाति नहीं। इसीलिये भक्त रैदास ने कहा है-

“जाति से कोई पद नहीं पहुँचा ॥”

\* श्रीकृष्णभक्त श्रीवल्लभाचार्य (वि.सं. 1535-1642; ई.सत् 1478-1585)

श्रीवल्लभाचार्य जी के जन्मस्थान के संबंध में पर्याप्त मतभेद हैं। कुछ लोगों के अनुसार वाराणसी के निकट तथा कुछ ने विहार के चंपारन में इनका जन्म माना है। यह वह समय है जब सम्पूर्ण देश में इस्लाम की वर्तना चरम सीमा पर थी। सभी मंदिर तोड़े जा चुके थे तथा हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का क्रम भी तेजी से जारी थी। इस कठिन समय में श्रीवल्लभाचार्य जी ने देश का भ्रमण किया

तथा श्रीकृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। उन्होंने वृज को अपने कार्यक्षेत्र का आधार बनाया तथा गोवर्धन क्षेत्र में श्रीनाथ जी के मन्दिर का निर्माण कराया।

श्रीवल्लभाचार्य जी ने पुष्टिमार्ग का प्रचार किया। 'पुष्टि' का अर्थ है भगवान् की भक्ति करके उनकी कृपा प्राप्त करना। अपनी शक्ति में ब्रह्म जो मुक्ति भक्तों को देता है, वह 'पुष्टि' कहलानी है। श्रीवल्लभाचार्य जी के विचार के अनुसार 'पुष्टि' का संबंध शरीर से नहीं, भगवान् के अंगुष्ठ में है। इस प्रकार श्रीवल्लभाचार्य जी ने श्रीकृष्णभक्ति की निर्मल धारा देश में प्रवाहित की।

उन दिनों देश की सत्ता मुसलमानों के हाथ में जा चुकी थी। समाज में इस्लाम के आक्रमण के साथ-साथ अनेक कुर्गिनियाँ भी आ गई थी। धर्म में विविध प्रकार के बाह्याडम्बर तथा कर्मकाण्ड पैदा होने जा रहे थे। उस परिस्थिति का वर्णन करते हुए श्री आचार्य जी ने स्तोत्र श्रीकृष्णाश्रय में इसका उल्लेख किया है-

“सर्व-मार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि।

पाखण्डे प्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैक निलयेषु च।

सत्पीड्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥”

अर्थात्, 'कलिकाल में दुष्ट प्रकृति के लोगों का प्रादुर्भाव होने तथा पाखण्ड के प्रचुर मात्रा में बढ़ जाने पर जब सभी मार्ग नष्ट हो गए हैं तब कृष्ण ही मेरा शरण, आश्रय है। म्लेच्छों द्वारा पीड़ित देश में जहाँ घर-घर में भी साधुजनों को कष्ट देने के लिए दुष्ट लोग व्याकुल हैं वहाँ कृष्ण ही मेरा आश्रय स्थान है।

उस समय जनता दुःखी तथा निराश्रित थी। श्रीवल्लभाचार्य जी के इस भक्ति-आन्दोलन से सम्पूर्ण उत्तरी भारत में क्रान्ति की एक लहर दौड़ गई। उनके इस भक्ति-आन्दोलन में जानिगत भेदभाव को कोई महत्व नहीं था। श्रीवल्लभाचार्य जी के पुत्र श्रीविट्ठलदास जी ने श्रीकृष्ण के भजन गाने वाले भक्तों की एक मण्डली खड़ी कर दी। इस मण्डली में श्रीवल्लभाचार्य जी के चार शिष्य थे- भक्त मूरदास, भक्त परमानन्ददास, भक्त कुंभनदास, भक्त कृष्णदास। श्रीविट्ठलदास जी के भी चार शिष्य थे- भक्त गोविन्द स्वामी, भक्त ह्रीतन्वामी, भक्त चतुर्भुजदास तथा भक्त नन्ददास। इस प्रकार ये आठ शिष्य आगे चलकर 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

ये भक्तगण प्रतिदिन नये-नये पदों की रचना करते तथा उनका गायन करते थे। राग-रागिनियों में बंधे ये पद शीघ्र ही जन-जन के कण्ठहार बन गए।

अनेक मुमलमान भी इन भक्तों में आकर जुड़ गए, भक्त समूहान भी उनमें से एक थे। पुरीटमार्ग के भक्तों ने अशिक्षितों, तथाकथित शूद्रों, विधर्मियों, स्त्रियों आदि सभी को श्रीकृष्णभक्ति के महज मार्ग पर पहुँचा दिया। सम्पूर्ण उत्तरी भारत में श्रीकृष्ण की निर्मलभक्ति का वातावरण बन गया। अष्टछाप परम्परा के मैकड़ों, माधू, महात्मा भक्तिभाव से संगीत मण्डली के साथ भ्रमण करने लगे। घर-घर में भक्तिर्तन होने लगे। मुसलमानों की अन्यायाचारी प्रवृत्ति के कारण बड़े-बड़े मन्दिर तो नष्ट हो गये थे किन्तु अब घर-घर में मन्दिर स्थापित हो गए। ग्राम-ग्राम का जीवन कृष्णमय हो उठा। निराशा निराश्रित हुई तथा हिन्दू समाज को समरमना, उत्साह तथा विश्वास का नया प्रकाश प्राप्त हुआ। पराजित तथा विश्वव्यति हिन्दू जाति को इस पीयूष-वर्षा ने नवजीवन प्रदान किया।

\* भक्त कुंभनदास - (वि.सं. 1525-1638; ई.सन् 1468-1581) ब्रजक्षेत्र

भक्त कुंभनदास, श्रीवल्लभाचार्य जी की अष्टछाप परंपरा के चार शिष्यों में से सबसे प्रथम शिष्य थे। आपने अपनी जाति, कुल, कुटुंब आदि के बारे में कुछ भी नहीं लिखा है। अन्य भक्तों की रचनाओं में पता चलता है कि कुंभनदास जी ब्रज में गोवर्धन पर्वत से कुछ दूर 'जमुनावतो' गाँव में रहते थे। इनका जन्म गोस्वा क्षत्रिय कुल में हुआ था। वल्लभ सम्प्रदाय में आने के पूर्व से ही ये कीर्तन अच्छा गाते थे इसलिए श्री वल्लभाचार्य जी ने इन्हें श्रीनाथजी के मंदिर में कीर्तन की सेवा दी थी। आगे चलकर वे उच्च कोटि के भक्त, मेवक तथा कवि के रूप में ख्याति पाये।

एकबार किसी ने भक्त कुंभनदास का पद अकबर को सुनाया। अकबर को बहुत अच्छा लगा और सवारी भेजकर इन्हें फतहपुर मीकरी बुलवाया। पहले भक्त कुंभनदास जी ने कहा- 'भाई, हमारा वादशाह में क्या काम ?' अधिक आग्रह पर वे सवारी का उपयोग न करने हुए पैदल ही फतहपुर मीकरी पहुँच गये। जब उन्हें दरबार में बुलाया गया तब वे फटे हुए कपड़े पहने ही अकबर के सम्मुख आ गये। शाही ढंग में सजे हुए स्थान पर अकबर ने बैठने को कहा। जब अकबर ने पद गाने को कहा तो कुंभनदास गाने लगे-

“जाको मनमोहन अंगीकार करै।

एकौ कैसे खसै नहि सर ते, जो जग घेर परे।”

(हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग 5, पृ. 74)

अर्थात्, 'जिसको मनमोहन (परमेश्वर) ने स्वीकार कर लिया हो तो

अनेक भिर के एक बाल को भी कोई काट नहीं दे सकता। चाहे सारी दुनिया ही गंगे घेर क्यों न डाल ले। उस समय उन्होंने एक नया पद भी बनाकर गाया-

“भक्तन को कहाँ मीकरी सौ काम।

आवत जात पन्हैयाँ टूटी बिसरि गयो हरिनाम।

जाको मुख देखी अघ लागे ताको करन पड़ी परनाम।

कुंभनदास लाल गिरधर बिन यह सब झूठो धाम॥”

(हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास-भाग, 5, पृ. 75)

अर्थात्, 'भगवद्भक्तों को मीकरी (अकबर की राजधानी फतहपुर मीकरी) गया लेना-देना। आने-जाने में पैरों के जूते तो टूटते ही हैं साथ ही प्रभु का नाम भी भ्रमण हो जाता है। जिनके मुख को देखने में पाप लगता है ऐसे लोगों को प्रणाम करना पड़ता है। भक्त कुंभनदास कहता है कि हे मेरे गिरधर, यह सब राजधानी धाम झूठी है।' इसको सुनकर अकबर बहुत कुड़ा तथा कुंभनदास जी को कुछ गालों को कहा। कुंभनदास जी को अकबर से कुछ अपेक्षा ही नहीं थी। उनका मन तो था- 'आकर दुखी ही था। भक्त कुंभनदास जी ने निर्भीकता के साथ कह दिया-

“आज पाछे मोको कबहूँ बुलाइयो, मति।” (वही, पृ. 76)

अर्थात् 'आज के पश्चात् मेरे को कभी भी बुलाना नहीं।' इस घटना से भक्त कुंभनदास जी की दृढ़ ईश्वरभक्ति, लौकिक सुख-सुविधा से विरक्ति, हृदय में निर्भीकता तथा सभी बातों में निस्पृहता का पता चलता है। इस प्रकार उन दिनों के संकटकाल में अष्टछाप परम्परा के ये भक्तगण ईश्वर की सर्वश्रेष्ठता को ही जन-जन के चित्त में स्थापित करते हुए इस्लाम के क्रूर शासन की छाया में दूर, भक्ति-जागरण का नया दृष्टि थे। यह भक्ति, समाज-जीवन में वैभव, विलास, लोभ, मोह आदि से परे था। गणवर्ति एवं मानवीय प्रेम का का सृजन कर रही थी।

\* भक्त सूरदास - (वि.सं. 1535-1637; ई.सन् 1478 - 1580) ब्रज क्षेत्र

भक्त सूरदास का जन्म मथुरा के निकट पारसोली नामक ग्राम में हुआ तथा नामाग्रह थे। महात्मा सूरदास अष्टछाप के प्रतिनिधि कवि हैं। वे वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित थे। कृष्णभक्ति की रचनाओं में सूरदास की तुलना में कोई नहीं है। सूरसागर नामक ग्रन्थ में एक लाख में अधिक पद थे किन्तु आज छः सौ ही प्राप्त हैं। सूरसागरवाली तथा साहित्य लहरी उनकी अन्य रचनाएँ हैं। सूरदास गणभक्ति के उपासक हैं। सूरदास का मानना है कि सभी के अन्दर उसी 'मोह' का अंश है। सूरसागरवलि में वे लिखते हैं-

“सकल तत्त्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधिकाल।  
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब हैं अंश गोपाल ॥”

(मध्ययुगीन काव्य साधना, पृ० 101)

एक ब्रह्म के कारण सभी की उत्पत्ति उसी प्रकार हुई है जैसे पानी में मे पानी का बुलबुला प्रकट होता है और उसी में विलीन हो जाता है। सूरसागर के दशम स्कन्ध में वे स्पष्ट करते हैं कि जैसे पानी और वृद्धदे में तात्विक रूप से कोई भेद नहीं है उसी प्रकार सभी मनुष्य समान हैं-

“ज्यों पानी में होत बुदबुदा पुनि तामाहि समाइ।

त्योंही सब जग प्रगटत तुम तैं पुनि तुम माहि विलाइ ॥”

(वही, पृ० 103)

भक्त सूरदास कहते हैं कि सभी के अन्दर वह एक ही ब्रह्म विविध रूपों में शोभा पा रहा है-

“सो हौं एक अनेक भौति करि शोभित नाना भेष।”

(वही, पृ. 103)

महात्मा सूरदास ने भक्ति को सर्वश्रेष्ठ माना है। उन्होंने ज्ञानमार्ग का निषेध तो नहीं किया किन्तु उनका मानना है कि यह सर्वसाध्य नहीं है। सूरदास की भक्ति पद्धति में ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं है-

“जाति-पाति कोऊ पृथक् नहीं श्रीपति के दरबार।” (वही, पृ० 113)

स्वयं वल्लभाचार्य तथा भक्तिमार्ग के अन्य आचार्यों ने भी इस में ऊँच-नीच का भेद नहीं माना। भक्त सूरदास ने ईश्वरभक्ति में कोई भेद मानने से स्पष्ट मना कर दिया। सूरसागर के प्रथम स्कन्ध में वे कहते हैं-

“जाति पाति कुल-कानि न मानत वेद पुराननि साखें।”

(वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन, पृ० 451)

भगवान् तो सभी की प्रीति को मानते हैं। गुहराज, शबरी और गणिका इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। तभी तो व्यास जी ने भी कहा है कि-

“भक्ति में कहाँ जनेऊ जाति”

(वही, पृ० 451)

भगवान् तो भक्त पर कृपा करते हैं। वे भक्त की जाति, गोत्र, कुल, नाम, राजा या रंक आदि का विचार नहीं करते। वात्सल्य-गुणयुक्त ईश्वर भक्त के किसी भी अवगुण को प्रभु नहीं देखते। उनका भक्त चाहे ब्राह्मण हो अथवा शूद्र

विद्वान हो या भूर्ध्व ममान रूप से उनका प्रेम-पात्र हो जाता है। महात्मा सूरदास ने भी भक्तिभाव को ही प्रभुवत्ता दी और कहा-

“राम भक्त वत्सल निज बानों  
जाति, गोत, कुल, नाम गनत नहिं, रंक होये के रानों ॥”

(वही, पृ० 429)

भक्त सूरदास जी ने कृष्णभक्ति के हजारों पदों की रचना की। उनके पद लोकभाषा अर्थात् ब्रजभाषा में थे। शीघ्र ही इन पदों को लोगों ने हृदय में स्वीकार कर लिया तथा सम्पूर्ण ब्रजक्षेत्र में महात्मा सूरदास सूर्य की तरह प्रदीप्त हो उठे। कृष्णभक्ति में अत्यन्त मनोहारी पद गाते हुए लोगों ने जाति-वर्ण तथा भौगोलिक दूरियों का कोई भी विचार नहीं किया। इस्लाम के कूर आतंक में जी रही हिन्दू जाति के लिए यह अमृतकुम्भ की तरह सिद्ध हुआ। ब्रज क्षेत्र का सम्पूर्ण हिन्दू समाज गाँव-गाँव में इन पदों को गाकर आनन्दित हो उठा।

\* गोस्वामी तुलसीदास - (वि.सं. 1554-1680 ई.सन् 1497-1623) काशी

गोस्वामी तुलसीदास का जन्म उत्तर प्रदेश के बाँदा जिले में हुआ था। मूल नक्षत्र में जन्म के कारण वे माँ-पिता दोनों से ही दूर रहे। बचपन में ही बाबा नरहरिदास (नरहर्यादास) के साथ काशी आ गये और स्वामी रामानन्द जी के आश्रम में पंचगंगा घाट पर रहने लगे। 15 वर्ष तक गोस्वामी तुलसीदास ने वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, इतिहास, पुराण, ज्योतिष आदि का गहन अध्ययन किया। विवाह हुआ किन्तु कुछ समय बाद ही घर छोड़ दिया। रामभक्ति में मन लग गया और चारों धाम की यात्रा कर देशभर के हिन्दू समाज की दशा का गहराई से चिन्तन किया और पुनः काशी आकर रहने लगे।

लोकभाषा में श्रीरामचरितमानस का लेखन - स्वामी रामानन्द के विचार के अनुसार ही तुलसीदास ने भी जनसाधारण की भाषा में भगवान् राम के चरित्र लेखन का मन बनाया। तुलसीदास संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे फिर भी समय की आवश्यकता देखकर उन्होंने लोकभाषा अवधी में राम का चरित्र लिखा। अभी तक ईश्वर की भक्ति का साहित्य संस्कृत में ही लिखा जाता था। राम का चरित्र जनभाषा में लिखने का स्थानीय ब्राह्मणों ने विरोध किया। गोस्वामी तुलसीदास का सामाजिक बहिष्कार तक कर दिया गया किन्तु तुलसीदास झुके नहीं। भक्त तुलसी ने लोकजागरण तथा लोक-संस्कार का माध्यम श्रीरामचरितमानस को बनाया। लाखों लोगों ने मानस को कण्ठस्थ कर लिया, सस्वर पाठ किया तथा

मंचन की नई विधा प्रचलित कर दी। इस प्रकार घर-घर पहुँचा मानस, अत्याचार के विन्दु संघर्ष का एक सशक्त शास्त्र बन गया। मानस का अध्ययन करने से पता चलता है कि तुलसीदास किम तरह एक माथ अनेक मोर्चों पर संघर्ष कर रहे हैं-

1. मुस्लिम शासन के आतंक के विरुद्ध - इस्लाम के दीर्घकालीन शासन से हताशा हिन्दू समाज को गोस्वामी तुलसीदास विश्वास दिलाते हैं कि प्रभु आवेंगे और आज का दुःख दूर होगा, दुष्टों का संहार अवश्य होगा-

“जब-जब होइ धरम के हानी, बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।

तब-तब धरि प्रभु विविध सरीरा, हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥”

(मानस-बालकाण्ड 120 घ-3,4)

यवनों के अत्याचार से पीड़ित हिन्दू समाज इस आश्वासन को पाकर उत्साह से भर जाता था। वे राम से कहलवाते हैं कि पृथ्वी को मैं राक्षसों से मुक्त कर दूंगा। तुलसीदास ने मुस्लिम शासन की तुलना राक्षसों से की है। भक्त तुलसी के राम हाथ उठाकर पृथ्वी को राक्षसों से विहीन करने का संकल्प लेते हैं-

“निसिचर हीन करऊँ महि, भुज उठाइ प्रन कीन्ह ॥”

(मानस-अरण्यकाण्ड-9)

गोस्वामी तुलसीदास जनता के आत्मविश्वास को बढ़ाते हैं और कहते हैं कि अत्याचारी राजा नरक में ही जाता है -

“जासुराज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवस नरक अधिकारी।”

(मानस-अयोध्याकाण्ड)

अखाड़े तथा हनुमान मन्दिर-उत्तर भारत में गोस्वामी तुलसीदास घूम-घूमकर अखाड़े प्रारम्भ करते हैं तथा जातिगत भेदभाव भुलाकर अखाड़ों पर युवकों का समूह खड़ा कर देते हैं। ग्राम-ग्राम में हनुमान मन्दिर की स्थापना करवाते हैं। हनुमान चालीसा को सरल भाषा में लिखने के कारण वह पूरे भारत में लोकप्रिय हो गया, हनुमान सभी जातियों के भगवान् हो गये। काशी के अन्दर ग्यारह हनुमान मन्दिरों की स्थापना तुलसीदास स्वयं करते हैं।

रामलीला का आयोजन - प्रथम रामलीला का आयोजन काशी में होता है। हजारों लोगों के सहयोग से रामलीला होती है। सभी जातियों के लोग रामलीला में भाग लेते हैं। सभी एक ही नारा लगाते हैं - बोले “राजा रामचन्द्र की जय” हिन्दू का राजा राम ही है यह विश्वास जन मानस में बे भर देते हैं। उस कठिन

काल में जब ‘दिल्लीश्वरोवा-जगदीश्वरोवा’ का नारा लगना था तब भव्यता के साथ राजा राम का राज्याभिषेक करवाकर हिन्दू समाज के मन में आत्मविश्वास भरने का काम तुलसीदास करते हैं। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने पूरे उन्मत्त भारत में रामलीला का आयोजन करने वाली टोलियों को काशी में प्रशिक्षित कर स्थान-स्थान पर भेजने का व्यापक कार्य अपने हाथ में ले लिया और देशभर में रामलीलाएं प्रारम्भ हो गईं। करेडों हिन्दुओं का हृदय उत्साह, आनन्द एवं आत्मविश्वास से भर गया। तुलसीदास सर्वकालीन सफल संत स्थापित हो गए।

2. सामाजिक समरसता हेतु प्रयास - गोस्वामी तुलसीदास को उस समय व्याप्त सामाजिक विषमता से भी लड़ना है। बड़ी कुशलता से, समाज के नीचे खड़े उपेक्षित निम्न वर्गीय व्यक्ति को वे समाज में सर्वोच्च व्यक्ति द्वारा प्रेमपूर्वक सम्मानित करवाते हैं तथा सामाजिक समरसता का संदेश देते हैं। भीलनी (शबरी), केवट निषाद, जटायु, काकभुशुण्डि तथा हनुमान आदि सभी उस समय समाज में वंचित वर्ग हैं। गोस्वामी तुलसीदास विविध प्रसंगों पर इन सभी को सम्मान दिलाते हैं।

शबरी भीलनी है राम उसके आश्रम पर जाते हैं, जूठे वेर खाते हैं तो शबरी गद्गद हो गई। प्रभु बारम्बार प्रशंसा भी कर रहे हैं -

“कन्द मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आन।

प्रेम सहित प्रभु खाए बारम्बार बखानि ॥”

(मानस-अरण्यकाण्ड-34)

शबरी कहती है कि मैं तो अधम जाति की मन्द बुद्धि नारी हूँ, मैं आपकी स्तुति कैसे करूँ? प्रभु राम बोले -

“कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानऊँ एक भगति कर नाता।

जाति पाँति कुल धर्म बड़ई। धन बल परिजन गुन चतुराई।

भगति हीन नर सोहई कैसा। बिनु जल वारिद देखिब जैसा ॥”

(मानस-अरण्यकाण्ड-34-2,3)

प्रभुराम बोले, ‘शबरी सुनो! मैं तो केवल एक भक्ति का नाता ही जानता हूँ। जाति-पाँति, धन, परिवार, चतुराई आदि मेरे लिये कोई महत्व नहीं रखते। ऊँचे कुल या जाति वाला या धनवान व्यक्ति यदि भक्तिहीन है तो वह उसी प्रकार

शोभाहीन है जिस प्रकार जलहीन मेघ।

अनेक स्थान पर गोस्वामी तुलसीदास ने जाति-पाँति के संवन्ध में निर्गुण मंत्रों की तरह ही अपने विचार रखे हैं। वहाँ जाति-पाँति का कोई अर्थ नहीं है, वह महत्वहीन है। वे कहते हैं कि मेरी जाति-पाँति अथवा किमी और की जाति-पाँति किसी के काम की नहीं है-

“मेरी जाति पाँति न चहों काहू की जाति पाँति  
मेरे कोऊ काम को न हों काहू के काम को ॥”

(हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास-पंचम भाग, पृ. 277)

ऋषि वशिष्ठ तथा भरत आदि निषाद के साथ - भरत और शत्रुघ्न अपनी माताओं को लेकर राम को मनाने चित्रकूट जा रहे हैं। उन्होंने गंगा किनारे दूर से ही निषाद को देखा, लोगों ने कहा यह राम का मन्वा है तो भरत रथ से उतरकर निषाद से मिलने आगे बढ़े और दण्डवत् कर रहे निषाद को गले लगाकर ऐसे भाव विह्वल हो गये जैसे लक्ष्मण से गले मिल रहे हों, हृदय में प्रेम समाता नहीं है-

“करत दण्डवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।  
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेम न हृदयँ समाइ।”

(मानस-अयोध्याकाण्ड, 193)

भगवान् राम शत्रुघ्न से मिलकर केवट से भेंट करते हैं -

“मिलि सप्रेम रिपुसूदनहि केवटु भेंटउ राम।”

(मानस, अयोध्याकाण्ड-241)

लक्ष्मण जी बड़ी ललक के साथ शत्रुघ्न से मिलते हैं फिर निषाद को गले लगा लेते हैं-

“भेंटउ लखन ललकि लघु भाई, बहुरि निषादु लीन्ह उर लाई ॥”

(मानस, अयोध्या काण्ड, 241-1)

अब गोस्वामी तुलसीदास सुन्दर वर्णन करते हैं कि किस प्रकार संकोच से दूर खड़े केवट को ऋषि वशिष्ठ स्वयं आगे बढ़कर हृदय से लगा लेते हैं-

“प्रेम पुलकि केवट कहि नाम, कीन्ह दूर तें दण्ड प्रनाम।  
रामसखा रिषि बरबस भेंटा, जनु महि लुठत सनेह समेता ॥”

(मानस, अयोध्या काण्ड, 242-3)

अर्थात्, केवट प्रेम से पुलकित है। अपना नाम लेकर दूर से ही सभी को प्रणाम कर रहा है। निषाद संकोच रहा है कि इतने बड़े-बड़े लोग हैं इनके बीच में जाना भी उचित नहीं। इस कारण संकोच कर रहा है। ऋषि वशिष्ठ जी उसके मन की बात समझ गये, वे स्वयं आगे बढ़े और निषाद को गले लगा लिया।

इस समुदाय में सबसे छोटा व्यक्ति निषाद है और सबसे श्रेष्ठ व्यक्ति जो राम के भी पूज्य है वे-वशिष्ठ हैं। गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं -

“एहि सम निषट नीच कोउ नाही, बड़ वसिष्ठु सम को जग माहीं।”

(मानस, अयोध्या काण्ड, 242-4)

• भगवान् राम द्वारा जटायु का संस्कार- जटायु सीताजी को बचाने में मारा गया। जिस प्रकार श्वसुर अपनी पुत्रवधू की प्राणरक्षा करता है, वही काम जटायु ने भी किया है, इस कारण भगवान् राम, जटायु को पिता के समान सम्मान देते हैं, उसका अन्तिम संस्कार अपने हाथों पिता के संस्कार की तरह करते हैं -

“गीध अधम खग आमिष भोगी, गति दीन्ही जो जाचत योगी ॥”

(मानस, अरण्यकाण्ड, 32-2)

अर्थात्, ‘गिद्ध जैसे मांसाहारी अधम पक्षी को भगवान् राम ने एक योगी जैसी गति प्रदान कर दी।’ हनुमान तो स्वयं अपने बारे में कहते हैं कि मैं तो सभी प्रकार से हीन उपद्रवी वानर ही तो था- “कपि चंचल सबही विधि हीना।”

प्रभुराम, हनुमान को सभी स्थान पर सम्मान देते हैं। गोस्वामी तुलसीदास भी यह निश्चित कर देते हैं कि जहाँ भी रामकथा होगी वहाँ पर हनुमान का विग्रह अवश्य रहेगा। गोस्वामी तुलसीदास ने ग्राम-ग्राम में हनुमान मंदिर की स्थापना करवायी। वे काकभुशुण्डि द्वारा सम्पूर्ण रामकथा कहलवाते हैं। पक्षियों में अधम माने जाने वाले कौआ यह कथा कहते हैं तथा पक्षीराज गरुड़ श्रद्धापूर्वक रामकथा श्रवण करते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने भगवान् राम, ऋषि वशिष्ठ, भरत आदि के द्वारा विविध प्रसङ्गों के वर्णन से यह स्पष्ट कर दिया कि भक्ति में जाति-पाँति तथा ऊँच-नीच को कोई स्थान नहीं है। रामभक्ति से तथाकथित ऊँच-नीच जातियाँ भी तो जगत विख्यात हो जाती हैं-

“स्वपच सबर खस जमन जड़ पाँवर कोल किरात।  
राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात ॥”

(कबीर, पृ. 35)

3. शैव-वैष्णव सद्भावना - शैव तथा वैष्णवों का विवाद भी कम नहीं था। आध्मी काशी शैवों की तथा आध्मी काशी वैष्णवों की मानी जाती थी। गोस्वामी तुलसी ने भगवान् राम द्वारा रामेश्वरम् में शिवमन्दिर स्थापना का सुन्दर चित्र खींचा। शिव-पार्वती मिलकर रामकथा कहने हैं तथा तुलसी के राम वनाते हैं -

“शिव द्रोही मम दास कहावा, सो नर सपनेहु मोहि न भावा ॥”

(लंकाकाण्ड-1-7)

अर्थात्, ‘भगवान् शिव से द्रोह करने वाला तथा अपने आपको मेरा दास कहने वाला व्यक्ति तो सपने में भी मुझको अच्छा नहीं लगता।’

4. पारिवारिक मर्यादाओं की पुनर्स्थापना - विगत चारसौ वर्ष में श्रीरामचरित मानस को हिन्दू समाज में वह स्थान प्राप्त होगया जो सम्भवतया किसी अन्य ग्रन्थ को नहीं मिल सका। श्रीरामचरितमानस घर-घर में लोकप्रिय हो गया तथा परिवार के सभी सदस्य मिलकर इसका पाठ करते हैं। आदर्श भाई, पत्नी, माँ, गुरु, भक्त तथा सेवक का श्रेष्ठस्वरूप मानस में मिल जाता है। एक आदर्श सयुक्त परिवार का इससे सुन्दर वर्णन विश्व के पटल पर कोई दूसरा कवि नहीं रख सका। इस प्रकार आदर्श राजा और आदर्श प्रजा का चित्र गोस्वामी तुलसीदास ने जनमानस के मन में स्थापित कर दिया। करोड़ों लोगों ने श्रीरामचरितमानस तथा हनुमान चालीसा को कण्ठस्थ कर लिया और जीवन में उतारने का प्रयास किया। मारीशस, सूरीनाम, त्रिनिडाड आदि देशों में लोग मानस और हनुमान चालीसा को लेकर गये और अपने परिवार तथा धर्म को किसी भी संकट से बचाने में सक्षम हुए। तुलसीदास का उपदेश था कि राम घर-घर में पैदा हों तथा हिन्दू परिवारों में राम के परिवार की तरह प्रेम बना रहे। राम के इस कथानक को घर-घर पहुँचाने की दृष्टि से तुलसीदास विश्व के सफलतम संत हैं।

5. राजदरबार नहीं रामदरबार की भक्ति- गोस्वामी तुलसीदास का युग कठिन युग है। मुगलों का शासन था और समाज की भक्ति राज्य की ओर होती जा रही थी। दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा के माहौल में भी तुलसीदास राजदरबार के नहीं बरन् राम के दरबार के भक्त हैं। इस्लाम के शासन के समय समाज के मन में भय व्याप्त है लेकिन तुलसी के राजा राम हैं। सभी स्थान पर वे राजा रामचन्द्र की जय का जयकारा लगाते हैं। अकबर सभी धर्म के विशिष्ट लोगों को आगरा बुलवाता था। उसने गोस्वामी तुलसीदास को भी दरबार में मंसबदारी देने के

लिये आमंत्रित किया किन्तु तुलसीदास इस आमंत्रण को ठुकरा देने हैं। इस प्रकार वे हिन्दू समाज को मुगल दरबार में दूर ‘राम के दरबार’ में जोड़ने का काम कर रहे हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने दोहा लिखकर भेज दिया-

“हम चाकर रघुवीर के, पटों लिखो दरबार।

तुलसी अब का होहिंये, नर के मंसबदार ॥”

अर्थात्, ‘हम जो राम के सेवक हैं। उनके दरबार में हमने पट्टा लिख दिया है कि जीवन भर उन्हीं की सेवा करेंगे। ऐसी स्थिति में अब मनुष्य के मंसबदार कैसे हो सकते हैं?’

\*संत मलूकदास- (वि०सं० 1631-1739; ई.सन् 1574-1682) प्रयाग

संत मलूकदास की जीवनी से सम्बन्धित प्रामाणिक ग्रन्थ ‘परिचयी’ के आधार पर संत मलूकदास की आयु 178 वर्ष रही होगी। संत मलूकदास ने अपने जीवन में चार मुगल शासकों (अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ तथा औरंगजेब) का राज्यत्वकाल देखा था। औरंगजेब की कटुता तथा धार्मिक संकीर्णता का कवि ने सविस्तार वर्णन किया है। हिन्दुओं पर अपने जीवन की रक्षा के लिए तब जजिया तथा मथुरा, गोकुल, काशी, द्वारिका, रणछौर, बदीनाथ, जगन्नाथ, नगरकोट तथा अन्य मन्दिरों में ध्वंस का प्रभावशाली वर्णन भी संत मलूकदास जी ने किया है। यह समय अत्यन्त संकट का समय था। इस प्रकार उस समय की देश की धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों पर संत मलूकदास तथा उनकी विशल सन्त परम्परा ने व्यापक प्रभाव डाला। संत मलूकदास ने उस समय की परिस्थितियों में से हिन्दू समाज को सुरक्षित निकालकर लाने की दृष्टि से निर्गुण ब्रह्म का उपदेश दिया और मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, बाह्याचार, जाति-वर्ग-भेद आदि की कटु आलोचना की।

संत मलूकदास जी का जन्म कड़ा (प्रयाग) में हुआ था। संत मलूकदास जी ने व्यापक साहित्य रचना की। बहुत सरल भाषा में ही गूढ़ ज्ञान को सामान्य-जन के सम्मुख रखने के उद्देश्य से 12 ग्रन्थों की रचना इन्होंने की। आध्यात्मिक विचारधारा तथा दार्शनिक चिंतन में संत मलूकदास बड़े मौलिक हैं। संत मलूकदास जी का ब्रह्म निर्गुण तथा गुणातीत है। वही एक ब्रह्म सबका निर्माता है, उसकी महिमा का आदि अंत नहीं है। वही एक ब्रह्म समस्त सृष्टि का पालक और संहारक है। वह भेदभाव आदि भावनाओं से परे और ऊपर है। संत मलूकदास की रचनाओं में-ज्ञानबोध, रतनखान, भक्तवच्छावली, भक्ति-विवेक, ज्ञान-परोखि, बारहखड़ी,

रामअवतार लीला, ब्रजलीला, धुव-चरित, विभय-विभूति, सुखसागर, पदावली आदि ने बहुत प्रसिद्धि पाई है। मूल मूलकदाम सभी के अन्दर सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की अनुभूति करने हैं-

“राम नाम दोउ बसै सरीरा। जैसे घृत रहे मध्य छीरा।

जैसे रहे तिल में तेला। तैसे राम सकल घट खेला।

जैसे सुमन माँ रहे सुखबोई। तैसे राम सकल घट पोई।

जैसे धरती के बिच पानी। तैसे राम सकल घट जानी।

जैसे दरपन में परछाहीं। तैसे राम सकल घट माहीं।”

(संत और सूफी साहित्य, पृ. 216)

संत मलूकदास जी के पंथ में गरीबों की सेवा करना प्रमुख है। ईश्वर के प्रति भक्तिभाव तथा सेवा को लेकर लाखों लोग इनके अनुयाई हैं। मलूकदामी सम्प्रदाय में इनके शिष्य रूप में गृहस्थ और साधु दोनों ही हैं। अत्यंज, कुलीन, बालक, वृद्ध, हिन्दू, मुसलमान सभी को इस सम्प्रदाय के उच्चादर्शों ने समान रूप से अपनी ओर आकर्षित किया। इस प्रकार संत मलूकदास जी ने सभी प्रकार की सामाजिक विषमताओं को समाप्त करने के सफल प्रयास किये।

\* संत आपा साहब एवं आपापंथ- (वि.सं. 1670-1830; ई. सन् 1613-1773)

निगुणमार्गी साधक तथा कवि संत आपा साहब द्वारा प्रवर्तित ‘आपा पंथ’ का सामाजिक एवं आध्यात्मिक रूप से महत्वपूर्ण स्थान रहा है। संत आपा साहब का जन्म सीतापुर जिले की बिसवाँ तहसील में एक स्वर्णकार परिवार में हुआ था। कबीरदास के समान इन्होंने भी ‘मसि कागद’ का स्पर्श नहीं किया इस कारण इनकी वाणियों को इनके पुत्र अथवा शिष्यों ने ही लिपिबद्ध किया।

ऐतिहासिक दृष्टि से उस समय जहाँगीर तथा शाहजहाँ का शासन चल रहा था। मुल्ला-काजियों के निर्देशों से नियन्त्रित मुगल शासकों की इस्लामी प्रवृत्ति तथा संकीर्ण मनोवृत्ति से हिन्दू नागरिक संतस्त थे। दूसरी ओर समाज में पाखण्ड, अन्धविश्वास, अनाचार, बाह्याङ्ग्य आदि का बोलबाला था। ऐसी कठिन परिस्थितियों में संत आपा साहब ने अपनी निर्द्वन्द्व-निर्भीक वाणी से सामाजिक-धार्मिक, कुुरीतियों, जातिगत विषमताओं एवं विद्वेषताओं पर आघात किया और सर्व-समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए समत्वभावना तथा मानवीय जीवन मूल्यों का प्रचार किया। उन्होंने ईश्वरभक्ति की सरल साधना का मार्ग सभी के सम्मुख रखा तथा प्रभु को प्राप्त करने के लिए तीर्थान आदि को निरर्थक कहा।

संत आपा साहब तथा उनके माथी संतों ने जानि भेद, छुआछूत, कर्मकाण्ड, ऊँचनीच आदि के उन्मूलन हेतु प्रयाम किये। संत कबीर तथा रैदाम की तरह ही आपा साहब ने वर्णव्यवस्था तथा छुआछूत का जमकर विरोध किया। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि एक ही परमात्मा में सभी की उत्पत्ति हुई है नव ब्राह्मण और शूद्र का भेद निरर्थक है। वह परम-तत्त्व तो पशु-पक्षियों तक में विद्यमान रहता है-

“जहं ते जीव तुम्हारो आई, ऐसा ब्रंभ सबै मा छोई।

को बान्न को सूद कहाई। पस-पच्छी जल-जीव समई ॥”

(हिन्दी संत काव्य: ममाज शास्त्रीय अध्ययन, पृ. 115)

संत आपा साहब, पण्डित-पु्रिहितों को भी उपदेश देने से चूकते नहीं। वे उनको कहते हैं कि तुम सांसारिक प्रपञ्च त्याग कर राम-नाम का सुमरिन करो, इसी से तुम्हारा कल्याण होगा-

“पाँडे छोड़ो भव जंजाला, राम नाम तुम पढ़ौ गोपाला ॥”

(वही, पृ. 116)

इस प्रकार उनके व्यापक साहित्य तथा आध्यात्मिक साधना देखकर यह विश्वास होता है कि आपा साहब भी संत कबीर, नानक, दादू आदि उच्च कोटि के पूर्ववर्ती संतों की श्रेणी में ही आते हैं। आपा साहब की सैकड़ों गद्दियाँ सीतापुर, लखनऊ, बहराइच, गोंडा, फैजाबाद, बस्ती, बाराबंकी तथा नेपाल आदि स्थानों पर हैं। आपा पंथ का मुख्य उद्देश्य यही था कि समाज के शोषित, वंचित एवं निम्न वर्ग के लोगों को भी सम्मानजनक स्थान प्राप्त हो सके। क्षेत्र के अध्ययन से यह बात ध्यान में आती है कि इस पंथ के अनुयायियों में पिछड़ी जातियों तथा हरिजनों की संख्या ही अधिक है। अहीर, कुर्मी, रैदास, कोरी, पसी, गड़ेरिया, निपाद, नाई, सोनार, लोध, कुंभार, तमोली आदि जातियों के लोग स्वाभाविक रूप से इस पंथ की ओर आकर्षित होते चले गये।

\* संत शिवनारायण (वि. सं. 1773-1848; ई. सन् 1716-1791)

संत शिवनारायण साहब का जन्म बलिया में माना जाता है। इनके पूर्वज कन्नौज के निवासी थे। संत कबीर तथा रैदास के पश्चात् निगुणमार्गी संत परम्परा के अनेक पंथ उ० प्र० में विकसित हो रहे थे। संत शिवनारायण जी भी शिवनारायणी सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि मुगल सम्राट मुहम्मद शाह इनके शिष्य हो गये थे। निगुणमार्गी संत परम्परा के अनुसार संत शिवनारायण भी पुस्तकीय ज्ञान की निस्सारता को स्वीकारते हैं तथा जातिगत श्रेष्ठता और

हीनता की भावना का विरोध करने हैं। वे स्वीकार भी करते हैं कि हमने तो वेद पढ़े नहीं-

“ मैं बपुरा का जानौ भेदा, नहिं कछु ज्ञान पढ़े ना वेदा।”

(हिन्दी संत काव्य: समाज शास्त्रीय अध्ययन, पृ. 124)

इस पंथ के संतों ने जातिगत भेदभाव तथा छुआछूत की भावना को अस्वीकार कर दिया। इस सम्प्रदाय में किसी भी जाति का व्यक्ति दीक्षित हो सकता था तथा सम्प्रदाय के संतों में किसी भी प्रकार का जाति-वर्ण का विचार नहीं था। पूजन से लेकर भोजन तक सभी जाति के संत एक ही साथ मिल-जुलकर रहते और कर्म करते थे। संत शिवनारायण के समकालीन रहे संत धरनीदास ने ऐसे ब्राह्मणों की निंदा की है जिनका आचरण अच्छा नहीं तथा ऐसे शूद्रों की प्रशंसा की है जो सात्विक वृत्ति के वैष्णव थे-

“ करनी पार उत्तारि धरनी कियो पुकार।

साकित बाम्हन नहिं भला, भक्त भला चमार।

मांस अहारी ब्रह्मना, सो पापी बहि जाउ।

धरनी सूद बइस्नवा, ताहि चरन सिर नाउ॥”

(वही, पृ. 126)

अर्थात्, ‘धरनीदास कहते हैं कि शाक्त ब्राह्मण की तुलना में चर्मकार भक्त भला है। माँसाहारी ब्राह्मण तो पापी है। शूद्र यदि वैष्णव भाव से रहता है तो उसके चरणों में धरनी धर अपना सिर रखता है।’

शिवनारायण सम्प्रदाय के संतों की दृष्टि नकारात्मक न होकर रचनात्मक रही। इन संतों ने अपने आचार-व्यवहार का आदर्श समाज के सम्मुख रखकर सामाजिक कुरीतियों तथा दुर्गुणों को दूर करने के प्रयास किये। संत शिवनारायण ने अपने ग्रन्थ ‘गुरु न्यास’ में कामी, कृपण, आलसी, क्रोधी, कृतघ्न, कुसंगी, अहंकारी तथा संत-द्रोही लोगों को इस पृथ्वी पर यम स्वरूप माना है तथा मनुष्य के अन्दर प्रेम, दयालुता, भगवद्भक्ति, श्रद्धा, समरसता आदि को भगवत् प्राप्ति के लिए आवश्यक माना है।

॥ ॐ ॥

## पंजाब, काश्मीर एवं सिन्ध क्षेत्र के संतों की महान परंपरा

वेद की ऋचाओं से गुंजते रहने वाला पंचनद का पावन क्षेत्र जिसकी नदियों के तट पर हजारों वर्ष तक ऋषियोंने, तपस्विओं ने साधना की थी वह भूमि इस्लाम के अमानवीय आक्रमणों से कराह उठी। पंजाब की इस पावन धरती ने इस्लाम का अत्याचार और अधिक सहन न करने का संकल्प किया और संतों की एक महान शृंखला खड़ी कर दी, जिसने सर्वत्र भक्ति का जागरण किया। इन संतों ने स्वयं के त्यागमय, कर्मठ तथा तपोमय जीवन से समाज के सम्मुख एक बलिदानी आदर्श रखा। संतों ने जातिगत भेदभाव को समाप्त कर, समस्त हिन्दू समाज को संगठित किया और इस्लाम की अत्याचारी शक्ति के प्रतिकार के लिए सेना भी सजाई। यह एक विचित्र कार्य था जो पंजाब की संत-परंपरा कर रही थी। संत नामदेव, महाराष्ट्र से आकर पंजाब में घूम-घूम कर भक्ति जगा रहे थे। श्रीगुरु नानकदेव से प्रारंभ हुई सिक्ख गुरु परंपरा श्रीगुरु गोविन्दसिंह तक खड़ी होती चली गई। काश्मीर की लल्लेश्वरी (लालदेव) से लेकर स्वामी श्रद्धानन्द जी तक चलने वाले धार्मिक जागरण का भाव भी एक ही था कि समाज के अन्दर श्रद्धा-भक्ति जगे, सभी प्रकार की विषमताएं दूर हो तथा एक स्वाभिमानी, शक्तिशाली एवं एकात्म हिन्दू समाज खड़ा हो।

\* संत नामदेव - (वि.सं. 1327-1407; ई० सन् 1270-1350)

संत नामदेव का जन्म सताग (महाराष्ट्र) में हुआ था। महाराष्ट्र में नामदेव नाम के छह संत हो गये हैं। सर्वाधिक लोकप्रिय वे नामदेव हैं जिन्होंने उत्तर भारत में, विशेष रूप से पंजाब में, भागवत धर्म का प्रचार किया तथा हिन्दी में भी काव्य रचना की। पंजाब की संत परम्परा में नामदेव प्रथम संत कहे जाते हैं। यह छीपी-दजी जाति के थे। अपनी रचनाओं में भी उन्होंने इस बात का उल्लेख किया है-

“हीनड़ी जाति मेरी जादिस राया, छीपै कै जनम काहे कऊ आया।”

(श्री गुरुग्रन्थ साहिब, पृ. 1164)

संत कबीर तथा संत रैदास आदि सभी ने इनकी महिमा का गान किया है। भक्त रैदास कहते हैं-

“नामदेव, कबीर, तलोचन, सधना, सैनु तरे।”

(श्री गुरुग्रन्थ साहिब, पृ० 1106)

संत नामदेव के परिवार में व्यापार होना था किन्तु नामदेव का मन व्यापार में नहीं लगा। मन तो विट्ठल भक्ति में ही लगा रहता था। 20 वर्ष की आयु में संत नामदेव की भेंट संत ज्ञानेश्वर से हो गयी। संत ज्ञानेश्वर स्वयं नामदेव से भेंट करने पण्डुरपुर आये। दोनों में अभिन्नता हो गयी और फिर वे साथ- साथ ही रहने लगे। दोनों ने मिलकर पूरे देश की यात्रा कर डाली।

बिसोवा खेचर गुरु - संत ज्ञानेश्वर ने कहा, नामदेव अब बिसोवा खेचर को अपना गुरु बना लो। संत बिसोवा पागल की तरह रहते थे। संत ज्ञानेश्वर की बात मानकर नामदेव, संत बिसोवा के पास पहुँच गये। संत बिसोवा ने नामदेव को कहा- ‘दुनियाँ को भगवन्नाम से भर दो।’ इसके पश्चात् नामदेव का अहंकार दूर हुआ, उन्होंने बिसोवा को अपना गुरु स्वीकार कर लिया।

पंजाब का प्रवास - देशभर की तीर्थयात्रा के पश्चात् संत नामदेव पंजाब आ गये और यहीं भागवत धर्म का प्रचार करते रहे। करताल और एकताग वजाकर मधुर स्वर में अभंग गाते थे। वे 20 वर्ष तक पंजाब में रहे तथा यहीं इनकी मृत्यु हुई। पंजाब के घुमाण नामक स्थान पर बाबा नामदेव जी के नाम पर गुरुद्वारा आज भी है। इनके शिष्यों को नामदेवियाँ कहा जाता है। श्रीगुरु ग्रन्थसाहिब में सन्त नामदेव के 60 शब्द सम्मिलित किये गये हैं। संत नामदेव का मन भक्तिभाव से भजन करने में ही लगा रहता था। उनके लिये, विट्ठल, शिव, विष्णु, पाण्डुरंग सभी एक ही हैं। सभी प्राणियों के अन्दर एक ही आत्मा है। फिर जाति का भेद कितना झूठा है-

“सर्वभूतों में हरि यही एक सत्य। सर्व नारायण देखते हरि॥”

पण्डुरपुर में विट्ठल मन्दिर के प्रवेश द्वार की प्रथम सीढ़ी नामदेव जी की पायरी के नाम से प्रसिद्ध है। सन्त नामदेव ने पंजाब में श्रीगुरु नानकदेव जी के लगभग दो सौ वर्ष पहले निर्गुण उपासना का प्रतिपादन किया। उत्तर भारत में भक्ति-भाव की सन्त परम्परा वाले वे आदि पुरुष दिखते हैं। उनकी दृष्टि बहुत व्यापक है और वे कहते हैं कि सभी प्राणियों के अन्दर एक ही राम है-

“अस्थार जंगम कीट पतंगम, घट-घट राम समाना रे”।

(श्रीगुरु ग्रन्थसाहिब, पृ० 988)

संत नामदेव जाति-पाँति का पूर्णतया निषेध करते हैं तथा भक्तिभाव का जागरण करने हुए राम का नाम भजने को ही कहते हैं-

“कहा करऊ जाति, कहा करऊ पाति,  
राम को नामु जपऊ दिन राती।”

(श्रीगुरु ग्रन्थसाहिब, पृ० 485)

संत नामदेव, सामाजिक कुरीनियों एवं जातिगत भेदभाव के विरुद्ध हैं किन्तु इनका नेवर मन कबीर की तरह आक्रामक नहीं है। प्रभुस्मरण को ही वे जीवन का आधार मानते हैं। राम का स्नेह ही सब कुछ है, वे कहते हैं : ‘अरे मन क्यों भटक रहा है’-

“काहे रे मन भूला फिरई।

चेतनि राम चरन चित धरई।।टेक॥

नरहरि नरहरि जपि रे जियरा। अवधि काल दिन आवै नियरा।

पुल कलित (स्त्री) धन चित्त विसासा। छाड़ि मनां रे झूठी आसा॥”

(संत साहित्य की समझ, पृ० 31)

संत नामदेव, निर्गुण के उपासक हैं किन्तु ये सगुण भाव को भी नहीं छोड़ते। संत कबीर जैसे निर्गुण भक्तों का तीर्थों में कोई विश्वास नहीं किन्तु संत नामदेव को तीर्थों में पूरी आस्था है-

“त्रिवेणी पिराग करौ मन मंजन। सेवौ राजा राम निरंजन॥”

(वही, पृ० 31)

संत नामदेव, भक्तों को भाई कहकर सम्बोधित करते हैं और राम नाम की महिमा भी बतलाते हैं। राम नाम के समक्ष सारे जप-तप, यज्ञ, हवन, जोग, तीर्थ, व्रत आदि तुच्छ हैं। राम नाम से इनकी तुलना नहीं की जा सकती-

“भईया कोई तुलै रे रामाय नाँम।

जोग यज्ञ तप होम नेम व्रत। ए सब कौने काम॥”

(वही, पृ० 32)

संत नामदेव प्रारम्भ में सगुणभक्ति वाले सन्त कहे जाते थे किन्तु आगे चलकर सगुण एवं निर्गुण के मध्य की धारा प्रवाहित करने वाले सन्त के रूप में वे स्थापित हो गये। श्रीकृष्ण के सुन्दर सगुण स्वरूप का वर्णन वे अपने भजन में करते हैं-

“धनि-धनि ओ राम वेनु बाजे, मधुर मधुर धुनि अनहत गाजै।

धनि-धनि मेघा रोमावली, धनि-धनि कूसन ओढ़े कांबाली।

धनि-धनि तू माता देवकी, जिह गृह रमैया कवलापत्नी।

धनि-धनि बनखण्ड बिंदाबना, जह खेलै श्रीनारायना।

बेतु वजावै गोधनु चरै, नामे का स्वामी आनन्द करै । ”

(श्रीगुरु ग्रन्थसाहिब, पृ. 988)

अर्थात्, 'नामदेव कृष्ण के द्वारा मधुर स्वर से वजने वाली वंशी को धन्य कहते हैं। वह भेड़ भी धन्य है जिसकी रोमावलि (वालों) में श्रीकृष्ण की कमली (कम्बल) बनी है। देवकी माता तू धन्य है, तेरे घर स्वयं कमलापति (भगवान् विष्णु) अवतरित हुए। वृन्दावन के वे जंगल भी धन्य हैं जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण (नारायण) खेले हैं। संत नामदेव का ईश्वर वंशी वजाता है, गाय चरता है और आनन्द करता है।' आगे चल कर श्रीगुरु नानकदेव ने जो उपदेश दिया उसका महत्वपूर्ण अंग संत नामदेव के विचार-दर्शन से ही आता है। देश भर में आपके लाखों अनुयायी हैं तथा वे अपने नाम के आगे नामदेव लगाते हैं। संत नामदेव ने मराठी में अभंग तथा हिन्दी में पदों की रचना की। संत नामदेव उस ब्रह्म की साधना में लग गये जो घट-घट वासी है। देश भ्रमण करते हुए पंजाब में घूमाण गाँव में आपकी मृत्यु हुई।

\* सन्त बेनी - (13 वीं शताब्दी)

संत बेनी (बेणी) जी के जीवन के बारे में कोई भी तथ्य उपलब्ध नहीं है। इनके पदों की भाषा आदि से यह अनुमान लगाया जाता है कि वे राजस्थान, पंजाब अथवा पश्चिमोत्तर भारत के निवासी रहे होंगे। इन्होंने बाह्याचार तथा जातिगत भेदभाव का जमकर विरोध किया। कथनी करनी में सामंजस्य लाने पर बल दिया तथा राम-भक्ति से ही जीवमुक्ति संभव है- यही प्रतिपादित किया। सन्त बेणी जी के बारे में कोई अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती किन्तु इनके पदों को देखकर यह बात ध्यान में आती है कि ये भी एक अच्छे सन्त हुए हैं। भाषा से ये संत नामदेव के समकालीन जान पड़ते हैं। अपने पदों के माध्यम से संत बेणी ने योग साधना तथा राम नाम की आराधना करके जीवनमुक्ति की साधना करने की प्रेरणा दी है।

श्रीगुरु ग्रन्थसाहिब में दिये गए इनके 3 पदों में से एक पद में तो वे पायण्डियों पर आक्षेप करते हैं। उनका कहना है कि चन्दन लगाना, माला जपना किन्तु हृदय में कूरता रक्खना उचित नहीं, बिना सदगुरु सच्चा मार्ग नहीं मिल सकता।

\* सन्त लल्ला (लल्लेश्वरी) - (वि.सं. 1392-1472; ई.सन् 1335-1415) काश्मीर सन्त लल्लेश्वरी काश्मीर की रहने वाली डेढ़वा जाति की मेहतर महिला थी। वह जैवमत में दीक्षित थी। उस समय काश्मीर के अधिकांश शैव आचार्य

ब्राह्मण ही थे। संत लल्लेश्वरी, प्रसिद्ध शैव सन्त 'मेदवायू' की शिष्या हो गयीं, शैव योगिनी बनी तथा वाद-विवाद में अपने गुरु से भी आगे बढ़ गयीं। संत लल्ला की ख्याति उस समय भ्रमणशील सन्त के रूप में थी। संत लल्ला अपनी रचनाओं में प्रतिपादित करती हैं कि परमेश्वर निराकार है और उसे अपने अन्दर खोजें। धर्म का बाह्याङ्गवर् व्यर्थ है। संत लल्लेश्वरी और श्रीगुरु नानकदेव जी के उपदेशों में वैचारिक समानता है। इनके पदों का संग्रह 'लल्ला वाक्यानि' के नाम से डा० ग्रियर्सन तथा डा० वर्नेट ने किया है। संत लल्लेश्वरी के शिष्यों में नूरीदीन वा नंदाश्रमि (सं. 1434-1495) को भी हम निगुणी परंपरा का संत ही मानते हैं। भारत के पश्चिमी प्रदेशों में डेढ़ चर्मकार जाति की संख्या लाखों में है जो संत लल्ला के पद गाते हैं।

॥ ॐ ॥

## श्रीगुरु नानकदेव जी

(वि० संवत् 1526-1596 ; ई० सन् 1469-1539)

श्रीगुरु नानकदेव जी का जन्म कार्तिक शुक्ल 15, संवत् 1526 को माना जाता है किन्तु मिह्रवान जनम साखी, ज्ञानरत्नावली तथा महिमा प्रकाश आदि ग्रन्थों के अनुसार श्रीगुरु नानकदेव जी का जन्म वैशाख शुद्ध 3, संवत् 1526 तदनुसार 15 अप्रैल, 1469 ई. को, लाहौर के निकट तलवण्डी नामक ग्राम में हुआ था। बचपन से ही श्रीगुरु नानकदेव जी का मन साधू-संन्यासियों के मध्य ही लगता था। व्यापार, कृषि आदि कार्यों में मन नहीं लगा। श्रीगुरु नानकदेव के दो पुत्र, श्रीचंद तथा लक्ष्मीदास थे। श्रीगुरु नानकदेव ने पाँच बार तीर्थयात्राएँ (उदासियाँ) की थीं। इन उदासियों में वे कुरुक्षेत्र, आगरा, दिल्ली, मथुरा, वृंदावन, अयोध्या, प्रयाग, गया, ढाका, रामेश्वरम्, काश्मीर, वगदाद तथा मक्का-मदीना तक गए थे। यात्राओं के समय श्रीगुरु नानकदेव जी ने तीन नई व्यवस्थाओं का प्रबंध किया। ये व्यवस्थाएँ थीं- 1. सामूहिक संगत, 2. सामूहिक पंगत (लंगर), 3. सामूहिक ठहरने की व्यवस्था (धर्मशालाएँ)। जो भी लोग यात्रा के समय श्रीगुरु नानकदेव जी का उपदेश सुनने आते थे, उनका सामूहिक भोजन भी वहीं होता था। इसी को आगे चलकर लंगर कहा जाने लगा। जो लोग दूर-दूर से आते थे उनकी व्यवस्था धर्मशालाओं में होती थी। ये धर्मशालाएँ आगे चलकर गुरुद्वारों का स्वरूप लेने लगीं। इस प्रकार श्रीगुरु नानकदेव ने एक संगत, एक पंगत तथा एक धर्मशाला (गुरुद्वारा) की व्यवस्था कर जातिगत भेदभाव को समाप्त कर दिया। हिन्दू समाज की सामाजिक व्यवस्थाओं में यह एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था।

श्रीगुरु नानकदेव ब्रह्म की सर्वव्यापकता को स्वीकार करने वाले समतावादी सन्त थे तथा जाति-व्यवस्था के विरोधी थे। जातिगत भेदभाव का विचार किए बिना वे अपने शिष्य बनाते थे। श्रीगुरु नानकदेव कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति महान है, किसे नीचा अथवा पतित कहें? वे समझाते हैं-

“जाणहु जोति न पुछहु जाती, आनै जाति न हे।”

(रगु आसा, महला-1, पृ. 349)

अर्थात्, 'ईश्वर के तेज अथवा प्रकाश का सभी में अनुभव करो, किसी से भी जाति न पूछो क्योंकि बाद में जाति नहीं रहेगी।' श्रीगुरु नानकदेव कहते हैं कि सभी

में ईश्वर देखो, दीन-दुखियों की सेवा करो। दुखियों की सेवा ही ईश्वर सेवा है वे कहते हैं- 'मैं, दीन-हीन जनों के साथ हूँ। जहाँ दीन-दुखियों की चिन्ता करके सेवा की जाती है वहाँ ईश्वर की कृपा की वर्षा होती है।' उनके द्वारा रचित 974 पद तथा श्लोक श्रीगुरु ग्रंथसाहिब में संकलित हैं। इन्हीं में से उनकी कुछ रचनाएँ 'जपुजी' के नाम से जानी जाती हैं जिन्हें लोग श्रद्धा के साथ स्मरण करते हैं। श्रीगुरु नानकदेव के बाद सिक्ख गुरु परंपरा में नौ गुरु और हुए।

श्रीगुरु नानकदेव कहते हैं कि मनुष्य से घृणा मत करो। व्यक्ति किसी जाति में जन्म लेने से ऊँचा या नीचा नहीं होता, वह तो अपने कर्मों से ऊपर उठता या नीचे गिरता है। सेवा तथा विशुद्ध कर्मों से मनुष्य का उत्थान होता है। जहाँ तक मेरी बात है, मैं तो-

“नीचा अंदरि नीच जाति नीची हु अति नीचु।

नानक तिनके संगि साथि बडिआ सिउ किया रीस।

जिथै नीच समालीअनि तिथै नदरि तेरी बखसीस ॥”

(सिरी राग, पृ. 15; श्रीगुरुनानक देव जीवन और दर्शन, पृ. 75-76)

श्रीगुरु नानकदेव कहते हैं कि, 'नीच जातियों में जो नीच हैं और उन नीचों में भी जो बहुत नीच हैं, मेरा उन्हीं में संग साथ है। बड़ों से मैं अपनी तुलना क्या करूँ? जहाँ पर नीच देखे-भाले जाते हैं, वहाँ तेरी (परमात्मा की) कृपा दृष्टि होती है।' जातिगत भेदभाव के विरोध में श्रीगुरु ग्रंथसाहिब में गुरु साहिबान कहते हैं कि

“जाति का गर्बु न करिअहु कोई, ब्रह्मु बिन्दे सो ब्राह्मणु होई ॥”

(श्री गुरुग्रन्थ साहब, राग भैरौ, महला-3-1128)

अर्थात्, 'अपनी जाति का कोई व्यर्थ गर्व नहीं करो जो ब्रह्म को जानता है वही ब्राह्मण है।' श्री गुरुनानक देव की पद्धति, कबीर और नामदेव जैसी ही है। विषयों से विरक्ति, एवं सदाचार और प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण से ही मुक्ति हो सकती है। सन्त कबीर के समान इनका प्रभु, निर्गुण-निराकार और सर्वव्यापी है। श्रीगुरु नानक भी बाह्याचार तथा वर्णव्यवस्था के विरोधी हैं। श्रीगुरु नानकदेव के अनुयायियों में उदासी सम्प्रदाय, निर्मला सम्प्रदाय, नामधारी, सुधराशाही, सेवापन्थी, अकाली, भगतपंथी, निरंकारी, गुलाबदासी आदि सभी श्री नानक देव जी के उपदेश मानते हैं तथा जातिगत भेदभाव नहीं मानते।

सर्वव्यापी ब्रह्म की मान्यता - श्रीगुरु नानकदेव कहते हैं - परमेश्वर अखण्ड,

अन्तन्त. अगोचर तथा जाति आदि सभी में बहुत ऊपर है-

“अलख अपार अगम अगोचर ना तिसु कालु न करमा।

जाति, अजाति अजोनी संभऊ ना तिसु भाऊ न भरमा ॥”

(श्री गुरुग्रन्थ माहिब, मोरठ म० 1, पृ० 597)

वेदों की प्रतिष्ठा- गुरुवाणी में अनेक स्थान पर वेदों की महिमा का बयान किया गया है-

“चौथि उपाये चारे वेदा, खाणी चारे वाणी भेदा।”

(वही, पृ. 839; विलावल-म. 1)

अर्थात्, ‘परमात्मा ने चारों वेदों का प्रकाश किया, चार प्रकार के प्राणी या योनियाँ और वाणी के भेद बनाये।’ श्रीगुरु नानकदेव पारब्रह्म अँकार का महत्व बतलाते हुए कहते हैं कि उसी से सभी की उत्पत्ति हुई है। आदि गुरु ग्रन्थसाहिब का प्रारम्भ ही ‘१ ओंकार’ से ही होता है। श्रीगुरु नानक जी ने ओंकार से सम्पूर्ण सृष्टि की परम्परागत धारणा को अपने शब्दों में व्यक्त किया है-

“अँकार ब्रह्मा उत्पत्ति। अँकार कीआ जिन चिति।।

अँकार सैल जुग भए। अँकार वेद निरभए ॥”

(श्री गुरुग्रन्थ साहिब, रामकली, महला, 1-पृ० 929-30)

अपजी साहब में श्रीगुरु नानकदेव कहते हैं कि वेद ज्ञान पर आचरण करने वाले ही संसार सागर से पार होते हैं। श्रीगुरु गोविन्दसिंह जी विचित्र नाटक में लिखते हैं-

“जिनै वेद पठयो सो वेदी कहाए।

तितै धर्म के कर्म नीके चलाए ॥”

(श्री विचित्र नाटक, अध्याय. 4, पृ. 48)

अर्थात्, ‘हमारे जिन वडों ने काशी जाकर वेद पढ़े थे उनका नाम वेदी हुआ था, उन्होंने धर्मानुकूल पवित्र, कर्म किये।’ श्रीगुरु ग्रन्थसाहिब में अनेक स्थान पर भक्ति के महत्व का वर्णन किया है। प्रभुस्मरण ही भक्ति का मञ्चा स्वरूप है तथा भक्तों पर ही वेदों का प्रकाश होता है-

“हरि सिमरनु करि भगत प्रगटाये,

हरि सिमरन लागि वेद उपाये ॥”

(गौड़ी सुखमनी म. 5, गु. ग्र. पृ. 263)

श्री गुरुनानकदेव जी को इस बात का पूरा ध्यान है कि भक्तिमार्ग का उद्गम

वेदान्त से ही हुआ है सभी तो विलावल अमरपदी में उन्होंने लिखा है -

“बेदु पुकारै भगति सरोति, सुणि सुणि मानै वेखै जोति ॥”

(श्री गुरुग्रन्थ माहिब, विलावल, म. 1, पृ. 831)

आगे चलकर श्रीगुरु गोविन्दसिंह जी ने भी अपने शिष्यों (सिक्कों) को संस्कृत एवं वेदशास्त्र अध्ययन के लिये काशी भेजा, ये सभी निर्मले कहालये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीगुरु नानकदेव जी भारतीय जीवन मूल्यों के संरक्षण को महत्व देते हुए समाज परिवर्तन का व्यापक आन्दोलन चलाए हुए थे। यह सच है कि श्री गुरुनानक देव उस समय के अन्य महान उपदेशकों की भाँति समाज सुधारक की तरह कार्य करते हुए, धार्मिक विचारों के समन्वय तथा जातिगत भेदभाव के उन्मूलन और पवित्र जीवन के प्रति आग्रह कर रहे थे। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (Encyclopaedia Britannica) श्रीगुरु नानकदेव जी के समाज सुधारक स्वरूप के बारे में लिखता है- “Shri Guru Nanak an excellent and successful preacher, was a religious reformer, like others that arose in the country about the same time who preached the abolition of caste, the unity of God head and the obligation of leading a pure life.”

इस सबके साथ ही श्रीगुरु नानकदेव के जीवन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पहलू, इस्लाम के अत्याचारों से मुक्ति दिलाने के लिये संघर्ष हेतु वातावरण तैयार करना भी है। श्रीगुरु नानकदेव ने वह फौलाद (लोहा) तैयार किया है जिससे आगे चलकर, राष्ट्र और समाज रक्षार्थ, इस्लाम की आततायी शक्ति से संघर्ष करनेवाली सन्त तलवार का निर्माण पंजाब में हुआ। श्रीगुरु नानकदेव जी के जीवन का यह एक प्रमुख पक्ष है जिससे पंजाब की सन्त परम्परा निरन्तर मार्गदर्शन पाती रही। आगे हम देखेंगे कि श्रीगुरु नानकदेव किस प्रकार इस्लामी शासकों के अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष हेतु वातावरण तैयार करते हैं।

श्रीगुरु नानकदेव जी ने अपने सामने (ई० 1469-1538), तीन लोदी शासक तथा दो मुगल शासकों को देखा था। सिकन्दर लोदी ने हिन्दू मन्दिरों को तोड़ा तथा हिन्दुओं पर भीषण अत्याचार किये। कुरुक्षेत्र के पवित्र स्थान पर्व पर हजारों हिन्दुओं की निर्मम हत्या उसने करवा दी किन्तु बाबर के आक्रमण ने तो अत्याचार की सभी सीमाएँ तोड़ दीं। बाबर के पंजाब पर आक्रमण तथा सैदपुर के ध्वंस के समय श्री गुरुनानक देव वहीं थे। बाबर के अत्याचार के वे प्रत्यक्ष साक्षी थे, इन अत्याचारों को वे चार पदों में लिखते हैं, यही बाबरवाणी कहालती है। अपने प्रथम शिष्य

भाई लालो को सम्बोधित करते हुए वे कहते हैं कि बाबर पाप की बागत लेकर चढ़ आया है-

“पाप दी जज्ज लै काबुलहु धाइया, जोरी मंगै दानु वे लालो।  
सरमु धरमु डुइ छप खलोए, कुडू फिरे परधानु वे लालो।  
खून के सोहिले गावीअहि नानक, रत्त का कुंगू पाइ वे लालो॥”

(श्रीगुरु ग्रन्थसाहिब, पृ० 722, 23)

अर्थात्, ‘ओ लालो! सुन, बाबर काबुल से पाप की बागत लेकर चढ़ आया है, वह लोगों से जबरदस्ती धन वसूल रहा है। ओ लालो, शर्म तथा धर्म (न्याय) दोनों पंख लगाकर उड़ गये हैं (अर्थात् समाप्त हो गये हैं)। सभी ओर झूठ और अत्याचार का बोलबाला हो गया है- ओ लालो। सभी लोग मिलकर मृत्यु तथा नरसंहार के (विवाह) गीत गा रहे हैं तथा जिनका विवाह हो रहा है वो भी (केशरिया रंग के स्थान पर) रक्त में स्नान कर रहे हैं- ओ लालो। आदिग्रंथ माझ दी वार में श्रीगुरु नानकदेव मुस्लिम शासकों के अत्याचार के बारे में कहते हैं -

“कलि काती राजे कासाई, धरमु पंखु करि उडरिया  
कूड़ अमावस सचु चन्द्रमा, दीसै नाहीं कहि चडिया।”

(गु. ग्र. साहिब, पृ. 145)

अर्थात्, ‘कलिकाल में राजा कसाई हो गये हैं तथा धर्म पंख लगाकर उड़ गया है। सत्य का चन्द्रमा अधर्म की अमावस में डूब गया है, कहाँ चला गया कहीं दिखलाई नहीं देता।’ बाबर के अत्याचार से दुखी होकर श्री गुरुनानक कहते हैं कि -

“खुरासान खसमाना कीआ, हिंदुस्तान डराइया॥  
आपै दोसु न देई करता, जमु करि मुगलु चढ़ाइया॥  
एती मार पई करलाणें, तैं की दरदु न आया॥”

(श्री गुरुग्रन्थ साहिब, आसा महला 1, पृ० 360)

अर्थात्, ‘हे विधाता! तूने खुरासान को तो संरक्षित कर दिया किन्तु हिन्दुस्थान को आतंकित कर डाला। तू (इस सारे काण्ड का) कर्ता है पर स्वयं को दोष नहीं देता। तूने मुगल बाबर को साक्षात् यमराज बनाकर इस देश पर चढ़ा दिया। इस यमराज बने बाबर ने हिन्दुस्थानियों को इतनी निर्दयता से मारा कि वे त्राहि-त्राहि कर उठे। इतना होने पर भी क्या तुझे तनिक सा भी दर्द न हुआ?’

बाबर के आक्रमण की विभीषिका से श्रीगुरु नानकदेव दुखी हो उठे। उन्होंने ईश्वर से शिकायत की कि हिन्दुस्थान पर इतनी मार पड़ती देख कर भी उसका

दिल पसीजा क्यों नहीं? इस प्रकार श्रीगुरु नानकदेव ने उस समय के वातावरण में भी मुस्लिम राजाओं के अन्याय, अत्याचार तथा अधर्म के विरोध में अपनी सन्त आवाज बुलन्द की। प्रारम्भ में तो श्रीगुरु नानकदेव का मत केवल आध्यात्मिक तथा आत्मिक उन्नति करनेवाला और समरसता लाने वाला ही लगता है किन्तु शीघ्र ही वे अत्याचार के विरोध में सन्तशक्ति को खड़ा करते हुए भी दिखलाई देते हैं।

भाई लहिना जी को गुरु पद सौंपना- श्री लहिनाजी, श्रीगुरु नानकदेव जी के सम्पर्क में ही रहते थे। जब गुरु गद्दी सौंपने का प्रश्न आया तब श्रीगुरु नानकदेव जी ने अपने पुत्र को गद्दी न सौंपकर, लहिना जी को बुलाया, उन्हें गद्दी पर विराजमान किया, इनके सामने पाँच पैसे तथा नारियल रखकर उनकी परिक्रमा की तथा उन्हें माटांग प्रणाम किया और अपने गले की माला उन्हें पहिना दी। श्रीगुरु नानकदेव जी ने कहा- ‘मेरे शरीर से उत्पन्न हुआ है, तू अंगद है।’ आगे से श्री लहिना जी को गुरु अंगददेव नाम प्राप्त हो गया। इस प्रकार गुरु चयन की प्रक्रिया का सुन्दर स्वरूप, श्रीगुरु नानकदेव जी ने प्रारम्भ किया जो कि पूर्ण रूप से प्राचीनकाल से चली आ रही, गुरु शिष्य परम्परा की तरह ही था। अर्नेस्ट ट्रम्प नामक जर्मन भाषा शास्त्रज्ञ ने लिखा है- “गुरु नानकदेव जी का स्वतंत्र मत स्थापन करने का कोई विचार नहीं था वरन् तत्कालीन हिन्दू दर्शन के महत्वपूर्ण विचारों का ही उन्होंने अनुसरण किया है।” एनसायक्लोपिडिया ब्रिटानिका में कहा गया है कि- “सिक्ख विचारधारा (मत) हिन्दू वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का ऐतिहासिक विकास क्रम है।”

(गुरुनानक से गुरु गोविन्द सिंह, पृ० 72)

सच्चा पातशाह - मुस्लिम अत्याचार के उस कठिन समय में सम्पूर्ण समाज का उचित मार्गदर्शन करते हुए सिक्ख गुरुओं ने कभी अपना बादशाह अकबर या औरंगजेब को नहीं माना। सिक्ख पंथ के अनुयायियों ने अपने गुरुओं को ही वास्तविक राजा माना और उन्हें ही सच्चा पातशाह कहकर स्वीकार किया।

\* श्रीगुरु अर्जुनदेव जी- (वि.सं. 1620-1663; ई.सन् 1563-1606)

श्रीगुरु अर्जुनदेव जी का पंजाब की संत परम्परा में महत्वपूर्ण स्थान है। श्रीगुरु अर्जुनदेव जी का जन्म गोविन्दवाल में हुआ तथा वे गुरु परंपरा में पाँचवें गुरु थे। श्री गुरु अर्जुनदेव जी ने हर मन्दिर साहब की नींव सन् 1599 में रखी, यही आगे चल कर स्वर्णमन्दिर के नाम से विख्यात हो गया। यह मन्दिर हिन्दू समाज के चारों वर्णों के लिए खुला था, इस कारण इसमें चार दरवाजे हैं जो सदैव खुले रहते हैं।

आदिग्रन्थ का संकलन- श्रीगुरु अर्जुनदेव जी ने यह अनुभव किया कि

सिक्खों के पथ-प्रदर्शन के लिये गुरुओं की 'माची वाणी' उन तक पहुँचनी चाहिए। श्रीगुरु अर्जुनदेव जी ने श्रीगुरु नानकदेव जी में लेकर उस समय तक प्रसिद्ध मंत्रों की वाणियों का संग्रह किया। उन दिनों में कुछ लोग स्वयं काव्य रचना करके श्री गुरु नानकदेव जी अथवा अन्य गुरुओं के नाम में उन्हें प्रमार्गित करने में लगे थे। अतः यह आवश्यक हो गया था कि गुरुओं की वाणी को अधिकृत रूप से संकलित करके सुरक्षित किया जाए। इसी अनिवार्यता को ध्यान में रखकर आदिग्रन्थ का निर्माण हुआ। श्रीगुरु अर्जुनदेव जी ने अपने पूर्ववर्ती गुरुओं की वाणी को व्यवस्थित रूप से एकत्रित किया। नई निर्माण हुई गुरुमुखी भाषा में कुछ और सुधार करके उसी में इस ग्रन्थ की रचना प्रारंभ हुई। सन् 1604 में यह ग्रन्थ निबध्द कर पूरा हुआ और समारोह पूर्वक हर मन्दिरसाहब में स्थापित कर दिया गया। आगे चलकर श्री गुरु गोविन्दसिंह जी ने इसी ग्रन्थ को गुरु स्थान पर प्रतिष्ठित किया। तब इसको श्रीगुरु ग्रन्थसाहिब के नाम से भारी प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई। इसमें श्रीगुरु अर्जुनदेव जी की सर्वाधिक 2218 पद्य रचनाएं (शब्द) तथा श्लोक संकलित हैं।

श्रेष्ठ संतों की वाणियों का यह संकलन करते समय जातिगत भेदभाव से बहुत ऊपर उठकर संतों का चयन किया गया। इस ग्रन्थ में सिक्ख गुरुओं की वाणी के साथ-साथ जयदेव, शेख फरीद, त्रिलोचन, नामदेव, रामानन्द, सदाना, बेनी, रविदास, कबीर, धन्ना, पीपा, सेन, परमानन्द, सूरदास, भीबन, मरदाना, सुन्दर जी, सत्ताइम, राय बलवण्ड तथा ग्यारह भाटों की वाणी भी सम्मिलित है। उपर्युक्त संतों में अनेक ऐसे हैं जो पिछड़ी जातियों से आये थे किन्तु सिक्ख परंपरा को मानने वालों ने जातिगत भेदभाव से अपने आपको दूर रखा। गुरुओं की वाणी को छोड़कर विचार किया जाये तो सर्वाधिक श्लोक संत कबीर के 541, भक्त नामदेव के 60 तथा रविदास के 41 पद श्री गुरुग्रन्थ साहिब में सम्मिलित किये गये हैं।

सिक्ख पंथ के मानने वालों की साधना-पद्धति में निर्गुण एवं निराकार प्रभु की उपासना का महत्व है। वे वर्णव्यवस्था तथा जातिगत भेदभाव में विश्वास नहीं करते। श्री गुरुग्रन्थ साहिब में लगभग 10,000 बार हरिनाम, 2,400 बार रामनाम, 550 बार पारब्रह्म, 400 बार ओंकार, तथा 550 बार वेद, पुराण, स्मृति तथा शास्त्रों का उल्लेख आया है। इस प्रकार ईश्वर की सत्ता में विश्वास के साथ सभी प्रकार के जातिगत भेदभाव को समाप्त करने के लिये सुन्दर सामयिक सन्देश श्री गुरुग्रन्थ साहिब से मिलता है।

श्रीगुरु अर्जुनदेव जी ने स्वयं भी बहुत सी रचनाएं प्रस्तुत की। इनकी

मर्यादिक प्रसिद्ध रचना 'मुखमनी' है। इसके अनिर्गुण 'बारामाहा' तथा 'बावन अखरी' तथा बहुत सी फुटकर रचनाएं भी हैं। ये रचनाएं भिन्न-भिन्न ग्रंथों में महत्वा-5 के अंतर्गत आदिग्रन्थ में दी गई हैं।

श्रीगुरु अर्जुनदेव ने भी सभी संतों की तरह ईश्वर की सर्वव्यापकता को स्वीकार कर सभी के अन्दर एक ही ब्रह्म की उपस्थिति को देखा है-

“वासुदेव सर्वत्र मैं, ऊन न कतहूँ ठाड़।

अन्तर-बाहरि सगि है, नानक काए दुराइ॥”

अर्थात्, 'सर्वव्यापक परमात्मा सब जगह है। वह अन्दर-बाहर हर जगह उपस्थित और अंग-संग है। श्रीगुरु अर्जुनदेव कहते हैं कि उसको दूर मानना भूल है। इसी को वे और अधिक स्पष्ट करते हैं- “हर जीऊ अन्तर्जामी जान।”

(गुरुग्रन्थ का वैदिक पन्थ अर्थात् खालसा ज्ञान प्रकाश-पृ. 28, सारंग, म. 5) श्रीगुरु अर्जुनदेव ने सम्पूर्ण समाज को जोड़ने का आधार 'भक्ति' को ही स्वीकार किया। वे कहते हैं- 'प्रभुजी तुम ही मेरे प्राण के आधार हो। सोते, जागते, उठते बैठते यह मन तुम्हारा ही चिन्तन करता है। मैं सुख-दुःख तथा मन की व्यथा तुम्हारे ही समझ रख सकता हूँ। तुम जो कुछ करोगे, उसे मैं समझता हूँ, वह मेरे भले के लिये ही होगा'-

“प्रभ जी तू मेरे प्राण आधारै।

नमसकार ड ड उति बन्दना, अनिक बार जाउ बारै।

ऊठत बैठत सोवत जागत, इहु मनु तुझहि चितारै।

सूख दूख इसु मन की बिरथा, तुझही आगे सारै॥ 1॥

तू मेरी ओट बल बुधि धनु, तुमही तुमहि मेरै परिवारै।

जो तुम करहु सोई भल हमरै, पेखि नानक सुख चरनारै॥ 12॥

(श्रीगुरु ग्रन्थसाहिब, पृ. 820)

श्री गुरु अर्जुनदेव जी सभी को जोड़ते हुए सगुण तथा निर्गुण के बीच का मार्ग निकालते हैं और सब कुछ उस प्रभु के चरणों में अर्पित कर देते हैं-

“मैं नाहीं प्रभ, सभु किछु तेरा।

इछै निरगुन ऊछै सरगुन, केल करत बिचि स्वामी मेरा॥”

(श्रीगुरु ग्रन्थसाहिब, बिलावल, म. -5, पृ. 827)

धीरे-धीरे पंजाब की धरती पर भक्ति, समरसता, संगठन, शक्ति तथा इस्लाम की अत्याचारी प्रवृत्ति के विरुद्ध संघर्ष भावना की पंचगंगा प्रवाहित होने लगी।

श्रीगुरु अर्जुनदेव जी को सजा- श्रीगुरु अर्जुनदेव जी से जहाँगीर का मन पहले से ही प्रतिकूल था। बड़ती हुई मिक्ख परंपरा की प्रसिद्धि के अन्दर जहाँगीर को इस्लाम के नियों एक बड़ा खतरा दिख रहा था। उसने श्रीगुरु अर्जुनदेव जी को मुसलमान बनाने का दृढ़ निश्चय कर लिया। गुरुजी की मारी मर्पति जन्म कर ली गई और उन्हें लाहौर बुला लिया। जहाँगीर ने श्री अर्जुनदेव जी को 'आदिग्रन्थ' में से कुछ बातें निकालने का आदेश दिया तथा दो लाख रुपया ज़माना भी भरने को कहा। श्रीगुरु अर्जुनदेव तो सभी कुछ प्रभु को समर्पण कर चुके थे। अब इनके जीवन में अद्भुत भक्ति और श्रद्धा थी, वहाँ डर का कोई स्थान नहीं था। जहाँगीर की दोनों ही बातें अत्याचार की प्रतीक थीं, जिन्हें उन्होंने स्वीकार करने से स्पष्ट मना कर दिया। अब अत्याचारों की करुण कथा प्रारम्भ हुई।

श्रीगुरु अर्जुनदेव बलिदान केलिये तैयार हो गए। श्रीगुरु अर्जुनदेव के ऊपर वंदीगृह में तरह-तरह के अत्याचार किये गए। इनके ऊपर तपता हुआ रेत डाला गया। आग के ऊपर लोहे का तवा रख कर, उसके ऊपर श्रीगुरु अर्जुनदेव को बैठा दिया। बौलते हुए दंग में उन्हें बैठाया गया किन्तु श्रीगुरु अर्जुनदेव प्रभुस्मरण करते हुए सभी कष्ट सहते रहे। सारा शरीर छाले-छाले हो गया। श्री गुरुदेव के मुख से "तेरा किया मिठा लागे, नाम पदारथ नानक माँते" यही शब्द निकले। यह सब कुछ तो वे सहते रहे किन्तु जब गाय को मार कर उसकी आतड़ियों में उन्हें भर कर सिलने की सजा सुनाई गई तब यह दिल दहलाने वाली घटना थी। उन्होंने कहा कि मृत्यु के पूर्व वे रावी नदी में स्नान करना चाहते हैं। कड़ी मुरझा के साथ उन्हें नदी किनारे लाया गया। वे रावी नदी में स्नान के लिए उतरे और बाहर नहीं निकले। वहीं जल में उन्होंने अपना शरीर छोड़ दिया। यह दिन था 30 मई, सन् 1606, जेष्ठ शुक्ल 4, संवत् 1663। उन्होंने सत्य और भक्ति की जो डोर पकड़ी थी उसे अपने अनुयायियों को सौंपकर परब्रह्म की शरण में वे चले गये। उनके बलिदान ने पंजाब की जनता को एकजुट होकर संघर्ष करने का आह्वान किया। लाखों हिन्दू सभी प्रकार के भेदभाव को भुलाकर श्रीगुरु अर्जुनदेव द्वारा संकलित 'आदिग्रन्थ' की वाणियों को गाते हुए आध्यात्मिक भाव मन में रखकर और अधिक दृढ़ होने लगे।

\* श्रीगुरु हरगोविन्द जी- (वि० सं० 1652-1701; ई० सन् 1595-1644)

श्रीगुरु अर्जुनदेव जी के बलिदान के पश्चात् उनके एक मात्र पुत्र श्री हरगोविन्द जी श्री गुरुगद्दी पर आसीन हुए। वृद्ध संत भाई बुढ़ा जी ने ही उन्हें टीका लगाया।

यह भी एक आश्चर्य की बात थी कि भाई बुढ़ा जी ने ही श्रीगुरु अंगददेव जी से लेकर श्री हरगोविन्द जी तक पाँच गुरुओं के मस्तक पर टीका लगाकर उन्हें गुरुगद्दी पर विराजमान किया था। भाई बुढ़ा जी जाट थे किन्तु सभी सिख गुरु खत्री थे। ऐसा करने में जाट समाज को भी भारी प्रतिष्ठा मिल रही थी।

**मीरी और पीरी का संत संदेश-पंजाब की यह सिख गुरु संत परम्परा यह दिखला रही थी कि भारत की आध्यात्मिक शक्तियाँ संकट के समय में भी किस प्रकार समाज का मार्गदर्शन करती हैं। अपनी गृहीदी से थोड़ा पहले अपने एक विष्वमनीय साथी के माध्यम से श्रीगुरु अर्जुनदेव जी ने अपने उत्तराधिकारी श्री गुरु हरगोविन्द जी को संदेश भेजा- "उन्हें अपनी गद्दी पर सशस्त्र बैठना और अपनी योग्यतानुसार सेना रखनी चाहिए।" इसी संदेश में सेना संगठित करने के बीज निहित थे। सर्वप्रथम श्रीगुरु हरगोविन्द जी ने अपने अनुयायियों से शस्त्र तथा घोड़े एकत्रित करने प्रारम्भ कर दिये। श्रीगुरु हरगोविन्द जी अब दो तलवारें धारण करने लगे। एक को 'मीरी' अर्थात् सत्ता, शक्ति और भौतिक उन्नति की तथा दूसरी 'पीरी' अर्थात् आध्यात्मिक उन्नति की प्रतीक कही गई। श्रीगुरु तेगबहादुर जी ने इसी परम्परा को अपना बलिदान देकर आगे बढ़ाया और श्री गुरुगोविन्द सिंह ने इन दोनों तलवारों, मीरी तथा पीरी को दुधारे 'खण्ड' में परिवर्तित कर दिया। यह धर्म और शक्ति दोनों का समसामयिक संयोग था।**

श्रीगुरु हरगोविन्द जी ने वि. संवत् 1665 में श्रीहरि मन्दिर साहिब के सम्मुख एक राजसिंहासन बनवाया तथा राजाओं के डाट-बाट की तरह रहना प्रारम्भ कर दिया। अमृतसर को सुरक्षित रखने के लिए एक किला भी उन्होंने बनवाया जिसको अब 'लोहागढ़' कहा जाता है।

श्रीगुरु गोविन्द जी के डाट-बाट तथा बढ़ती शक्ति देखकर लोगों को सन्देह होने लगा कि कहीं गुरु महाराज सत्ता पर कब्जा तो नहीं कर लेंगे? जहाँगीर बादशाह को शिकायत कर श्रीगुरु महाराज को ग्वालियर के किले में कैद करवा दिया गया किन्तु जल्दी ही सारे क्षेत्र का वातावरण विगड़ गया। लाखों लोग श्रीगुरु महाराज को भेंट करने को ग्वालियर आने लगे। श्रीगुरु जी की प्रसिद्धि बढ़ने लगी तब मुसलमान फकीर भी घबड़ाने लगे तथा उनके कहने पर जहाँगीर ने उन्हें छोड़ने की आज्ञा दी। श्रीगुरु महाराज ने कहला भेजा कि हमारे साथ जो भी साथी लोग जेल में कैद हैं वे सभी छोड़े जाएँगे तभी हम बाहर निकलेंगे। उस समय अनेक राजा, पंडित, कवि आदि किले में बंद थे। उस पर जहाँगीर ने आज्ञा दी कि जितने राजा गुरु

साहब का पल्ला पकड़कर बाहर आ जाएं वे सभी छोड़ दिए जाएंगे। इस पर श्रीगुरु महाराज ने साठ पल्लों का एक जामा नैयाग करगया और उसे पहनकर वे बाहर चले और एक-एक कैदी ने एक-एक पल्ला पकड़ लिया और वे सभी राजा लोग भी बाहर आ गए उसी समय में श्रीगुरु हरगोविन्द साहब का नाम 'वंदीछोर' प्रसिद्ध हुआ। किले के अन्दर 'वंदीछोर' दाता का नाम अभी तक विद्यमान है।

\* श्रीगुरु तेगबहादुर जी (वि.सं.1678-1732; ई.सन्.1621-1675)

श्रीगुरु तेगबहादुर जी का जन्म अमृतसर में हुआ था। इनके पिता श्री गुरु हरगोविंद जी की मुगलों के साथ बार-बार लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। श्री गुरु तेगबहादुर जी ने अपनी 43 वर्ष की आयु में गुरुपद का भार संभाला। गुरुजी ने कीर्तपुर के निकट आनंदपुर की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया।

श्रीगुरु तेगबहादुर जी देशभर की स्थिति का अध्ययन करने हेतु भ्रमण पर निकल पड़े। सन् 1666 में, प्रयाग तथा काशी में पर्याप्त दान तथा पुण्य के कार्य सम्पन्न करते हुए आप पटना आ गए। अपनी पत्नी माता गूजरी को पटना में ही छोड़कर वे असम तथा बंगाल की यात्रा पर चले गए। इस यात्रा का उद्देश्य, हिंदुत्व का जागरण तथा समाज संगठन ही था।

श्रीगुरु तेगबहादुर जी ने उसी भक्ति का जागरण किया जिसके प्रयास श्री गुरु नानकदेव जी के समय से चले आ रहे थे। भक्ति में प्रभु का नामस्मरण ही प्रमुख है, इसी भक्ति को जन-जन के हृदय में जगाने का प्रयास वे करते हैं-

“गुरु गोविन्द गाइयो नहीं जन्मु आकारथ कीन।  
कहु नानक हरि भजु मना जिहि बिधि जल कौ मीन ॥”

(सलोक-महला-9)

“तनु धनु सपै सुख दीओ अरु जिह नीके धाम।  
कहु नानक सुनु रे मना सिमरत काहे न राम ॥”

(सलोक-महला-9)

श्रीगुरु तेगबहादुर कहते हैं- 'गोविन्द (भगवान्) के गुण गाये बिना यह जनम अकारथ जा रहा है। अरे मन हरि का नाम उसी प्रकार भज जैसे जल के बिना मछली वैचैन हो जाती है। शरीर, धन, सुख तथा सुन्दर घर आदि सभी कुछ उस ईश्वर ने दिया है। अरे मन तू अब भी प्रभु राम का स्मरण क्यों नहीं करता।' श्रीगुरु तेगबहादुर जी निर्गुणोपासक साधकों की परम्परा का अनुसरण करते हुए ईश्वर की निर्गुण सत्ता को ही स्वीकार करते हैं। किन्तु वे सर्वसमन्वयवादी भी हैं

इस कारण रघुकुल तिलक राम तथा यशोदानन्दन कृष्ण को पूर्ण मच्चिदानन्द ब्रह्म स्वीकार करने हैं। श्रीगुरु तेगबहादुर जी ने राम-कृष्ण की मानवीय लीलाओं का भी सुन्दर वर्णन किया है। 'हरि कौ नाम मदा मुखदाई' भजन गाने हुए, अजामिल तथा गणिका की सभी पापों से मुक्ति, दुर्योधन की मभा में द्रोपदी की महायता का सुन्दर वर्णन भी श्रीगुरु जी ने किया है।

**औरंगजेब के अत्याचार-** मुगल बादशाहों में औरंगजेब अत्यंत निर्दयी था। उसके बारे में इतिहास में जो लिखा मिलता है उसके अनुसार- “औरंगजेब मन् 1657 में गद्दी पर बैठा। इसके पूर्व वह गुजरात का सूबेदार था। वहाँ उसने चित्तामणि का विशाल मन्दिर गिराकर गौहत्या कराई तथा उस मन्दिर के पत्थरों से ही मस्जिद का निर्माण करा दिया। औरंगजेब के शासन में नए मन्दिर बनने पर तत्काल रोक लगा दी गई। सोमनाथ, मथुरा, काशी के सभी प्रमुख मंदिर तोड़ दिए गए। कूच बिहार, उज्जैन, उदयपुर, जोधपुर, गोलकुण्डा तथा महाराष्ट्र आदि स्थानों के सभी प्रमुख मन्दिरों को तोड़ डाला गया।”

(गुरु नानक से गुरु गोविन्द सिंह, पृ. 156)

भाई गुरुदास, औरंगजेब के अत्याचारों का वर्णन करते हुए कहते हैं-

“ठाकुर द्वारे ढाहि के तिह, ठौड़ी मसीत उसारा।

मारन गऊ गरीब नूँ, धरती ऊपर पाप बिथारा ॥”

(बार भाई गुरुदास-बार-1, पौड़ी-20)

अर्थात्, 'मन्दिरों को गिराकर मस्जिदें बना दी गई। गऊ, गरीबों को मार कर पाप का विस्तार किया।'

हिन्दू मंदिरों का किंस बर्बरता के साथ ध्वंस किया जा रहा था इसका एक उदाहरण देखिए- “सन् 1679 ई. में जोधपुर में गाड़ी भग्नकर मूर्तियाँ लाई गई थी। सन् 1679-80 में उदयपुर के 123, चित्तौड़ के 63, अमेर के 66 मन्दिरों को गिराकर नष्ट कर दिया। हिंदुओं की पाठशालाएं बंद करा दी गई। उन पर जजिया कर लगा दिया गया। सन् 1665 में दीपावली पर दीपक जलाने पर भी प्रतिबंध लगा दिया। सन् 1668 ई. में सभी हिंदू तीर्थयात्राएं प्रतिबन्धित हो गई। सन् 1671 की आज्ञा में शासकीय सेवा में केवल मुसलमान ही रखे जाने के आदेश प्रसारित कर दिए गए। सभी हिंदुओं को शासकीय सेवाओं में निकाल दिया गया।”

(गुरु नानक से गुरु गोविन्द सिंह, पृ. 157)

“काश्मीर में नवाब इफ्तखार द्वारा हिन्दुओं पर अत्याचार निरन्तर बढ़ते ही

जा रहे थे। औरंगजेब की मंदिर-तोड़ नीति का दुष्प्रभाव पंजाब पर भी पड़ा था। मिक्खों के मुखियों को भी धर्मशालाओं और गुम्बाराओं से बाहर निकाल कर उन्हें गिराया जाने लगा था।” (मुल्तयाब-उक्त-लुबाब, खण्ड-2, पृ० 651-52)

हिंदुओं पर हो रहे अन्याचारों को श्रीगुरु तेगबहादुर जी ने स्वयं अपने कालखण्ड में देखा। पीड़ित हिंदुओं की कथाएं रोंगटे खड़े करने वाली थीं। अब हिंदू समाज को संगठित करना ही एकमात्र मार्ग दिख रहा था। इसी योजना से श्री गुरुजी देश की यात्रा पर निकल गये। इस प्रकार पंजाब की मिक्ख सन्त परम्परा हिंदू समाज के अन्दर समरसता तथा संगठन के प्रयास में पूर्ण प्राण-प्रण से जुटी हुई थी।

श्रीगुरु तेगबहादुर जी की प्रथम गिरफ्तारी-श्रीगुरु तेगबहादुर जी, भारतीय सन्त परंपरा के अत्यन्त तेजस्वी दीपस्तम्भ की तरह सदैव आलोकित रहेंगे। जिस प्रकार उनका बलिदान हुआ वह कथा केवल मार्मिक ही नहीं है बल्कि भारतीय जनमानस को संगठित कर, आतताई शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करने हेतु सदैव संचर्च करती रहने वाली बलिदानी गाथा भी है। श्रीगुरु तेगबहादुर जी को प्रथम बार (वि० संवत् 1722 की कार्तिक शुक्ल एकादशी से 1722 विक्रमी की पौष कृ० पंचमी तक) दिल्ली के बन्दीगृह में बन्द रखा गया था। उस समय औरंगजेब ने अपना उद्देश्य बताते हुए श्रीगुरु तेगबहादुर जी को स्पष्ट कहा-

“अस नौरंग बोलयो मम काज। है जो कर हूँ मुनहु तुम आज।  
हिन्दू रहै न भूँ महि कोउ। इह निश्चा हमरे दिह होऊ।  
निज दुहिता तक अरपौं तांही। आइ जु हिन्दु शरा के मांही।  
हमारे मति महिं यहां सबाब। सिफति करहि खुदाइ अदाब।  
असली काज अहै इह मेरो। करहि जु फेर न मानहि हेरो।  
तिसके साथ शत्रुता नीत। करिहौं मैं सभि रीति अनीत।”

(श्री गुरु प्रताप मूरज, रास 12, अंशु 48, छन्द 8, 13-16)

अर्थात्, ‘औरंगजेब (श्रीगुरु तेगबहादुर जी से) बोला कि मेरा जो उद्देश्य है, उसे तुम आज सुनो। इस धरती पर हिन्दू कोई न रहे, ऐसा करने का मेरा दृढ़ निश्चय है। जो हिन्दू इस्लामी शरा में आ जाएगा, मैं उसको अपनी दुहिता (पुत्री) तक अर्पित कर सकता हूँ। हमारे मत में यह बड़े सबाब (पुण्य) का कार्य है। हम बड़े सम्मान से अल्लाह की सिफत (सेवा) किया करते हैं। यही मेरा वास्तविक कार्य है। जो हमारी इस बात को नहीं मानता, उसके साथ हमारी नित्य की शत्रुता है। ऐसे

शत्रु के साथ मैं सभी प्रकार का अनीतिपूर्ण व्यवहार किया करना हूँ। इसके अन्त में श्रीगुरु तेगबहादुर जी ने कहा था-

“जे प्रभु चहै त हिन्दू न जनमै। तुरक जनम ही वै निस दिन मैं।”

(मिक्ख इतिहास में श्री रामजन्मभूमि, पृ० 95)

अर्थात्, ‘यदि परमेश्वर ने चाहा होता तो हिन्दू जन्म ही नहीं लेते और तुरक (मुसलमान) ही दिन रात पैदा होते रहते’। श्रीगुरु तेगबहादुर जी की हिन्दू-धर्म के प्रति निष्ठा अनन्य भाव से पूरी थी इसको वे निम्न प्रकार व्यक्त करते हैं-

“तित ते सुनि श्री तेगबहादर। धरम निबाहनि बिखै बहादर।

उत्तर भन्यो धरम हम हिन्दू। अति प्रिय को किम करहि निकन्दू॥

लोक प्रलोक बिखै सुखदानी। आन न पईप्रति जाहि समानी।

मति मलीन मूरख मति जोइ। इस को त्यागहि पांमर सोई॥

दीस दुनी महिं दुख को पावै। जम सजाइ दे नहिं त्रिपतावै।

सुमतिवन्त हम, कहु क्यौं त्यागहिं। धरम राखिबे नित अनुरागहि॥”

(श्री गुरुप्रताप सूरज-12-64-34-36)

अर्थात्, ‘औरंगजेब की बातें सुनकर स्वधर्म निभाने में वीर, श्रीगुरु तेगबहादुर जी ने कहा कि हम हिन्दू-धर्मी हैं। अपने अतिप्रिय हिन्दू धर्म का निषेध हम कैसे करें? यह हमारा हिन्दू धर्म, लोक और परलोक दोनों में सुख देने वाला है। हिन्दू धर्म के ममान कोई दूसरा धर्म नहीं दियाई देता। मलीन मति और मूर्ख-मति व्यक्ति ही इसको त्यागने की मोचना है, वह निश्चय ही पामर है। ऐसा व्यक्ति व्यक्ति अत्यन्त दुःख पाता है और यमराज भी उसको दण्ड देने-देते मृत नहीं होता। हम तो मुमतिवन्त हैं। हम क्यौं हिन्दू धर्म का परित्याग करें? हमारा तो स्वधर्म की रक्षा में नित्य ही अनुराग है।’

काश्मीर के ब्राह्मणों का प्रतिनिधि मण्डल- औरंगजेब ने सर्वप्रथम ब्राह्मणों को ही मुसलमान बनाने की ठान ली थी। उसका विचार था कि ब्राह्मणों की स्वधर्मनिष्ठ शिक्षा द्वारा मुद्दू संस्कारों के कारण ही साधारण हिन्दू भी अपने धर्म और संस्कृति के प्रति निष्ठा प्रकट करते रहे हैं। इसी कारण काश्मीर के ब्राह्मणों पर भीषण अत्याचार हो रहे थे। इन सब बातों पर गम्भीरता से विचार-विमर्श करने के उपरान्त, पण्डित कृपागम दत्त की अध्यक्षता में एक 16 सदस्यीय शिष्ट-मण्डल, श्रीगुरु तेगबहादुर जी से मिलने के लिए पंजाब की ओर चल दिया।

25 मई, सन् 1675 को यह प्रतिनिधि मण्डल श्रीगुरु तेगबहादुर जी को चकनानक

(आज आनन्दपुर माहिब) नामक स्थान पर मिला। श्रीगुरु तेगबहादुर को उनका श्रावणभ्रम स्मरण कराकर काश्मीर एवं उत्तर भारत में आए हुए शिष्टमण्डल ने उस समय भारतवर्ष पर छाई विपदा का वर्णन किया तथा श्रीगुरु तेगबहादुर जी में श्रद्धा की प्रार्थना की। उनका एक पद देखते में हिन्दू ममाज का संकट ध्यान में आता है। इस पद में, काश्मीर के ब्राह्मण, औरंगजेब के अत्याचारों का वर्णन करने हुए, श्रीगुरु तेगबहादुर जी को कहते हैं:-

“चाहित है करनी, सगरी धरनी, दीन सवरनी, तुरकानी।  
मन्दिर सबि मेरे, देवन केरे, बिन ही देरे, अभिमानी॥  
करि जौर बजोरी, लाज न छोरी, जालम खोरी तुरकानै।  
हिन्दुन की वेटी, बहु समेटी, दुशटनि भेटी जबरानै।  
इस हित मिल सारनि, करिओ विचारन, राखन कारन, धरम निजै।  
राखन सरनार्ड, लीनी आई, लैहु बचाई दान दिजै॥”

(सिक्ख इतिहास में श्रीगुरु जन्मभूमि-पृ० 86)

अर्थात्, 'यह जो औरंगजेब है, भारतवर्ष की सारी धरती को अपने दीन के रंग में रंग कर मुगलमानी बना देना चाहता है। इस अभिमानी ने देवी-देवताओं के सभी मंदिर बिना देर लगाए गिरा दिए हैं। इन जालिम मुसलमानों ने जोर जबरदस्ती करके फिगी की लोकलाज नहीं छोड़ी। इस दुष्ट शासन ने हिन्दुओं की बहुत सारी बहू और धैर्याँ बलपूर्वक छीन ली हैं और दुष्टजनों की भेंट चढ़ा दी है। इन सभी विषयों के निवारण के लिए हम सबने मिलकर विचार किया है और स्वधर्म की रक्षा के लिए आपकी शरण ली है। अब आप ही हमें बचाएं और यही दान हमें दीजिए।'

श्रीगुरु तेगबहादुर जी ने श्री गोविन्द दाम को गुरु स्थान पर सम्बन्ध 1732 विज्रमी, श्रावण कृष्ण अष्टमी के दिन विराजमान कर, दिल्ली जाने का मन बना लिया। श्रीगुरु तेगबहादुर जी ने उस प्रसंग पर कहा-“भाई सिक्खों! आगे से असां की थाई श्री गोविन्द दाम जी को गुरु जानना। असां हुण इथे आए फरिआदी काश्मीरी ब्राह्मणों की खातर दिल्ली जायेंगे।”

(गुरु की आंसां साखीओं, साखी 28, पृ० 72)

श्रीगुरु तेगबहादुर की अन्तिम विराजमानी-विक्रम संवत् 1732 की श्रावण कृष्ण अष्टमी को ही श्रीगुरु तेगबहादुर जी अपने कुछ भरोसे के साथियों भाई मतीदास छिखर (दीवान), भाई गोलिया (रमोडिया) तथा भाई दयालदास (राजाभोज के वंशज) आदि को साथ लेकर दिल्ली की ओर प्रस्थान कर दिये।

मरहिन्द के हाकिम ने उन्हें गिरफ्तार कर ममाचार दिल्ली औरंगजेब के पास भेज दिया। तीन माह बाद श्रीगुरु तेगबहादुर जी को लोहे के पिंजरे में बंद करके दिल्ली रवाना किया। दिल्ली के काजी ने कहा-“इह हिन्दू-पीर इस्लाम के रास्ते में रुकावट है, इसे मोमिन बनाइ लैना निहाइत जरूरी है। इह हिन्द में माना हुआ पीर है, इसके साथ किसी किसम की रियाइत करनी वाजब नहीं होइगी।”

\*\*\*

(वही, पृ० 74)

मन्त शिरोमणि श्रीगुरु तेगबहादुर जी का बलिदान- श्रीगुरु जी तथा उनके साथियों पर क्रूर अत्याचार का दौर लगातार पाँच दिन तक चलता रहा। शाही काजी ने स्वयं कोनवाली में आकर कहा-“इसे इस्लाम में लाने के लीए कोई कसर बाकी न छोरै। अगर इसे पिआस लागे तां पानी पीने के लीए नहीं देना। दरोगा जेल ने तीन दिवस गुरुजी को घणों कपट दीआ। इनके बदन सीस ते गरम रेत पाई गई, जिसम सारा छाले-छाले होई गिआ।”

(गुरु की आंसां साखीओं, साखी-30, पृ० 75)

श्रीगुरुजी को तीन दिन तक रंचमात्र भी पीने को पानी नहीं दिया गया। फिर लोहे का घम्बा तपाया गया और उस स्तम्भ से श्रीगुरु जी की पीठ सटा दी गई, ऊपर से तपनी रेत डाली गई। पाँचवे दिन श्रीगुरु तेगबहादुर, भाई दयालदास, भाई मतीदास और भाई मनीदास को कोतवाली के निकट वट वृक्ष के नीचे लाया गया। शाही काजी ने पहला फतवा दिया कि इस (श्रीगुरुजी) के तीनों साथियों को इसके सामने मार दिया जाय। यदि फिर भी यह (इस्लाम में जाने के लिए) न माने तो “इसे वी अगले जहन्नम तोर (भेज) दीआ जाए।” फिर शाही काजी के फतवे के अनुसार-

1-भाई दयालदास को “रीझने देग (उबलने पानी के भाण्डे) में बन्द करके मारा।”

2-भाई मतीदास को “आगे गैल चीरा गिआ” (लकड़ी के शहतीर में बाँधकर ऊपर से नीचे तक दो टुकड़ों में चीर दिया गया।)

3-भाई मतीदास को “रूई में बनेट (लोपेट) जिंदा जलाइ दीआ।”

इन तीनों विभूतियों का बलिदान श्रीगुरुजी ने अपनी आंखों में देखा तीनों का बलिदान देखकर “धन्न मिक्खी, धन्न मिक्खी” कहने हुए श्रीगुरु तेगबहादुर बोले: “इन (तीनों) सिक्खों की शहादत (बलिदान) ने तुरक राज की आंजां जड़ा खोखली आं कर दी है। (इसलिये) इह राज जिआदा समां नहीं रहेगा। जबकि जिमी ते आममान खला (खड़ा) है अते चाँद ते सूरज काइम है, इनका नाउं दुनीआं में रोशन

रहेगा” (गुरु कीआं माखीआं, साखी 30, पृ० 76)

अन्ततः शाही काजी ने फतवा दिया कि “गुरुजी को भी कत्ल कर दिया जाय। उधर श्रीगुरु नेगवहादुर जी ने स्त्री जपुजी साहिब कीआं पांच पड़ोआं का पाठ करके आखिरी सलोक का मुख थीं उच्चारन कीआ। दोमें (दोनों) हाथ बांध शीश को झुकाइआ। तभी जल्लाद ने अपना वार कीआ। सिर घड़ से जुदा होइ गिया। गले में बांधे धागे को आँच तीक नहीं लागी। सारी खलकत देखकर दंग रह गई।” (वही, साखी-31, पृ० 77)

श्रीगुरु गोविन्दसिंह जी ने अपने पिता के इस वलिदान को ‘विचित्र नाटक’ में धर्म हेतु वलिदान के रूप में प्रस्तुत किया है-

“तिलक जंजु राखा प्रभु ताका। कीनो बडो कलू महि साका ॥  
साधनि हेति इती जिनि करी। सीसु दीया पर सी न उचरी ॥  
धरम हेत साका जिनि कीआ। सीसु दीआ पर सिरर न दीआ ॥

ठीकरि फोरि दिलीस सिर, प्रभु पुर किया पयान।

नेगबहादुर सी क्रिया, करी न किनहूँ आन ॥

नेगबहादुर के चलत, भयो जगत को सोक।

है है है सब जग भयो, जै जै जै सुरलोक ॥”

(विचित्र नाटक, 5-13-15)

अर्थात्, ‘प्रभु ने उनके तिलक और जनेऊ (यज्ञोपवीत) की रक्षा की। उन्होंने कलियुग में बहुत बड़ा वलिदान दिया। साधुओं के परित्राण के लिए उन्होंने इनना महान कार्य किया कि अपना शीश कटा दिया किंतु भी (उफ़) भी नहीं की। गुरु नेगवहादुर जी तो अपने शरीर को मिट्टी के टुकड़े के समान ही समझते थे और उसे उन्होंने औरंगजेब के सिर पर फोड़ दिया और स्वयं प्रभु के चरणों में लीन हो गए। कलियुग में ऐसा पहली बार ही हुआ। गुरुनेगवहादुर के इस अदभुत कौतुक से सारा संसार शोक में डूब गया। सम्पूर्ण जगत में हाहाकार मच गया तथा स्वर्ग में उनके स्वागत हेतु जयजयकार होने लगा।’

**भाई लक्खी शाह** - श्रीगुरु नेगवहादुर के घड़ को लेकर आता भी एक कठिन काम था। पानी भरनेवाला भिखती, भाई लक्खी शाह अपने आठ पुत्रों को लेकर रात्रि के अन्धकार में चाँदनी चौक से श्रीगुरु नेगवहादुर जी के घड़ को ले भागा और अपने ही घर में सारा सामान एकत्रित कर आग लगा दी। इस प्रकार श्री गुरु नेगवहादुर जी के शरीर का संस्कार कर दिया। इसी स्थान पर रकावंगज का गुरुद्वारा खड़ा है। ‘गुरु नेगवहादुर जी ने अपने शरीर को मिट्टी के बर्तन के समान

ही समझते थे और उसे उन्होंने औरंगजेब के सिर पर मार कर फोड़ दिया और स्वयं प्रभु के चरणों में लीन हो गए। कलियुग में ऐसा पहली बार ही हुआ। गुरु नेगवहादुर के इस अदभुत कौतुक से सारा संसार शोक में डूब गया। सम्पूर्ण जगत में हाहाकार मच गया तथा स्वर्ग में उनके स्वागत हेतु जयजयकार होने लगा।

**रंगरेटे गुरु के बेटे** - इस प्रकार औरंगजेब ने, 11 नवम्बर ई.सन् 1675 को चाँदनी चौक चौमैहें, पर श्रीगुरु नेगवहादुर जी की हत्या कर दी। उनके सिर को मुग्धनि लेकर वहादुरी के साथ आनन्दपुर तक लानेवाला जैता रंगरेटा (सफाई करनेवाला) गुरु का शिष्य था। श्रीगुरु गोविन्दसिंह ने इसे अपने हृदय से लगाकर कहा “रंगरेटे गुरु के बेटे” और उन्हें सम्मानित किया। चाँदनी चौक का शीशगंज गुरुद्वारा उसी शहीदी स्थल पर बना है।

यह वलिदान उन्होंने धर्म के लिए किया, उन्होंने शीश दे दिया किंतु निष्ठा नहीं छोड़ी। इस वलिदान से पूरे पंजाब में क्रोध की लहर दौड़ गयी। सभी हिन्दू जानियाँ मिलकर इसका प्रतिकार लेने के लिये खड़ी होने लगी। आगे चलकर हिन्दू ममाज की सभी विपमताओं को दूर कर एक संगठित सशस्त्र सिक्ख सेना का स्वरूप देने का कार्य श्रीगुरु गोविन्ददेव करते हैं।

\* श्रीगुरु गोविन्दसिंह जी (वि.सं. 1723-1765; ई.सन् 1666-1708) -

श्रीगुरु गोविन्दसिंह का जन्म पटना (बिहार) में हुआ किन्तु कार्यक्षेत्र अधिकांश रूप में पंजाब ही रहा। स्वामी विवेकानन्द ने जिस व्यक्ति का आदर्श हिन्दू समाज के सम्मुख रखा, वे थे श्रीगुरु गोविन्दसिंह। उन्होंने कहा - “स्मरण रहे, यदि तुम अपने देश का कल्याण चाहते हो तो तुम में से प्रत्येक को श्रीगुरु गोविन्दसिंह बनना होगा।” श्री गुरुनानक द्वारा प्रारम्भ हुई गुरु परम्परा में श्रीगोविन्दसिंह दशम थे तथा उनके पश्चात् यह परम्परा भी समाप्त हो गई। हिन्दू समाज की सामाजिक समस्या के लिये उन्होंने अनुकरणीय उदाहरण रखे। श्रीगुरु गोविन्दसिंह को सन् 1689 में, प्रथम युद्ध इसी देश के राजाओं से इस कारण लड़ना पड़ा क्योंकि उन्होंने निम्न कही जाने वाली जातियों को ऊपर उठाकर बराबरी के स्तर पर सम्मान दिया था। इस युद्ध में विजय श्रीगुरु गोविन्दसिंह की ही हुई।

**खालसा सृजन** - श्रीगुरु गोविन्दसिंह इस निष्कर्ष पर पहुँच गए थे कि अब इस अन्यायारी इस्लामी शक्ति से संघर्ष करने के लिए मशग्न मेना की आवश्यकता है। यह सेना सभी प्रकार के जातिगत भेदभावों से ऊपर तथा सम्पूर्ण देश की एकता में विश्वास करने वाली हो। इस्लाम से संघर्ष करने वाली यह शक्ति धर्माधिष्ठित हो तथा इसमें सम्मिलित होने वाला प्रत्येक भौतिक इस कार्य को ईश्वर द्वारा प्रदत्त

दैवीय दायित्व समझकर अपना वलिदान देने को हर-क्षण तत्पर रहे। इस प्रकार के मैनिकों को खालसा कहा तथा प्रथम पाँच खालसों की उन्होंने स्वयं कठोर परीक्षा ली।

हिन्दू समाज की मज्जा, मैन्यभुजा के रूप में खालसा निर्माण का कार्य विश्व परिदृश्य में अतोन्मा है। इन पाँच खालसों में पहला व्यक्ति लाहौर का दयाराम खत्री, दूसरा दिल्ली का जाट धर्मदाम, तीसरा दारिका का धोबी-मोहकम चन्द, चौथा जगन्नाथपुरी का रसोइया हिम्मत तथा पाँचवा बीदर का नाई माहब चन्द्र था। इस प्रकार देश के पाँच क्षेत्रों से आये इन पाँच में से चार छोटी कहीं जाने वाली जानियों के थे। श्रीगुरु गोविन्दसिंह जी ने इनको खालसा कहा तथा इन्हें गुरु का स्थान दिया। इन्हीं से स्वयं भी दीक्षा ली तथा इनके साथ बैठकर भोजन किया। इन पाँच को जो अधिकार दिये उतने से अधिक अधिकार स्वयं भी नहीं लिये। जो प्रतिज्ञाएँ उनमें कराई वह स्वयं भी की। श्रीगुरु नानकदेव जी के समय से चली आ रही सामूहिक लंगर आर्थात् सामूहिक भोजन की परम्परा को और अधिक व्यवस्थित रूप दिया। इस प्रकार ऊँच-नीच, जाति-पाँति का भेद समाप्त कर सामाजिक समरमता तथा समानता का एक नया अध्याय प्रारम्भ किया।

श्रीगुरु गोविन्दसिंह जी द्वारा खालसा मृजन की भूमिका एवं उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लखनऊ विश्वविद्यालय के पूर्व उपकुलपति श्री राधा कमल मुकजी लिखते हैं- “सामान्य हिन्दुओं में गंभीर प्रभाव डालने के उद्देश्य से गुरु गोविन्द सिंह ने ‘पाहुल-संस्कार’ का आविर्भाव किया जिसके द्वारा सभी भिखों का पुनर्जन्म होता था (फिर संस्कार के पहले वे किसी भी जाति के क्यों न रहे हों) तथा कृपाण में हिला देने के पश्चात् माथ-माथ पानी पीते और ‘कड़ाह प्रसाद’ खाते में वे सभी द्विज हो जाते थे। अब पंजाब के गाँवों में मेहनत और चमार तक ब्राह्मणों के साथ बैठकर भोजन करने लगे। समाज के निम्नतम लोग भूमि के शासक थे, एक समग्र भाईबन्दी के सदस्य थे, ‘खालसा’ थे और गुरु स्वयं अपने नाम के साथ ‘सिंह’ लगाते थे। यह एक प्रकार का नव ब्राह्मणवाद का संस्कार था, जो वर्ण-भेद के समूल उन्मूलन तथा सर्वसाधारण की एकता का प्रतीक था। वे औरंगजेब के जिहाद के विरुद्ध धर्मयुद्ध प्रारम्भ करने को तैयार थे। इस प्रकार मुगल नृणंसता के विरुद्ध केवल भिखों के ही नहीं बरन् समग्र हिन्दूजाति के विरुद्ध के अग्रामी दल के रूप में खालसा का आविर्भाव ई.सन् 1699 में हुआ।” (भारत की संस्कृति और कला, पृ. 312)

खालसा पंथ के सृजन द्वारा सभी जानियों के संयोग से प्रचण्ड धर्म शक्ति का उद्भव हुआ। यह शक्ति क्षात्र-शक्ति 1. गुरुपंथ के साथ उद्भूत हो रही थी। शक्ति

पूजा इस देश की हजारों वर्ष की परंपरा का अंग रही है। उस समय शक्ति पूजा का प्रचलन आम था तथा क्षत्रिय जानियाँ शक्ति की पूजा करती थीं। श्रीगुरु गोविन्द सिंह ने भी दुर्गा देवी का विनायक यज्ञ किया तथा सभी मामग्री यज्ञ में डालने से ऊँची-ऊँची लपटें निकलने लगीं। तब तंगी तलवार लेकर गुरुदेव बाहर निकले मानो यह तलवार दुर्गा से प्राप्त हुई है। श्रीगुरु गोविन्दसिंह सभी हिन्दू जातियों को मंगलित कर उस समय की इस्लाम की अत्याचारी शक्ति से संघर्ष का आह्वान करने हैं। हिन्दू समाज में मान्य देवी-देवताओं के सभी स्वरूपों की स्तुति करते हुये वेद का संरक्षण, गुरु की रक्षा तथा ‘जगै धर्म हिन्दू’ का संकल्प लेते हुए ‘बाणी उग्रदंती’ में वे कहते हैं-

“नमो उग्रदंती अनंती सर्वैया, नमो जोगेश्वरी जोग मैया।  
नमो केहरी वाहिनी शतु-हंती, नमो शारदा ब्रह्म विद्या पढ़ंती।  
नमो जोति-ज्वाला तुमै वेद गावै, सुरासुर ऋशीश्वर नहीं भेद पावै।  
तुही काल अकाल की जोति छाजै, सदा जै, सदा जै विराजै।  
यही दास मांगे कृपा सिन्धु कीजै, स्वयं ब्रह्म की भक्ति सर्वत्र दीजै।  
अगम सूर बीरा उठहिं सिंह योधा, पकड़ तुरकगण कऊ करै वै निरोधा।  
सकल जगत महिं खालसा पंथ गाजै, जगै धर्म हिन्दुक तुरक डुंढ भाजै।।  
तुही खण्ड ब्रह्मण्ड भूमे सरूपी, तुही विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र अनूपी।  
तुही ब्रह्मणी वेद पारण सवित्री, तुही धर्मिणी करण कारण पवित्री।  
तुही हरिकृपा सिऊ अगम रूप होई, सवै पंच मूए, पार पावत न कोई।  
निरंजन स्वरूपा तुही आदि राणी, तुही योग विद्या तुही ब्रह्म वाणी  
अपुन जानकर मोहि लीजै बचाई, असुर पापीगन मार देवउ उड़ाई।  
यही आस पूरण करहु तुम हमारी, मिटै कष्ट गऊजन छुटै खेद भारी।  
फतह सतगुरु की सबन सिऊं बुलाऊ, सबन कउ शब्द बाहि बोहै दूढ़ाऊ।  
करो खालसा पंथ तीसर प्रवेशा, जगहि सिंह योद्धा धरहि नीलवेश।  
यही विनती खास हमारी सुनी जै, असुर मार कर रच्छ गऊजन करीजै।।”

(श्रीगुरु गोविन्दसिंह द्वारा रचित छक देवी-वाणी उग्रदंती)

इस प्रकार हम देखते हैं कि दशम गुरु, श्रीगुरु गोविन्दसिंह सन्त और सेनापति हैं। वे शिव, कृष्ण, राम, विष्णु, देवी चण्डी के भक्त भी हैं। जातिगत भेदभाव से ऊपर हिन्दू समाज की समरसता के लिये वे प्रयास कर रहे हैं वहीं भक्तिभाव जगाकर उसकी अन्दर की शक्ति भी प्रज्वलित कर रहे हैं। ‘कृष्णावतार’ में श्रीगुरु

गोविन्दसिंह भक्ति और शक्ति के समन्वय के साथ-साथ शत्रुओं के विरुद्ध पूरी शक्ति से लड़ने का वरदान प्रभु से माँग रहे हैं -

“हे रवि, हे सूर्य, हे करुणानिधि, मेरी अब विलती मुन लीजै।  
अउर न माँगत हों तुमसे कुछ, चाहत हो चित्त में सोई दीजै ॥  
सस्त्रन सिउँ अति ही रण भीतर, जुझ मरो कहि साच पतीजे।  
संत सहाइ सदा जगमहि, कृपा करि श्याम इहैं बर दीजै ॥”

(श्रीगुरु गोविन्दसिंह द्वारा रचित कृष्णावतार)

श्रीगुरु गोविन्दसिंह सभी प्रकार की सामाजिक विपमनाओं का खण्डन करने हुए मनुष्य की जाति एक ही मानते हैं तथा सभी के अन्दर एक ही जीत बतलाते हैं-

“कोई भयो मुँडिया सन्यासी कोऊ जोगी भयो,  
कोऊ बहाचारी कोऊ जति अनुमान बो ॥  
हिन्दू तुरक कोऊ राफजी इमाम शाफी।  
मानस की जात सबै एकै पहचानबो।  
एक ही की सेव सब ही की गुरुदेव एक,  
एक ही सरूप सबै, एकै जोत जानबो ॥”

(गुरु गोविन्दसिंह और उनकी कविता, पृ० 342, दशम ग्रंथ पृ० 19)

श्रीगुरु गोविन्दसिंह कहते हैं कि सभी मनुष्य उस एक परमात्मा के ही स्वरूप हैं। इनके मध्य किसी भी प्रकार का भेद विचार करना अनुचित है-

“हरि हरिजन दुइ एक हैं बिब विचार कछु नाहि।  
जल ते उपज तरंग जिउ जल ही बिखै समाहि ॥”

(विचित्र नाटक, अध्याय-6-60, पृ. 64)

अर्थात्, ‘हरि और हरिजन एक ही हैं। जैसे जल से उठी तरंग अर्थात् लहर जो पानी से उठती है परंतु वह पानी से अलग नहीं। इसी प्रकार से हरि और हरिजन इसमें रंच-मात्र भी भेद मत करना।’ श्रीगुरु गोविन्दसिंह, पृथ्वी पर अपने जन्म लेने के उद्देश्य को स्पष्ट करने हुए बतलाते हैं कि ‘हम तो धर्म स्थापना, दुष्ट लोगों का संहार तथा सन्त लोगों की रक्षा करने आए हैं’-

“हम इह काज जगत मो आए ॥ धरम हेतु गुरुदेव पठाए ॥  
जहाँ तहाँ तुम धरम बिथारो ॥ दुसट दोखियनि पकरि पछारो ॥  
याही काज धरा हम जनम ॥ समझ लेहु साधू सब मनम ॥  
धरम चलावन सन्त उबारन ॥ दुसट सभन को मूल उपारन ॥”

(विचित्र नाटक, अध्याय-6-42, 43, पृ. 62)

श्रीगुरु गोविन्दसिंह जी के नेजवी एवं आध्यात्मिक जीवन में पूरे पंजाब में ऐसी क्रान्ति उत्पन्न हुई जिसने हिन्दू समाज के भेदभावों को दूर कर एक समरूप, संगठित शक्ति का सृजन किया। समय बीता और अध्यात्म प्रेरित शक्ति हाथ में तलवार और खण्डे के साथ इस्लाम में हिन्दुत्व की रक्षा के लिए खड़ी हो गई। महाराजा रणजीत सिंह के साम्राज्य के बीज श्रीगुरुगोविन्द सिंह जी ने ही स्थापित कर दिए थे। भाई संतोखे सिंह उस समय की परिस्थितियों में श्रीगुरु गोविन्दसिंह जी की भूमिका के बारे में लिखते हैं-

“छाई जाती एकता अनेकता बिलाइजाती,  
होवती कुचीलता कतेबन कुरान की।  
पाप ही प्रपक्क जाते धरम धसक जाते,  
बरन गरक जाते सहित विधान की।  
देवी देव देवते संतोख सिंह दूर होते,  
रीति मिट जाती कथा वेदन पुरान की।  
श्री गुरु गोविन्द सिंह पावन पवित्र सूर,  
मूर्ति न होती जो पै करुणा निधान की।”

अर्थात्, ‘यदि श्रीगुरु गोविन्दसिंह जी महाराज की पवित्र मूर्ति अवतरित न हुई होती तो लोगों के अपने-अपने विविध धर्म पालन का अधिकार समाप्त होकर केवल इस्लाम ही यहाँ रह जाता। सभी धर्मशास्त्र समाप्त हो जाते और केवल कुरान ही शेष रह जाती। चारों ओर पाप का ही बोलवाला होता और धर्म नष्ट हो जाता। न्याय का शासन, देवी-देवता, वेदों और पुराणों की कथाएं तथा रीतिरिवाज भी शेष नहीं रहते।’

श्रीगुरु गोविन्दसिंह जी ने अपने सामने ही श्री गुरुग्रन्थ साहिब को श्रीगुरु स्थान पर स्थापित कर दिया-

“आजा भई अकाल की तभी चलायो पंथ ॥  
सब सिखन को हुकुम है गुरु मानयो ग्रन्थ ॥  
गुरुग्रन्थ जी मानयो प्रगट गुरां की देह ॥  
जो प्रभु को मिलबो चहैं खोज शब्द में लेह ॥”

श्रीगुरु गोविन्दसिंह जी ने श्रीगुरुग्रन्थ साहिब जी को साक्षात् गुरु की देह की तरह पूजने का हुक्म देते हुए फरमाया कि प्रभु को पाने की अभिलाषा है तो श्रीगुरुग्रन्थ साहिब में निहित गुरुवाणी के शब्दों में उसे खोज लें। श्रीगुरु ग्रन्थसाहिब

को विधिवत गुरु का दर्जा प्रदान करने के पश्चात् भिखों में व्यक्तिगत गुरु प्रथा का अंत हो गया।

अनेक मोर्चों पर संघर्षरत मिश्र गुरु - सानक पंथ और मिश्र इतिहास को जब हम देखते हैं तो पाते हैं कि हिन्दू समाज के सभी वर्गों को साथ लेकर एकमात्र कई मोर्चों पर ये गुरु संघर्ष कर रहे हैं। वे निराकार-निर्गुणभक्त का सन्देश देकर, ढोंग, पाखण्ड तथा कर्मकाण्ड से समाज को बाहर ला रहे हैं वहीं चण्डीस्तोत्र, रामावतार, कृष्णावतार तथा विचित्र नाटक लिखकर ज़ोर जगाने हुए जैव-वैष्णव-शाक्त सभी को भक्तिभाव से जोड़ भी रहे हैं। वेद तथा संस्कृत अध्ययन के लिए सिक्खों (निर्मलों) को काशी भेजते हैं किन्तु लोकभाषा में साहित्य रचना करते हैं और देश भर के सन्तों-भक्तों की वाणी को गुरुमुखी लिपि देकर, उर्दू-फारसी से समाज को बचाते भी हैं। एकसंगत-एकपंगत करके जातिभेद नहीं मानते तथा खालसा सजाकर, नीची कही जाने वाली जातियों को सम्मानित कर गुरुस्थान पर बैठाकर उन्हीं से दीक्षा लेकर सामाजिक समरसता का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वे सन्त हैं किन्तु तलवार का जवाब तलवार से देने के लिए समाज को खड़ा कर के सेना भी सजा रहे हैं। भक्तिभाव को केन्द्र बिन्दु में रखकर सामाजिक समरसता का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती हुई पंजाब की यह सन्त गुरु परम्परा अद्भुतरूप से विकसित हुई है। क्या विश्व इतिहास में इसका कोई परिदृश्य संभव है ?

\* सिन्धी सन्त रोहल - (वि.सं. 1761-1840; ई.सन् 1704-1783) सिंध

सन्त रोहल का जन्म जिला धरगारकर, तहसील उमरकोट सिन्ध में हुआ था। ये जाति से मुसलमान थे तथा इनके पिता शाह भान जंगी बलूच कबीला वंश के थे। ये विवाहित थे किन्तु हिन्दू सन्तों के साथ रहते-रहते इनकी आध्यात्मिक चेतना जग गई। संत रोहल गुरु की महिमा बतलाते हैं-

“सद्गुरु पाँव पड़त हैं, जिन संग उपज्यौ ज्ञान।

दया जु भई दयाल की, जीत्यों गढ़ अभिमान ॥ 1 ॥

सब घट आतमराम है अंध्या सूझत नाहिं।

रोहल सूझी तब पड़े, (जब) सद्गुरु पकड़े बाँह ॥ 2 ॥”

(हिन्दी संत काव्य: समाज शास्त्रीय अध्ययन, पृ 83 )

निर्गुण सन्त-परम्परा के अनुसार संत रोहल ने गुरु महिमा, बाह्याचार का षण्डन, जातिगत भेदभाव से दूर अनादि ब्रह्म की साधना के निर्गुण-भक्ति मार्ग का पालन किया-

“सतगुरु अन्तर खोलकर, दिखलाया महबूब (ईश्वर)।

मन मोहन सौई मिल्यो, जो खूबन में खूब ॥”

संत रोहल आगे चक्रकर भारतीय वेदान्त साधना में लीन हो गये। इन्होंने सभी पूर्ववर्ती सन्तों जैसे-मन नामदेव, मन मेना नाई, संत धन्ना भगत, संत कबीर और संत दादू का श्रद्धाभाव से स्मरण किया है। ब्रह्म के चारों में रोहल लिखते हैं-

“जो अगम्य - अखण्ड - अगाध बै अन्त, सो वेद पुरान में लेखा है जी।”

संत रोहल जातिभेद पर प्रहार करने और कहते हैं -

“ता कछु ऊँच न नीच है, सब कर जानौ एक।

रोहल सूझी तब पड़े जब खुलै विचार विवेक ॥”

(वही, पृ 82)

“राजा होवै परजा होवै, ऊँच नीच नहिं कोई।

मेरे नाम सो हेत लगावै, तुरत ले जाऊँ सोई ॥”

(वही, पृ 82)

संत रोहल का पूर्ण विश्वास है कि सभी के अन्दर एक अखण्डित ब्रह्म का वाम है उसमें ऊँच-नीच का कोई प्रश्न ही नहीं है-

“एक अखण्डित ब्रह्म विराजत ऊँच नीच नहीं कुछ ताहीं।

चौरासी लग जून उपाइके, आय बसै सबही घट मौही ॥”

(वही, पृ 85)

संत रोहल की आत्मिक चेतना आध्यात्मोन्मुखी होती चली गई। इन्होंने कबीर, दादू, धन्ना, नामदेव आदि संतों की वाणियों का अध्ययन किया तथा उससे वे इतने अधिक प्रभावित हो गए कि उन्हीं संतों की तरह ही भारतीय वेदान्तपरक अध्यात्म साधना में रम गए। संत रोहल लिखते हैं कि संत परंपरा में भक्ति का तत्व प्रबल है। स्वानुभूति तथा भक्ति के बिना मोक्ष नहीं मिलेगा। बिना भक्ति शंका तथा शोक भी नहीं मिलेंगे-

“अनुभव भगति बिना नहि मोख,

ता बिनु मिटै न संसा सोक ॥”

(अद्भुत ग्रन्थ, झुलना चौपाई)

जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में इस दर्शन के अनुसार सभी के अन्दर एक ही परमात्मा का वास है। संत रोहल वेदान्त दर्शन को मानते हैं और कहते हैं कि सभी के अन्दर एक ही सर्वव्यापी आत्मा उसी प्रकार से स्थापित है जिस प्रकार घट-घट के अन्दर भी एक आकाश रहता है -

“बाहर अन्दर एक है, पिण्ड - ब्रह्माण्ड मह बास।

सर्वव्यापी आत्मा, ज्यों घट माँहि अकाम।”

(शाम्भू अद्भुत ग्रन्थ)

इस प्रकार हम देखते हैं कि मन रोहल मुसलमान होते हुए भी निर्गुण सन्त-परम्परा के प्रमुख मन्त्र हो गए। मिन्ध क्षेत्र में रह कर वे जानिभेद में दूर, सभी प्रकार के बाह्याङ्गमयों से हटकर ईश्वरभक्ति वाला समाज खड़ा करने हैं। इनके प्रयासों से हजारों मुसलमान भी भक्ति की इस सर्वगामी धारा में मग्न हो गये।

\*स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज- (वि.सं. 1913-1983; ई. सन् 1856-1926)

स्वामी श्रद्धानन्द का जन्म जालन्धर जिला पंजाब में हुआ था। सत्यनिष्ठा तथा न्यायप्रियता के कारण सरकारी नौकरी छोड़ दी। कालत प्रारम्भ की किन्तु बाद में दलितोद्धार हेतु कालत भी छोड़ दी। स्वामी दयानन्द को गुरु मान लिया और आर्यसमाज के कार्य में लग गए।

स्वामी दयानन्द एवं श्रद्धानन्द जी का मानना था कि वैदिक काल की समाज व्यवस्था में किसी भी प्रकार का ऊँच-नीच, छुआ-छूत अथवा जातिगत भेदभाव नहीं था, पदार्थ प्रथा भी नहीं थी। सभी लोग वेद-संस्कृत पढ़ सकते थे तथा महिलाएँ भी उच्च शिक्षा पाती थीं और विदुषी थीं। महिलाओं का सम्मान था। आर्यसमाज उपरोक्त सभी कार्यों के लिये समर्पित था। स्वामी श्रद्धानन्द भी उसी कार्य में लग गए। वैदिक परम्परा की उचित व्याख्या तथा देशभर में आर्यसमाज का विचार और कार्य फैलाने का कार्य स्वामी जी ने किया।

स्वामी जी ने सभी जातियों के विद्यार्थियों के लिये वेद अध्ययन हेतु पाठशालाएँ तथा यज्ञ करने हेतु यज्ञशालाएँ स्थापित कीं। सभी जाति के बन्धु तथा महिलाएँ वेद की ऋचाओं के अनुसार यज्ञ करने लगे। लाखों की संख्या में यज्ञोपवीत धारण करने का कार्य स्वामी जी ने कराया। इनमें सभी जातियों के पुरुष एवं महिलाएँ होती थीं वैदिक रीति से कर्मकाण्ड का प्रशिक्षण तथा लौकिक शिक्षा देने के उद्देश्य से जालन्धर में सन् 1888 में कन्या पाठशाला की स्थापना की जो बाद में कन्या महाविद्यालय बन गया। ऐसे नव-जागरण के कार्यों का कुछ लोगों ने विरोध किया, आर्यसमाज के लोगों के सामाजिक बहिष्कार की

धर्मकी दी, प्रयास भी किया किन्तु स्वामी जी डिगें नहीं।

गुरुकुल कांगड़ी (हरिद्वार) की स्थापना - सन् 1902 में, जानिभेद में ऊपर उठकर 1200 बीघा जमीन पर एक विशाल गुरुकुल की स्थापना की। प्रारम्भ में 34 छात्र थे किन्तु आगे चलकर हजारों विद्यार्थी वैदिक शास्त्रों के अध्ययन हेतु वहाँ आ गए। इसमें जाति-पाँति का कोई बन्धन नहीं था। पिछड़ी जातियों के अनेक छात्र वैदिक विद्वान होकर देशभर में निकल पड़े। गुरुकुल में काम करने वाले धोबी, मेहतर आदि के बच्चों को पढ़ाने की व्यवस्था स्वामीजी ने की थी। प्रतिदिन सायंकाल सामूहिक एकत्रीकरण में रामायण का पाठ करने का कार्य मेहतर ही करता था।

दलितोद्धार का कार्य - अछूत यानी दलित भाइयों को समाज में आदर और प्रेम का स्थान दिलाने के लिये उन्होंने देश का अनेक वार प्रवास किया। दलितोद्धार के कार्य के लिये प्रोफेसर सत्यव्रत तथा श्री देवेंश्वर को मद्रास भेजा। मैसूर के लिये श्रीभीमसेन विद्यालंकार एवं पं. गोपालदत्त शास्त्री की योजना की तथा पं. धर्मदेव विद्यावाचस्पति और केशवदेव ज्ञानी इसी कार्य के लिये पंजाब छोड़ कर मद्रास जाकर बस गये।

गुड़ीवाड़ा में ईसाइयों की घर वापसी - गुड़ीवाड़ा में स्वामी जी के आगमन पर आयोजित सम्मेलन में लगभग 3,000 अस्पृश्य कहे जाने वाले बन्धु (जो ईसाई हो गये थे, वे) भी आए। इन सभी ने पुनः हिन्दू धर्म स्वीकार किया। स्वामीजी ने सभी को गायत्री मन्त्र से दीक्षा दी तथा यज्ञोपवीत कराया।

शुद्धि आन्दोलन - आर्यसमाज तो अपने जन्म से ही घर वापसी के कार्य में लगा था तथा स्थान-स्थान पर शुद्धिसभा बनायी गयी थी। दो लाख मलकाने मुसलमान आगरा में शुद्ध हुए। आगरा का यह शुद्धि का कार्यक्रम जोर शोर से हुआ, इसमें शर्त थी कि -

(1) पहले हिन्दू धर्म तथा इस्लाम के दर्शन पर शास्त्रार्थ होगा।

(2) यदि हिन्दू जीतते हैं तो तिर्वा तथा अमेठी के राजा शुद्ध हुए लोगों के साथ दुस्का पियेंगे। मेले की तरह आयोजित इस कार्यक्रम में हजारों लोग उपस्थित हुए तथा शास्त्रार्थ हेतु इस्लाम के बड़े-बड़े विद्वान भी आए थे। अन्त में हिन्दू लोग विजयी हुए तथा राजाओं ने घर वापस आने वाले लोगों के साथ हुक्का पीया तब उनकी शुद्धि हुई और लगभग 2 लाख मुसलमान उस समय हिन्दू बने। गाँव के गाँव मुसलमान से हिन्दू हो गए। लाखों लोगों की शुद्धि से मुसलमान तिलमिला गए और 23 दिसम्बर को अब्दुल रशीद ने गोली मारकर स्वामी जी की हत्या कर दी। वेदों

की ऋचाओं में उद्भूत आत्मीयता और ममता के पावन संदेश के आधार पर सम्पूर्ण समाज को बन्धुत्व और सम्मान के धरातल पर जोड़ने वाला वह महामानीवी चला गया।

\* रामावतार-चरित (काश्मीरी रामायण) (19वीं शताब्दी)

प्रकाशराम कुर्यग्रामी (19 वीं शताब्दी) ने 28 वर्ष की आयु में रामावतार चरित की संरचना की। उनके इस रामायण का संपूर्ण कथानक 7 काण्डों में है। अनेक स्थान पर ठेठ देहाती शब्दों का प्रयोग किया गया है- दपन, कर्न, गछन, वनन आदि, अलंकारों में प्रायः उपमा व उत्प्रेक्षा का विशेष रूप से प्रयोग किया है। काश्मीरी भाषा में संस्कृत और अरबी भाषाएँ कंधे से कंधा मिलाकर चलती हैं। एक ओर गलीमन, सगी फारस, जंग जैसे अरबी शब्द तो दूसरी ओर हृदय, नमस्कार, आकाश, पाताल जैसे संस्कृत की सुन्दर शैली की छटा है। इस ग्रंथ को सभी हिन्दू तो मिलकर अध्ययन करते ही थे साथ ही मुसलमान भी इसके पाठ में भाग लेते थे।

॥ ॐ ॥

## उत्तराञ्चल एवं हिमाचल की श्रान्त परम्परा

भारत वर्ष का हिमालय क्षेत्र मदैव से ऋषि-मुनियों तथा मनों को आकर्षित करने वाला रहा है। मिद्ध-मुनि-साधक अपनी साधना हेतु हजारों वर्ष में हिमालय की सर्वश्रेष्ठ आगधनों स्थली मानते रहे हैं। ऋषि अप्टावक्र, महर्षि व्यास, परशुराम, नारद, गोरक्षनाथ, मछिन्दर नाथ, सत्यनाथ, गरीबनाथ, कबीरनाथ एवं बालकनाथ आदि ने भी हिमालय को अपनी साधना हेतु चुना। हिमाचल प्रदेश तो नाथों की प्रमुख साधना स्थली रही है। कहते हैं कि राजा अजय पाल को भारवनाथ ने मन्थयोगी के रूप में यहीं दर्शन दिए थे।

मन कबीरदास का भी गढ़वाल क्षेत्र में जाने का संदर्भ मिलता है। कबीरदास की गढ़वाल यात्रा के समय वहाँ राजा राय मोहन का शासन था। कबीरदास ने इन्हीं के साथ बदरीनाथ की यात्रा की थी। राजा राय मोहन कबीरदास के शिष्य हो गए। गढ़वाल के हजारों डोम मंत कबीर के भक्ति आंदोलन के साथ जुड़े गए। वे निरंकार अथवा निरंकार की उपासना करते हैं।

\* संत मौला राम

मध्यकाल में हिमालय क्षेत्र के संत मौलाराम प्रसिद्ध कवि एवं चित्रकार भी थे। उनके मतानुसार आदि शक्ति ही सृष्टि का मूल है। वही मदाशिव है, वह निर्गुण-निरंकार है। सकल या सगुण रूप धारण कर वही समस्त सृष्टि की रचना करता है। मौला राम ने मन्मथ पंथ चलाया। उन्होंने गृहस्थ धर्म का पालन किया तथा नैतिक जीवन की श्रेष्ठता पर बल दिया। अपने अनुयायियों में उन्होंने जातिगत भेदभाव को कोई स्थान नहीं दिया।

मौला राम का 'मन्मथ' पंथ मनस्सन्ध तथा आध्यात्मिक दर्शन के श्रेष्ठ मिद्धान्तों को मानने वाला शुद्ध ईश्वर साधना का मार्ग है। इसमें सभी जाति-वर्ण के साथ सम्मानता का ही व्यवहार है। मौलाराम के अनुसार यह पंथ अमृत का सार है, जो इसे जानने हैं उन्हें ब्रह्मानन्द-लाभ होता है-

“मन्मथ को पंथ ऐसों, इमृत को सार जैसों।

जानता है सोई संत, ब्रह्म को बिलासा है ॥”

(हिन्दी संत काव्य : समाज शास्त्रीय अध्ययन, पृ. 79)

मन मौलाराम की साधना में कबीर-रैदास का मिला जुला भाव दिखता है।

### \* संत शशिधर- (19वीं शताब्दी):-गढ़वाल क्षेत्र

संत शशिधर, गढ़वाल के एक प्रमुख संत हो गए हैं। इन्होंने भगवान् कृष्ण को अपना उपास्य माना। इनकी साधना में प्रेम तथा योग का अद्भुत समन्वय था तथा मत पर नियंत्रण करना सभी के लिए आवश्यक है। साधना में प्राप्त अवर्णनीय सुख का वे वर्णन करने हैं-

“ध्यान भजन तहाँ नहिं पूजा। आये आप अतीत-आवरण दूजा॥

बोधन-मोक्ष तहाँ पूरण आनन्द। आये आप सहज खेले निरबद॥”

(हिन्दी संत काव्य: समाज शास्त्रीय अध्ययन, पृ. 80)

संत शशिधर के चार ग्रंथों का उल्लेख मिलता है- यह हैं- 1. दोहावली, 2.

ज्ञान दीप, 3. सच्चिदानन्द लहरी तथा 4. योग प्रेमवाली।

इन संतों की अपनी साहित्य साधना तथा इनके ममता और प्रेम में भरे व्यवहार ने जातिगत भेदभाव को इनके पास फटकने भी नहीं दिया।

॥ ॐ ॥

## समरसता हेतु हरियाणा के संत और संप्रदाय

हरियाणा प्रान्त लम्बे समय तक राजनीतिक दृष्टि से पंजाब के साथ ही रहा। प्राचीन काल से ही यह क्षेत्र धर्म-दर्शन तथा आध्यात्मिक साधना की स्थली रहा है। वर्तमान में विविध भूगर्भा महान सरस्वती नदी का प्रवाह इसी क्षेत्र में होकर माना जाता है इस कारण वैदिक अध्ययन का क्षेत्र, ब्राह्मणग्रंथ, आरण्यक तथा उपनिषदों की रचनाएं इसी पुण्यभूमि पर हुई हैं। गीता का उपदेश भी कृष्ण ने इसी भूमि पर दिया था। सिद्धों तथा नाथों की कर्मभूमि के साथ-साथ भक्ति-साधना के साक्षात् सूर्य बन गए ऐसे भक्तशिरोमणि सूरदास की जन्मस्थली हरियाणा ही है।

सामाजिक सुधार तथा समरसता हेतु निरन्तर प्रयत्न करते रहने वाले सैकड़ों-संत, महात्माओं की साधना-स्थली हरियाणा क्षेत्र रहा है। स्वामी रामानन्द के प्रसिद्ध शिष्य संत धन्ना जाट यहीं के थे। सन्त दादू के शिष्य ऊदादास, गरीबदास तथा मित्रों के अनेक सम्प्रदायों के साथ-साथ राधास्वामी सम्प्रदाय, नितानन्दी परम्परा, घीसापंथ, वेनामी संतों की परम्परा, समतापंथ, परमानन्दी परम्परा आदि के रूप में अनेक निर्गुणमार्गी सन्त इस क्षेत्र में अपनी भक्ति से आध्यात्मिक साधना करने रहे। इन सभी ने जातिगत भेदभाव, पाखण्ड, होंग, अनावश्यक वाह्याचार के विरुद्ध धार्मिक मंचों में संघर्ष जारी रखा और बड़ी मात्रा में सफलता प्राप्त की। आर्यसमाज ने वैदिक प्रचार तथा यज्ञों के माध्यम से तथा वैष्णव सगुणमार्गी लोगों ने रामकथा, रामलीला तथा कृष्णकथा के माध्यम से इस क्षेत्र में सामाजिक भेदभाव को दूर करने का शक्तिशाली प्रयास किया। हरियाणा की विशाल सन्त परम्परा में से कुछ सन्तों तथा पंथों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है:

\* सन्त गरीब दास तथा गरीब पंथ (वि.सं. 18वीं-19 वीं शताब्दी)

ऐसा माना जाता है कि गरीब दास नाम से कई संत हो गए हैं। सर्व प्रथम गरीब दास (वि.सं. 1633-1693), दादू दयाल के बड़े पुत्र थे तथा दादू के ही शिष्य बनकर गद्दी के उत्तराधिकारी भी बने। इनकी 23 हजार वाणियाँ बतलाई जाती हैं। गरीब पंथ के प्रवर्तक गरीब दास (द्वितीय) का जीवन (वि.सं. 1774-1835) तक

माना जाना है। गरीब दास की वाणी नामक जो ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है उसमें वाणियों की कुल संख्या 18500 है। इनके हजारों गिप्य हो गए वे निर्गुण ब्रह्म के उपासक तथा जानिगन भेदभाव में दूर रहे।

#### ■ भक्त जैतराम जी महाराज (18वीं शताब्दी)

भक्त प्रवर जैतराम जी के पिता स्वामी गरीबदास ही थे। वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे। इनकी वाणियों का संग्रह, 'सतगुरु श्री जैतराम जी महाराज की वाणी' नाम से प्रकाशित हुआ है। कुल छन्दों की संख्या 11335 है। सामान्यतः जैतराम जी के उपास्य निर्गुणकार, निर्गुण ब्रह्म हैं, इसको उन्होंने राम नाम से सम्बोधित किया है-

“राम नाम उर धारिये पूरन सब ही काम ॥  
राम नाम सुमिरन करो औसर बीता जाय ॥  
राम नाम नहिं डील कर तेरा जन्म अकारथ जाय ॥”

(हिन्दी संत काव्य: ममाज शास्त्रीय अध्ययन, पृ०, 88)

अन्य निर्गुणमार्गी सन्तों तथा संत जैतराम जी में एक अन्तर अवश्य दिखलाई पड़ता है कि भक्त जैतराम महाराज अवतार तथा पौराणिक कथाओं का सुन्दर वर्णन अपने भजनों में करते हैं।

#### ■ संत चरण दास तथा चरणदासी पंथ (वि.सं. 1760-1839; ई.सन् 1703-1782)

संत चरणदास ही इस पंथ के प्रवर्तक रहे हैं। निर्गुण साधना पद्धति में एक व्यतिनाम संत वे हो गए हैं। इनके वचन का नाम रणजीत था तथा दूसरा (बनिया) जाति में आपका जन्म हुआ था। बाल्यावस्था में दिल्ली आ गए तथा वहाँ शुकदेवजी ने इनका नामकरण चरणदास कर दिया। 19 वर्ष की आयु में दिल्ली में एक गुफा बनाकर 14 वर्ष तक योग साधना करते रहे।

साधना पूर्ण होने के पश्चात् अपने मामाजिक तथा आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ कर दिया। दीन-दुखियों की सेवा तथा समाज की बुराइयों को समाप्त करने का प्रयास भी आपने जीवन भर किया। संत चरणदास जी के 52 शिष्य माने जाते हैं। इनके शिष्यों में दो महिलाएँ-संत सहजोबाई एवं संत दयाबाई ने भी प्रसिद्धि पाई। इन महिलाओं की आध्यात्मिक तथा साहित्यिक साधना से सभी परिचित हैं। सहजोबाई का सहज प्रकाश तथा संत दयाबाई का दयाबोध नामक ग्रन्थ इनके पंथ में पर्याप्त ख्याति प्राप्त है।

चरणदासी पंथ में विरक्त तथा गृहस्थ दोनों ही प्रकार के लोग हैं। वे सभी धीमदभागवन को बहुत श्रद्धा से देखते हैं। ईश्वर के मगुण तथा निर्गुण दोनों ही रूपों को मान्यता है। पंथ में नैतिकता, सदाचार, मन-वाणी की शुचिता आदि पर जोर है। हरियाणा में इस पंथ की मैकड़ों गद्दियाँ मौजूद हैं। जानिगन भेदभाव से दूर ममरमता हेतु इनका प्रयास भी प्रशंसनीय है।

#### ■ संत घीसादास एवं घीसापंथ- (वि.सं. 1860-1925; ई.स. 1803-1868)

मन्त घीसादास का जन्म दिल्ली के निकट खेकड़ा नामक ग्राम में हुआ था। घीसा साहब जतिन के जुलाहा थे तथा वचन में ही आध्यात्मिक चर्चा में लीन रहते थे। अपने अपने अनुभवों को भाषी में (46 दोहे), वाणी में (150 साखियाँ) तथा जबद में (94 पद के रूप में) लिखा है। यह सभी साहित्य सचित्र ग्रन्थ साहब नाम से प्रकाशित है। इनके पंथ के भी हजारों अनुयायी हैं तथा सभी जातिगत भेदभाव से दूर हैं। घीसापंथ में तथाकथित पिछड़ी जातियों के लोगों की संख्या अधिक है।

#### ■ राधास्वामी पंथ- (ई.सन्. 19वीं शताब्दी)

राधास्वामी पंथ का प्रारम्भ (सन् 1861) आगरा में, स्वामी शिवदयाल जी महाराज ने किया। बाद में इसके 3 भाग हो गए। (क) व्यास शाखा (हरियाणा), (ख) दयाल बाग (आगरा), (ग) परिपद संगठित शाखा। व्यास शाखा का हरियाणा में बहुत प्रचार हुआ है। इनकी आराधना पद्धति में सहज योग की साधना बहुत कुछ कबीर से मिलती है तथा सभी जाति के लोगों को सम्मान है।

#### ■ स्वामी नितानन्द एवं नितानंदी पंथ- (ई.सन्. 18वीं शताब्दी)

स्वामी नितानन्द जी का जन्म महेन्द्रगढ़ जिले के निकट नारनौल नामक स्थान पर हुआ था। ये वीरवल की वंश परंपरा के थे। वचन का नाम नन्दवाल था जिसे इनके गुरु गुमानदास ने बदलकर नितानन्द कर दिया। इनका स्वर्गवास संवत् 1856 में हुआ। इनकी रचनाओं का संग्रह सत्य सिद्धान्त प्रकाश नाम से प्रकाशित हुआ है। प्रथम भाग में 3622 साखियाँ, द्वितीय भाग में 176 पद तथा इनके अनिर्गुण भी आपकी बहुत रचनाएँ उपलब्ध हैं।

स्वामी नितानन्द भी संत कबीर की भाँति गुरु को ही साक्षात् ईश्वर का अवतार मानते हैं। उनकी मान्यता संत कबीर जैसी ही है कि राम तो घट-घट में रम रहे हैं किंतु गुरु की कृपा के बिना साक्षात्कार संभव नहीं। सद्गुरु ही भेंट कर सकता है-

“राम हमीं में रम रहा, जगत ढंढोरा भ्रम्म।

नितानन्द गुरु शब्द बिन, हमको पड़ी न गम्म ॥

नितानन्द सब जगत में, मतगुरु बड़े दयाल।

बाँह पकड़कर ले गए, जहाँ हमारा लाल ॥”

(हिंदी संत काव्य: समाज शास्त्रीय अध्ययन, पृ. 91)

“आप निरंजन परम गुरु, निराकार अवतार।

धरे ध्यान सो अमर है, भवसागर से पार ॥” (वही, पृ. 91)

संत कबीरदास की तरह ही श्री नितानन्द स्वामी का विश्वास था कि ब्रह्म निर्गुण-निराकार है, उसका वास प्रत्येक शरीर के अन्दर है। उसे बाहर खोजना व्यर्थ है। वह सर्वव्यापी है, अखिल ब्रह्माण्डव्यापी है, उसका वर्णन करना संभव नहीं। उसका कोई रूप, रंग तो नहीं है किंतु संसार के सभी रंग उसी में हैं। परमात्मा की अनुभूति का आनन्द अद्भुत एवं अखण्ड है। उस अनुभूति के पश्चात् जीव का परमात्मा से उसी प्रकार तादात्म्य हो जाता है जैसे बूँद समुद्र में मिलकर एकाकार हो जाती है-

“साहिब की छवि निरख के, सुख में रहो समाय।

बूँद समुन्दर मिल गई, अब कुछ कहा न जाय ॥”

(परचा का अंग, वही, पृ. 94)

इसी प्रकार नितानन्दी पंथ के अन्य संतों ने भी मन तथा इन्द्रियों के नियन्त्रण पर ही जोर दिया। इन संतों का मानना है कि मन तो उन्मत्त हाथी के समान है जिस पर अज्ञानी जीव सवारी करता है। यह हाथी, जीव को यम के द्वार तक पहुँचा देता है। अतः मन पर विजय पाना आवश्यक है। इस पन्थ के लोगों ने दार्शनिक तथा व्यावहारिक स्तर पर सामाजिक भेदभाव के बंधनों को तोड़ दिया और समरसता का वातावरण बनाया।

\* सन्त परमानन्द एवं परमानंदी पंथ - (ई.सन्. 19 वीं शताब्दी)

परमानंदी पंथ के प्रवर्तक संत परमानन्द जी की साधनास्थली प्रमुख रूप से भिवानी जिले की दादरी तहसील रही। इन्होंने अपना स्वतंत्र पंथ चलाया। इनकी 2 पुस्तकें प्रकाशित हैं- परमानन्द ज्ञान आनन्द उदय सागर तथा हंस चेतावनी अथवा परमानन्द विलास। इनके शिष्यों की संख्या भी हजारों में है। परमानन्दी

साधना पद्धति का नाम आनन्द योग है। परमात्मा को आनन्द कह कर पुकारते हैं। सभी प्राणियों में ईश्वर का अंश है अतः सभी समान हैं। हम चेतावनी में वे निश्चिन्त हैं-

“सभी तुम्हारे भ्रात हैं सभी तुम्हारे मीत।

सभी अंश परम पुरुष के रखो न भेद मन चीत ॥”

(वही, पृ. 102)

इस प्रकार इस पंथ में किसी भी प्रकार का जातिगत भेदभाव अमान्य है।

\* सन्त मंगतराम एवं समतापंथ - (ई.सन्. 20वीं शताब्दी)

समता पंथ के संत मंगतराम जी का जन्म ई.सन् 1903 में रावलपिण्डी में हुआ था। मानवी कथा में पढ़ते थे तभी 40 दिन तक साधना करते रहे। इसके पश्चात् सत्त्व की अनुभूति हुई। इसी अनुभूति को इन्होंने महामंत्र की संज्ञा दी, जो इस प्रकार है- ॐ ब्रह्म सत्य निराकार अजन्मा अद्वैत पुरुष सर्वव्यापक कल्याण मूर्त परमेश्वर नमस्तस्म। संत मंगतराम जी अविवाहित रहे तथा भक्तिसाधना में लीन रहने थे। सामाजिक कुीतियों के उन्मूलन के लिए वे जीवन भर प्रयास करते रहे। सभी समान हैं तथा उसी एक परमेश्वर के अंश हैं, इसी को बार-बार उन्होंने व्यक्त किया। इनके निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं-

1. श्री समता प्रकाश, 2. श्री समता विलास, 3. समता आध्यात्मिक पंथ (2 भाग), 4. समता ज्ञान दीपक, 5. आध्यात्मिक प्रश्नमाला, 6. समता दर्पण, 7. समता संदेश। इन ग्रन्थों के नाम से यह बात ध्यान में आ जाती है कि संत मंगतराम जी समाज में किसी भी प्रकार के वैषम्य के विरोधी थे। सभी प्राणियों को समान मानते थे। ब्रह्म सर्वव्यापक है तथा वह मूल समता तत्व है जो सभी में विगजमान है। इसकी अनुभूति होने पर स्वाभाविक रूप से सभी प्राणियों के प्रति समत्व-भावना का प्रादुर्भाव होता है।

\* हरियाणा के सिक्ख संप्रदाय

श्रीगुरु नानकदेव के समय से ही उनके विचारों को मानने वाले लोगों द्वारा अलग-अलग पंथों को प्रारम्भ करने की परम्परा शुरू हो गई थी। इन पंथों के अनुयायी बढ़ते गए लेकिन उनका मूलतत्व, नानक-कबीर-रैदास आदि सन्तों का विचार ही है। जातिगत वैषम्य से दूर समता का सन्देश देने वाले ये पन्थ हैं।

### (क) उदासी सम्प्रदाय-(ई.सन्. 16वीं शताब्दी)

श्रीगुरु नानकदेव के पुत्र श्रीचन्द्र ने नानक के विचारों में अपना मत जोड़कर उदासी सम्प्रदाय बना लिया। इस पंथ को मानने वाले, सामाजिक विषयों में दूर रहते हैं। इसीलिए इसका नाम उदासी सम्प्रदाय पड़ा। ये लोग श्री गुरुग्रन्थ साहिब की पूजा करते हैं और नाथयोगियों की साधना का प्रभाव भी इन पर दिखता है। प्रारम्भ में ये निर्गुण-निगकार ब्रह्म की उपामना करने थे किन्तु काल-समय के अनुसार निर्गुण तथा सगुण दोनों में ही इनकी श्रान्ता व्रत गई। इस सम्प्रदाय के अनुयायी सामाजिक समरूपता में पूरी तरह विश्वास करने हैं तथा जानिगत भेदभाव और वैमनस्य को स्वीकार नहीं करते।

### (ख) निर्मला सम्प्रदाय (ई.सन्. 18 वीं शताब्दी)

इस सम्प्रदाय के संस्थापक श्री दीरसिंह जी थे। वे श्रीगुरु नानकदेव को ही आदि गुरु मानते थे। इसी सम्प्रदाय में भाई संतोष सिंह जी भी उच्चस्तरीय विद्वान, कवि तथा संत थे। भाई संतोष जी का जन्म संवत् 1845 में तथा मृत्यु संवत् 1900 में हुई थी। भाई संतोष सिंह विलक्षण प्रतिभा वाले थे। इनकी 6 रचनाएँ प्रसिद्ध हैं-

1. नाम कोश, 2. गुरुनानक प्रकाश, 3. जपुजी साहब पर गरब गंजनी टीका,
4. गुरु प्रताप सूरज, 5. आत्म पुराण, 6. वाल्मीकि रामायण का अनुवाद। इनमें गुरु प्रताप सूरज सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है। यह एक विशाल ऐतिहासिक ग्रन्थ है। इसमें 51829 छन्द हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय जागरण की दृष्टि से इस ग्रन्थ का बड़ा महत्व है।

### (ग) नामधारी अथवा कूका सम्प्रदाय(ई.सन्. 18वीं शताब्दी)

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री रामसिंह कूका का जन्म वि. संवत् 1812 में, लुधियाना के निकट हुआ था। प्रारम्भ में ये सेना में भर्ती हो गए थे किन्तु बाद में आध्यात्मिक भाव जगा तो सेना की नौकरी छोड़ कर सन्त पुरुष हो गए और देश की स्वाधीनता का संकल्प ले लिया। आध्यात्मिक साधना के साथ-साथ आजादी की लड़ाई में भी सभी प्रकार से सहयोग करने लगे। इनके अनुयायियों का अंग्रेजों से सीधे संघर्ष छिड़ गया। सैकड़ों कूका अनुयायी इस संघर्ष में शहीद हो गए तथा बाद में श्री रामसिंह जी को गंगूत जेल में भेज दिया गया। वहीं इनकी मृत्यु हो गई।

हरियाणा तथा पंजाब क्षेत्र में नामधारी सम्प्रदाय का आज भी विशिष्ट स्थान

है। मननाम में नामधारी आस्था के कारण इनको नामधारी कहा जाता है। इस सम्प्रदाय में कोई जातिगत भेदभाव मान्य नहीं, सभी मनुष्य बराबर हैं। नामधारी लोगों की साधना में गुरु को परमात्मा मानकर सेवा करना, प्रेम भावना, चारित्रिक दृढ़ता, सभी के लिए सेवाभाव, कुरीतियों तथा बुराइयों के विरुद्ध संघर्ष तथा राष्ट्रभक्ति का महत्वपूर्ण स्थान है।

उपर्युक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त हरियाणा में सहजधारी तथा केशधारी सम्प्रदाय, सुथरासाही, सेवापंथी, अकाली, भगतपंथी, गुलाबदासी, निरंकारी, शिवनारायणी, निरंजनी, सच्चासौदा तथा विष्णोई सम्प्रदाय की भी सैकड़ों गदिदयाँ तथा आश्रम हैं। ये सभी मत, सम्प्रदाय तथा धार्मिक आस्था वाले गुरु, भगत तथा मन्त लोग सदैव सामाजिक बुराइयों, विषमताओं तथा कुरीतियों के विरुद्ध संघर्ष करते रहे हैं।

॥ ॐ ॥

राजस्थान के हिन्दुओं ने इस्लाम अपनाकर वैभवपूर्ण जीवन जीने के सभी प्रस्तावों को ठोकर मार दी और कष्टपूर्ण हिन्दू जीवन को ही श्रेयस्कर समझा और जब कष्टों की अनि हो गई तो लड़ते-लड़ते वीरगति की तैयारी कर ली और वैकुण्ठ को चले गए। जीने जी इस्लाम की शरण में जाने की अपेक्षा मरकर ईश्वर की शरण में जाने में ही उन्होंने अपने जीवन की धन्यता समझी।

निराशा, अन्धकार और संघर्ष के इन क्षणों में भी कहीं शिव और कृष्ण के भक्त और कहीं निर्गुण ब्रह्म के उपासक अविश्रान्त घर-घर घूमते हुए भक्ति की ग्योनि जलाए हुए थे। उनकी आध्यात्मिक साधना और श्रेष्ठ आचरण के कारण लाखों लोग उनके अनुचर हो गए। उनकी भक्ति में ममता और सामाजिक समरसता दोनों ही थीं। वहाँ सामाजिक भेदभाव को कोई स्थान नहीं था। तभी तो धन्ना जाट को काशी के तपोनिष्ठ ब्राह्मण स्वामी रामानन्द ने दीक्षा दी और मेवाड़ की महारानी झाली रानी तथा मीराबाई ने रैदास को अपना गुरु स्वीकार कर लिया। चित्तौड़ के राणा ने भक्तप्रवर रैदास को मन्दिर में प्राण-प्रतिष्ठा हेतु बुला कर उनकी पाद-पूजा की। बाबा रामदेव ने गाँव-गाँव में जम्मा-जागरण करके भक्ति-जागरण तो किया ही जानिगत भेदभाव को भी अमान्य कर दिया। मीराबाई, दादू साहब, रज्जब, संत सुन्दरदास, संत हरिरामदास, संत रामदास, दरिया साहब, भक्त नाभादास, सहजोबाई, आचार्य चरणदास, संत श्रीरामचरण जी राम स्नेही आदि ईश्वरभक्तों ने अपनी साधना में सभी जातियों को साथ लेकर सामाजिक एकता का नया अध्याय प्रारम्भ कर दिया। इन संतों में अनेक ऐसे भी थे जो तथाकथित पिछड़ी या शूद्र कही जाने वाली जातियों के थे किन्तु समाज में अब उनकी प्रतिष्ठा थी। भक्ति के इस पवित्र प्रवाह ने जानिगत भेदभावों को दूर कर एक समरस जीवन का वातावरण बना दिया। भक्ति ने अनुप्राणित हिन्दू समाज, जानिगत भेदभाव को भुलाकर, इस्लाम की अत्याचारी शक्ति के विरुद्ध निरंतर संघर्ष करना रहा। इनमें से कुछ संतों एवं भक्तों की चर्चा हम आगे करते हैं।

✽ ऋषि सन्त पीपाजी महाराज-(वि.सं. 1380-1441 ई.सन् 1323-1384)

राजस्थान में गागरीन के खीची चौहान राजा के पुत्र ही आगे चल कर सन्त पीपाजी महाराज कहलाये। राज्य भतीजे को सौंपकर आप वैराग्य धारण कर काशी में ही रहने लगे। काशी के प्रसिद्ध स्वामी रामानन्द के शिष्य होकर भगवद्भक्ति में लीन हो गये। संत पीपा जी ग्राम-ग्राम घूम कर भगवद्भक्ति का सन्देश देते थे तथा खाली समय में फटे वस्त्र सिलने का कार्य करते थे। धीरे-धीरे सिवाई का व्यवसाय

## राजस्थान के सन्तों एवं भक्तों द्वारा सामाजिक समरसता के प्रयास

राजस्थान की भूमि निर्गुण तथा सगुणमयी सन्तों की प्रमुख साधना स्थली है। मेड़ता में जन्मी कालजयी भक्तिन मीरा मेवाड़ की ही थी। वहीं संत दादू दयाल आमेर (जयपुर), संत रज्जब सांगानेर, संत दरिया साहब मारवाड़, पीपाजी गागरीन, बाबा रामदेव मारवाड़, सन्त सुन्दरदास छोटे तथा संत हरिराम दास बीकानेर के थे। ऐसे ही अनेक सन्तों तथा भक्तों ने राजस्थान की इस वीरभूमि को भगवद्भक्ति से सराबोर रखा तथा अपनी भक्ति-साधना के सहारे सामाजिक बुराईयों के विरुद्ध सतत संघर्ष जारी रखा।

एक ओर राजस्थान की बलिदानी वीरभूमि इस्लाम की दुर्दान्त आक्रामक शक्ति के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष कर रही थी वहीं दूसरी ओर वहाँ की आध्यात्मिक विभूतियों के द्वारा 'ऊर्जस्वित-भक्ति' अपनी प्रवर्ता के साथ सामाजिक जागरण में लगी हुई थी। युद्धों की हार तथा जौहर के चिरस्मरणीय दृश्यों को लोगों ने अपने हृदय पटल पर संजोकर रखा था। राजस्थान के अपरजेय हिन्दू समाज ने भगवद्भक्ति को अपने संकट का सहारा मान लिया। 'भगवान् एकलिंग' के सम्मुख अपने जीवन के उत्सर्ग का संकल्प लेकर हर-हर महादेव कहते हुए शत्रुओं के ऊपर टूट पड़ना तथा आँखों के सम्मुख निश्चित दिख रही मृत्यु में भी निश्चित रहने वाले इन कर्मयोग, स्थितप्रज्ञ वीरों का 'बलिदानी हठ' विश्व इतिहास में ढूँढ़ने से भी नहीं मिलेगा। वहीं दूसरी ओर अपने जौहर की कलम से अकल्पनीय बलिदानी गाथा लिखने वाली हजारों हिन्दू महिलाओं ने अनेकवार गगनछूती ज्वालाओं को भी श्रद्धा से विनत होने को मजबूर कर दिया। अपने जीवन का श्रेष्ठतम शृंगार कर जब वे अपने पतियों के चरण-स्पर्श करने गईं तो उनको यही आशीर्वाद मिला 'अगले जन्म में पुनः मिलेंगे' और वे प्रभु के 'भजन गाती, कीर्तन करती हुई' भयंकर ज्वालाओं में समा जाती थीं। फूल सी सुकोमल इन देवियों के अन्दर यह सामर्थ्य कहाँ से आ रहा था? सच कहूँ तो 'भक्तिभाव' ही था जिसके कारण वे सुख-दुःख आदि ऐहिक अनुभूतियों से बहुत ऊपर थीं। उनके पास भगवद्भक्ति का 'परमाद्भुत रत्न' था, जिसके सम्मुख सभी बलिदान तुच्छ थे, बौने थे।

करने वाले लोग इनके अधिक निकट आने लगे और इनके भक्त बन गये। संत पीपा जी स्वयं भजन बनाते और गाते थे, इसी में समाज में जागरण चल रहा था। संत पीपा जी राम-भक्ति में लीन हैं। जिसको राम-भक्ति का रंग लग जाता है उसे भवसागर में किमी से भय नहीं रहता। संत पीपा जी कहते हैं-

“राम-रंग लाग्यो जणों, भाग्यो भव भय घोर।  
पीपा परतापी घणों, रघुवर मारग तोर ॥”

(रामानन्द मप्रदाय और साहित्य, पृ. 252)

संत पीपा जी ने सारा राजपाट छोड़ दिया तथा स्वामी रामानन्द जी की शरण में काशी आ गए। स्वामी रामानन्द जी ने संत पीपा को गुर्जर प्रदेश में श्रीरामभक्ति के प्रचार का कार्य सौंप दिया। संत पीपा जी ने गुजरात आकर रामड़ा, बेट द्वारिका, गंगरौतगढ़ तथा काठियावाड़ आदि अनेक स्थान पर गढ़ियाँ स्थापित कर दीं।

सन्त पीपा जी जाति-पाँति का कोई भेद नहीं मानते थे। स्वामी रामानन्द जी के अलावा आपको सन्त कबीर, संत रैदास आदि के साथ रहने का भी अवसर मिला इस कारण आप सामाजिक कुरीतियों को दूर करने में लग गये। निर्गुणभक्ति के सन्तों में आपकी प्रतिष्ठा बढ़ती गयी और राजस्थान में आपके लाखों भक्त बन गये। देशभर का दर्जी समाज आज भी आपको अवतार के रूप में मानता है। राजस्थान में संत पीपाजी के नाम से अनेक स्थान पर मेले लगते हैं। उसकाल में हिन्दू समाज में व्याप्त ऊँच-नीच, जातिगत भेदभाव, ढोंग-पावण्ड, छुआछूत आदि बुराइयों को दूर करने में संत पीपाजी का महत्वपूर्ण योगदान रहा।

★ बाबा रामदेव - (ई.सन्. चौदहवीं शताब्दी)

आपका जन्म ई.सन् 1352 मारवाड़ प्रदेश के ठाकुर परिवार में हुआ था। बाबा रामदेव एक वीर योद्धा, उत्कृष्ट योगी, भक्तकवि और प्रख्यात साधक थे। छुआछूत तथा ऊँच-नीच के भेदभाव के कारण समाज में हो रहे बिबराव को बाबा रामदेव ने गहराई से समझा। सभी समान हैं इसी भावना से उन्होंने कार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

ग्राम-ग्राम में भ्रमण तथा जनजागरण - बाबा रामदेव ग्राम-ग्राम घूमते तथा सभी स्थान पर यही कहते थे कि भेदभाव का व्यवहार गलत है। अछूत कहे जाने वाले व्यक्ति के घर पर ही ठहरते तथा रात्रि को भजन कीर्तन के लिये लोगों को वहीं एकत्रित करते थे। भजनों के द्वारा हिन्दू समाज की एकता पर बल देते थे। रात्रि के इस समागम को जम्मा जागरण कहा जाता था। पिछड़े लोगों का आत्मविश्वास जागा उन्हें समाज में सम्मानपूर्ण बराबरी का दर्जा प्राप्त हुआ।

हरिजन गले का हार - जानि व्यवस्था को अव्यवहारिक बनाकर वे कहते हैं कि हरिजन नो हमारे गले का हार, हीरा-मोती और मूँगा की तरह है -

“हरिजन म्होर हार हियेरा, मोत्यो मूँगा कहावे म्हारालाल।”

महिता वर्ग में जागृति लाने के लिये उन्होंने मेघवाल जाति की (चमार परिवार की) डालीवाई को अपनी धर्म वहिन मान कर, सामाजिक समरसता का कार्य आगे बढ़ाया।

रामदेव मन्दिर - सम्पूर्ण राजस्थान तथा गुजरात में अनेक स्थान पर बाबा रामदेव के मन्दिर बने हुए हैं। लाखों की संख्या में तथाकथित पिछड़ी जाति के लोग इनपर लगने वाले मेलों में जाते हैं। सामाजिक समरसता के लिये लगभग 600 वर्ष पूर्व किया गया उनका प्रयास अनुकरणीय है।

★ सन्त धन्ना - (ई.सन् पन्द्रहवीं शती उत्तरार्द्ध)

स्वामी रामानन्द की शिष्य परम्परा में एक प्रभावी सन्त धन्ना जाट भी हो गये हैं। संत धन्ना का जन्म राजस्थान की जाट बिरादरी में सन् 1413 में, ग्राम धुंध्रा, जिला टोंक में हुआ था। वे सगुण ब्रह्म के उपासक थे। संत धन्ना लिखते हैं कि संत नामदेव छोटी जाति के थे, कबीरदास नीच कुल जोलाहा थे, भक्त रविदास मरे हुए ढोंग (जानवर) उठाते थे, संत सेना नाई घर-घर जाकर बाल काटते थे किन्तु भक्ति के अनन्य भाव के कारण इन लोगों की गति श्रेष्ठ हो गयी। इसीलिये धन्ना जाट भी ईश्वर की भक्ति कर रहा है-

“गोविन्द गोविन्द गोविन्द संगि नामदेउ मनु लीणा।  
आठ दाम को छीपरो होइओ लाखीणा ॥ 1 ॥  
बुनना तनना तिआगि कै प्रीति चरन कबीरा।  
नीच कुल जोलाहरा भइयो गुनीय गहीरा ॥ 2 ॥  
रविदामु डुँवता ढोर नीति तिन्ह तिआगी माया।  
परगटु होआ साध संगि हरि दरसनु पाइआ ॥ 3 ॥  
सेन नाई बुतकारीआ ओहु घरि घरि सुनिआ।  
हिरदे वसिआ पारब्रह्म भगता महि गनिआ ॥ 4 ॥  
इहि विधि सुनि कै जाटरो उठि भगति लागा।  
मिले प्रतालि गुसाईआ धन्ना बड़ भागा ॥ 5 ॥”

(श्रीगुरु ग्रन्थसाहिब, पृष्ठ 487)

संत धन्ना के भजन में यह निर्विवाद सत्य है कि संत नामदेव, भक्त रैदास,

मंत मेंन आदि निम्न कही जानेवाली जानियों में आये थे तथा ममाज में अन्याधिक प्रनिष्ठा पा चुके थे। मंत कवीर तो उम ममाय तक मच ही 'गुनी गहीर' हो गये थे। मंत धन्ना द्वारा रचित 4 शब्द श्रीगुरु ग्रन्थमहिब में है तथा इनका 'आरता' बहुत प्रसिद्ध रचना है।

\* **संत जम्भनाथ जी एवं विश्नोई सम्प्रदाय-**(वि.सं. 1508-1580; ई.सन् 1451-1523)- संत कवि जम्भनाथ जी का जन्म जोधपुर राज्य के नागौर इलाके में राजपूत परिवार में हुआ था। कहते हैं कि वड़ी आयु होने पर भी आप ने कुछ बोला नहीं किन्तु बाद में वे विद्यात मुनीन्द्र जंभ ऋषि के नाम से विख्यात हुए। आजीवन ब्रह्मचारी का पवित्र, निष्कलंक तथा वासना रहित जीवन व्यतीत करने रहे। यह भी प्रसिद्ध है कि किन्ही बाबा गोरखनाथ ने ही आपको दीक्षा दी थी। मंत जंभनाथ जी स्वभाव से विनम्र, उदारचेता तथा समाजसेवी रहे। जाति-पाँति और कुल में इनकी आस्था कभी नहीं रही। संत जंभनाथ भ्रमणशील सन्त थे। राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश के अनेक स्थानों पर जाकर आपने अपने उपदेशों का प्रचार किया। संत जंभनाथ जी ने ही विश्नोई सम्प्रदाय भी चलाया।

संत जम्भनाथ की रचनाओं में ओंकार जप, निरंजन की उपासना, अजपाजप, सतगुरु महिमा, सोहंजाप, अमृतपान से जग-मरण मुक्ति हेतु अनन्य भक्ति का ही चारंवार उल्लेख किया गया है। विश्नोई सम्प्रदाय के लोग अहिंसा के नियमों का कठोरता से पालन करते हैं तथा वृक्ष काटने के विरोध में मैकड़ों विश्नोई अपना बलिदान देने को तत्पर रहते हैं।

\* **सन्त हरिदास -**(वि.सं. 1512-1600; ई.सन् 1455-1543)

मंत हरिदास डोडवाणा के निवासी थे। निर्मल वाणी से निराकार की उपासना करने के कारण वे निरंजनी कहलाए। 'श्री हरिपुरुष की वाणी' में इनको श्रविय परिवार में जन्मा कहा गया है। इन्होंने राजस्थान में अनेक स्थान पर भ्रमण कर भक्ति का जागरण किया तथा जाति-वर्ण आदि भेदकारी मान्यताओं को कोई स्थान नहीं दिया। निरंजनी सम्प्रदाय को आगे बढ़ाने वाली संत परम्परा भी राजस्थान में खड़ी की। सन्त हरिदास जी के बारह प्रमुख शिष्य तथा हजारों अनुयायी हो गए। राजस्थान में इनकी अनेक गद्दिदयाँ तथा मठ हैं। सन्त हरिदास निरंजनी ने 9 ग्रन्थों की रचना की। इसी निरंजनी सम्प्रदाय के सन्त तुरमीदास लिखते हैं कि वर्णव्यवस्था जन्मना न होकर कर्म के अनुसार ही होनी चाहिए, किन्तु संन्यासी तथा योगी तो इनके भी ऊपर होता है।

“करमनिह ब्राह्मण करमनिह क्षत्रिय, करमहि वैस मूढ़ फुनि क्षिय।  
तुरसी ये कर्मी के नांव, निहकर्मी के नांव न गांव।।”

(मंत और मूफी माहिन्य, पृष्ठ 189)

\* **भक्तिन मीराबाई -**(वि.सं. 1561-1605; ई.सन् 1504-1548)

राजस्थान के मेड़ता राजपरिवार में जन्मी मीरा कृष्ण की भक्ति का सर्वकालीन श्रेष्ठ उदाहरण है। ब्रह्म, मणुषी भक्तिन है। भक्तिभाव में डूबी मीरा कोई जातिभेद नहीं मानती। मीरा यह जानती है कि भक्त रैदास नाम के एक सिद्ध मन्त्र काशी में रहते हैं और वे चर्मकार जानि के हैं तथा जूता बनाने हैं। मीरा तो शुद्ध भक्ति ढूँढ़ रही है उसे जातिपाँति से कोई सरोकार नहीं। इस कारण वे भक्त रैदास को ही अपना गुरु मानती हैं तथा सभी विरोधों को सहन करती हैं किन्तु किसी भी प्रकार से समझौता नहीं करती। इस बात का उल्लेख मीरा ने स्वयं अपने पदों में स्थान-स्थान पर किया है-

“गुर मिलिया रैदास जी दीन्ही ज्ञान की गुटकी।”

(मीरा एक अंतरंग परिचय, पृ. 24)

सभी जातियों के सन्तों, भक्तों तथा महात्माओं के साथ मीरा भजन गाती है तथा सत्संग करती हैं। शूद्र जाति के संत लोगों का भी वह ब्राह्मणों की तरह ही अपने महल में सत्कार करती हैं। इस प्रकार मीरा ने निर्मल कृष्ण-भक्ति करी तथा किसी भी प्रकार के जातिगत भेदभाव को कोई भी स्थान नहीं दिया। इसी बात से उनके देवर आदि उनसे नागज रहते थे। कृष्णभक्तिन मीरा ने अनेक कष्ट सहें किन्तु महल में सभी जाति के लोगों का सम्मान करना जारी रखा। मीराबाई के जन्मस्थान मेड़ता के कृष्ण मन्दिर में चढ़ने के लिए प्रथम प्रमाद चमार परिवार से ही आता है। उसके पश्चात् अन्य भक्तगण प्रमाद चढ़ाते हैं। यह परंपरा सैकड़ों वर्ष से अनवरत जारी है।

भक्तिन मीरा बालपन से ही श्रीकृष्ण की भक्ति में सगबोर है। कृष्ण के अतिरिक्त उसको कुछ और दिखलाई नहीं पड़ता। मीराबाई का उद्देश्य कोई तात्त्विक, आध्यात्मिक दर्शन अथवा लोकमंगलकारी साधना नहीं है। वह कोई विचार भी प्रतिपादित नहीं करती। वह तो केवल कृष्ण की उन्मुक्त भक्ति के साथ सभी जाति के साधू-सन्तों के संग बैठकर सत्संग की अनुमति चाहती है। मेड़तडी मीरा एक वैभवशाली परिवार की कुलवधू भी तो है। राणा साँगा के राजपूती परिवार की अपनी लोक मर्यादाएं हैं, किन्तु मीरा इन सभी वर्जनाओं को तोड़ती चलती है।

अपनी नरह में कृष्ण की भक्ति करने का अधिकार पाने के लिए वह सर्वोच्च दाव पर लगा देती है। प्रतिष्ठा सम्पन्न राणा परिवार की लीक में हटकर चलने की वह अपराधी घोषित कर दी गई। लाह-प्यार में पत्नी मीराबाई में गजब का माहम है। न तो वह डरी और न वह थक कर कहीं रुकी, अकेले और केवल अकेले अपने कृष्ण को साथ लेकर, वह सब सामाजिक वर्जनाओं को ध्वस्त करती हुई भक्ति के इतिहास पटल पर कालजयी काव्य का सृजन करनी चली गई। उसको न्याय नहीं मिलता। वर्न् कलंकित करने वाले आरोप लगते हैं। निरपराधी मीरा का विधुब्ध अन्तर्मन हाहाकार करना हुआ भी भक्ति के अनिवर्चनीय सुख में मगन है। मीरा की भक्ति में साधू-संगत ही प्रमुख है। साधू समाज के साथ हरिकीर्तन और हरिकथा में बैठना उसी में भजन गाना और नृत्य करना, उसको कहीं दिव्यलोक में ले जाता है। यह सब कुछ उसकी भक्ति-साधना का अनिवार्य अंग है। सत्संग के द्वार तो सभी के लिए खुले होते हैं। यहाँ पर राजा-रंक, ज्ञानी-अज्ञानी, सम्पन्न-विपन्न, स्त्री-पुरुष, उच्च-निम्न आदि का कोई भेदभाव नहीं माना जाता। मीरा को ऐसे सत्संगों में जाने से रोका जाता था। एक पद में वह अपनी व्यथा कहती है-

“पा बांध घुघरयां पाच्या री।

लोग कष्ट्यां मीरा बावरी शाशू कष्ट्यां कुल नाशां री।

विष रो प्यालो राणां भेज्यां पीवां मीरा हांशां री।

तण मण वार्यां हरि चरणां मां दरसन अमरित पाश्यां री।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर थारी शरण्यां आश्यां री।”

(मीरा: एक अंतरंग परिचय, पृ058)

अर्थात्, पैरों में घुँघरूँ बाँध कर मीरा प्रभु के सम्मुख नाच रही है। लोग कहते हैं कि मीरा पागल हो गई है, सास कहती हैं कि यह तो कुलनाश करने वाली है। राणा ने विष का प्याला मारने के लिए भेजा किन्तु उसे पीकर तो मीरा हँसने लगी। मैं अपना तन-मन हरि के चरणों में न्यौछावर कर दिया और प्रभुदर्शन का अमृत पाया है। मीरा के प्रभु तो गोवर्धन पर्वत उठाने वाले कृष्ण हैं, मैं अब उन्हीं की शरण में आ गई हूँ। इस पद से यह बात तो स्पष्ट हो गई थी कि मीरा को परिवार के अन्दर तरह-तरह के कटुवचन सुनने पड़ते थे तथा उसको मार डालने के प्रयास भी चल रहे थे। यह बात कितनी विचित्र लगती है कि कृष्णभक्ति के अपराध में एक महिला को विष का प्याला पीने को दे दिया जाए। मीरा का घर भी कोई सामान्य घर नहीं था, मेवाड़ के राजपुरुष राणा का अत्यन्त धार्मिक, स्वाभिमानी, बहादुर

नथा मध्य लोगों का यह परिवार था। दूसरी ओर यह बात भी उनकी ही आश्चर्यजनक है कि मीरा को कृष्ण की भक्ति के लिए ही अन्तर्नीतत्वा घर छोड़ देना पड़ा। कहा जाना है कि मीरा के परिवार के लोग जिस प्रकार से उसको काट दे रहे थे तथा अपमानित कर रहे थे उससे दृष्टी होकर वि.सं. 1616 में गोस्वामी तुलसीदास को मीराबाई ने एक पत्र लिखा था-

“घर के स्वजन हमारे जेते सबन उपाधि बढ़ाई।

साधु-संग अरु भजन करत भक्ति देत कलेस सदाई।”

(वही, पृ0 25)

अर्थात्, ‘घर के सभी स्वजन अपनी-अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने में लगे हुए हैं। मैं जब माधुओं के साथ मिलकर भजन करनी हूँ तो मेरे को सदा क्लेश देते हैं।’ गोस्वामी तुलसीदास ने इसके उत्तर में मीराबाई को एक सुन्दर पद लिखकर भेज दिया-

“जाके प्रिय न राम वैदेही

तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।”

(वही, पृ0 25)

अर्थात्, ‘जिसको भगवान् राम और माँ मीता प्रिय न हों उन्हें कगेड़ों शत्रुओं की तरह छोड़ देना चाहिए। भले ही वे कितने ही स्नेही क्यों न हों।’ कहते हैं कि तुलसीदास के पत्र से मीरा को दिशा मिल गई और उसने मेवाड़ छोड़ दिया, वह अपने मायके मेड़ना में आ गई। कुछ वर्षों बाद उसने मेड़ना भी छोड़ दिया तथा वृन्दावन को अपनी याधना का केन्द्र बनाया किन्तु जब मीरा को ऐसा लगने लगा कि वृन्दावन में भी रहना कठिन है तो वह दारिकाशील के चरणों में चली गई।

ममय बदला तथा मेवाड़ और मेड़ना वालों ने मीरा की भक्ति के माहात्म्य को ममझा और उसको वापस बुलाने को मेड़ना तथा मेवाड़ के पुरोहित लोग दारिका पहुँच गए। मीरा तो अब पूर्ण विरक्त हो चुकी थी। मीरा के वापस चलने में मना करने पर पुरोहित लोगों ने अन्न-जल न्याय दिया। कहा जाता है कि मीरा को अब उनके प्रभु ही महाराज थे और वह अपने आराध्य श्रीकृष्ण के विग्रह में समाहित हो गई।

मीरा कदम-कदम पर काट उठाती है, अपमानित होती है किन्तु अपने निश्चय से हटती नहीं। कोई भी प्रतिरोध उसके सम्मुख टिक नहीं सका। मीरा एक ऐसे युग में जी रही थीं जहाँ पर पुरुष भी उस समय की सामाजिक दीवारों को तोड़ने का माहम नहीं कर पाता था। उस समय वह राजमहल में, सभी जाति के साधु-

सन्तो-भक्तों को बुलाती हैं। उनके पाद-प्रक्षालन करती हैं। मीरा की भक्ति, मनुष्य को सभी भेदों में ऊपर उठा कर एक दैवीय मममता का मंदेश देती है। इसमें कोई छोटा या बड़ा नहीं, भक्त हृदय मीरा के लिए तो सभी मनुष्य समान हैं। सभी के साथ उठने-बैठने, भजन गाने के अधिकार के लिए ही उसे यह संघर्ष करना पड़ा है।

हो सकता है मीरा को अपने घर में जीने जी सम्मान न मिला हो किन्तु मीरा की जीवन भर की भक्ति-साधना ने उसे एक मामान्य महारानी से कालजयी देवी का स्थान दिया। मीरा विष पीकर भी अमर हो गई। लाखों लोग मीरा के पदों को गाकर उस प्रेमप्रतिम को चिरस्थाय बनाए रखते हैं जिसको लेकर मीरा मर कर चिरजीवी हो गई तथा प्रेम और भक्ति का उच्चतम आदर्श स्थापित कर गई।

■ सन्त दादूदयाल - (वि.सं. 1601-1660; ई.सन् 1544-1603)

राजस्थान के निगुण संतों में दादूदयाल का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। संत दादू के गुरु कमाल (कबीर के पुत्र) हैं। संत दादू जाति के धुनियाँ थे। संत दादूदयाल का जन्म गुजरात प्रान्त के अहमदाबाद में हुआ था। गोस्वामी तुलसीदास, राजस्थानी कवि पृथ्वीराज राठौड़, सन्त लालदास के समकालीन ही दादू भी हैं। संत दादू ने अपने आपको छोटी जाति (पिंजरा) का ही माना है। उन्होंने अपनी वाणी में इसका उल्लेख भी किया है-

“कौण आदमी कमीण विचारा, किसको पूजै गरीब पिंजरा।।”

(दादू दयाल, ग्रन्थावली, पृ02)

इनके शिष्य संत रज्जवजी ने भी ऐसा ही लिखा है और इन्हें जाति से धुनियाँ बतलाया है। हो सकता है कि पिंजरा तथा धुनियाँ एक ही जाति के अलग-अलग नाम हों। संत रज्जव लिखते हैं-

“धुनी ग्रमे उत्पन्नो दादू योगेन्द्रो महामुनिः।” (वही, पृ03)

संत दादू ऋई धुनने का कार्य करते थे। प्रारम्भ के कुछ वर्ष गुजरात में व्यतीत कर दादू सांभर (राजस्थान) तथा इसके पश्चात् आमेर आ गए। संत दादू ने व्यापक साहित्य रचना की है। संत दादू की वाणियों की संख्या भी 24 हजार से अधिक बतलाई जाती है।

अद्वैत एवं सर्वव्यापी ब्रह्म-संत दादूदयाल के अनुसार परमतत्त्व अथवा ब्रह्म केवल एकमात्र और अद्वैत है, उसके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है। यह तत्त्व, सर्वात्म एवं सर्वव्यापी होते हुए भी हमारे लिए अनिवर्चनीय है। अपनी साधना

पद्धति में अहंभाव को नाश करने का मंदेश ही संत दादूदयाल अपने भक्तों को देने हैं-

“तन भी तेरा मन भी तेरा, तेरा प्यंड पुरान।

सब कुछ तेरा, तू है मेरा, यह दादू का ज्ञान।।”

सामाजिक दृष्टिकोण-संत दादूदयाल जी कहते हैं कि अपना पथ-प्रदर्शक अपने अन्दर ही मिल सकता है। अतः हमको उस महज ममाधि का आभाम होने लगता है कि जिसमें अनेक जन्म भेद सञ्चित हो जाते हैं और सभी हमारे आत्मीय बन जाते हैं। हमें ऐसा प्रतीत होने लगता है कि सबके प्राण एक ही हैं। सबके रक्त मांस एक हैं तथा सबकी इन्द्रियाँ भी एक ही प्रकार की हैं। सहजभाव के कारण भिन्नता में भी सर्वत्र एकता का ही अनुभव होने लगता है। संत दादू के दो हजार चार सौ तिगुन मावियाँ और चार सौ सत्ताइस पद मिलते हैं। ये भी कबीर और नानक की भाँति उच्चकोटि के सन्त थे। ईश्वर की भक्ति ही सब दुःख को दूर करने का एकमात्र साधन है। किमी से भी वैर नहीं करना और अहंकार मिटाना ही प्रमुख है-

“आपा मेटे हरि भजै तन-मन तजे विकार।

निर्वैरी सब जीव सों दादू का मत सार ॥”

(हिन्दी संत काव्यः समाज शास्त्रीय अध्ययन, पृ. 71)

अच्छे गुरु का साथ तो बहुत ही आवश्यक है। उसके बिना भवसागर पार करना असम्भव है। संत दादू ने मूर्तिपूजा, जातिगत भेदभाव का विरोध किया है। संत दादू के 152 प्रमुख शिष्य थे। संत दादू ने ब्रह्म सम्प्रदाय की स्थापना की जो आगे चल कर दादू पंथ बना और इसकी सैकड़ों गटियाँ स्थापित हुई। उनके शिष्यों में संत रज्जव, संत गरीबदास, संत मुन्दरदास आदि ने बहुत प्रसिद्धि पाई है।

■ सन्त रज्जव अली - (वि.सं. 1624-1746; ई.सन्. 1567-1689)

संत रज्जव राजस्थान के पठान मुसलमान थे तथा इनका जन्म सांगानेर में हुआ। रज्जव विवाह करने जा रहे थे और दूल्हा के रूप में घोड़े पर बैठे थे, रास्ते में संत दादू मिल गये। संत रज्जव को ज्ञान प्राप्त हुआ और वे विवाह का विचार छोड़ सन्त हो गये। संत रज्जव आजीवन ब्रह्मचारी ही रहे तथा श्रद्धाभाव से अपने गुरु दादू की सेवा करने लगे और जीवन भर सेवक रूप में ही रहे-

“गुरु गर्वा दादू मिला, दीरघ दिल दरिया।

हसत प्रसन्न होत ही, भजन भल भरिया ॥”

(हिन्दी सन्त काव्य, समाज शास्त्रीय अध्ययन, पृ0 72)

मंत रज्जव जी 20 वर्ष की आयु में ही मंत दादू की शरण में आ गए थे तथा गुरुमेवा, मन्मंग और इंडवर-भजन उनके जीवन के प्रधान अंग हो गए। मंत रज्जव उच्चकोटि के मन्त्र तथा कवि हैं। इनका माहिन्त्य अभी मुम्बई में प्रकाशित हुआ है इसमें 5428 श्रवियाँ, दो मौ अठारह पद, एक मौ मौलह मवैया, निगामी अरिल्ल, नवामी छुपय तथा कुछ फुटकर छन्द हैं। इन्होंने भी कबीर, दादू, रैदास, नानक आदि सन्तों की निर्गुण भक्ति की धारा को बहाया और जातिभेद का विरोध किया-

“सन्तों मगन भया मन मेरा।

अहनिश मदा एक रस लागा, दिया दरीबै डेरा।

जाति पाँति कुछ समझो नाहीं, किमकूँ करौं परेरा ॥

रस की प्यास आस नहिँ औरा, हरि मन किया बसेरा।

जत रज्जव तन-मन दे लीया, होय धणी का चेरा ॥”

(बही, पृ० 72)

मंत रज्जव कहते हैं कि मद्शिक्षा ग्रहण करना, भजन करना तथा इंडवर प्राणि के लिए यह मनुष्य शरीर मिला है इसको व्यर्थ नहीं गंवाना चाहिए-

“ईश्वर पद की प्राप्ति का, हेतु मानुज तन पाय।

सद् शिक्षा गह भजनकर, श्वास न वृथा गवांय ॥”

(हमारे मुस्लिम मंत कवि, पृ. 52)

मंत दादू महाराज के ब्रह्मलीन होने पर संत रज्जव जी ने अपने नेत्र मंदा के लिए बंद कर लिए थे। कई बार संतों ने नेत्र खोलने का आग्रह किया तो उन्होंने एक बात कही- ‘संतों! अब इस संसार में मेरे देखने योग्य कुछ रह नहीं गया है। केवल गुरुदेव का शरीर ही देखने योग्य था, वह भी नहीं रहा। अब कुछ देखने की इच्छा ही मन में नहीं है।’

■ **सन्त सुन्दरदास (छोटे)** - (वि.सं. 1653-1746; ई.सन्. 1596-1689)

राजस्थान के वैश्य परिवार में सन्त सुन्दरदास का जन्म हुआ तथा जब वे 6 वर्ष के थे तभी माता-पिता ने इन्हें मंत दादू की सेवा में भेज दिया। मंत सुन्दरदास ने 19 वर्ष तक काशी में आकर अध्ययन किया, मन्त्र के रूप में दीक्षा तो पहले ही ले ती थी। सन्त परम्परा के श्रेष्ठ संत सुन्दरदास शिक्षित और विद्वान थे। शास्त्रों का विधिवत अध्ययन किया तथा हिन्दी के अतिरिक्त पंजाबी, गुजराती, संस्कृत तथा फारसी आदि भाषाओं का भी आपको ज्ञान था। मंत सुन्दरदास ने जातिगत भेदभाव का विरोध करते हुए अद्वैत पर निष्ठा, भक्ति-भाव में आराधना तथा अष्टांगयोग पर गहराई में विचार किया। गुरु की महिमा पर बहुत लिखा और

कहा कि गुरु बिना ज्ञान सम्भव ही नहीं। गुरु शिष्य सम्बन्ध के बारे में वे कहते हैं- “ज्यों कपरा दरजी गहिँ व्योतत, काष्ठहि कौ बढई किसि आनै।

कंचन कौ जु मनार कसै पुनि, लौह कौ घाट लुहारहि जानै।

पाहन कौ किसि लेत सिलावट, पात्र कुम्हार के हाथ निपानै।

तैसहि शिष्य कसै गुरुदेव जु, सुन्दरदास तबै मन मानै ॥”

■ (हिन्दी संतकाव्य-समाज शास्त्रीय अध्ययन, पृ० 73-74)

■ **रामसनेही सम्प्रदाय**

राजस्थान में रामसनेही सम्प्रदाय की बहुत प्रभावी भूमिका रही है। इस सम्प्रदाय का अर्थ है- 1. राम से स्नेह रखने वाले भक्त और 2. भक्तों से स्नेह रखने वाले राम। इस सम्प्रदाय के सन्त, राम नाम की उपासना करते हुए राम को ही अपना इष्ट मानते हैं तथा किसी भी प्रकार का जातिभेद नहीं मानते। इस सम्प्रदाय के कुछ सन्तों का वर्णन हम यहाँ करेंगे -

■ **सन्त दरिया साहब-(मारवाड़ वाले)** (वि.सं. 1733-1815; ई.सन्. 1676-1758)

ये जाति के धुनियाँ थे तथा इन्होंने काशी जाकर शास्त्रों का व्यापक अध्ययन किया। आपके विचार और साधना पद्धति संत कबीर और संत दादू से मेल खाती है। मंत दरिया साहब ने सभी जातियों के लोगों को शिष्य बनाया तथा निरर्थक कर्मकाण्डों का विरोध किया। उन्होंने वाणी नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें दस हजार छन्द थे। इनकी मुख्य आराधना स्थली रैण (राजस्थान) रही। इनके शिष्यों में प्रमुख रूप से- पूरणदास, किशनदास, नानकदास, चतुर्दास, मनसारास, टेमदास, सुखरामदास आदि प्रमुख रहे तथा सभी की रचनाएं उपलब्ध हैं।

दरिया साहब मारवाड़ वालों का जन्म मारवाड़ के जैतरन नामक स्थान पर एक धुनियाँ परिवार में हुआ था। अपनी जाति का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि- ‘मैं धुनियाँ जाति का होने के बावजूद भी राम जी आपका ही तो हूँ। मेरी जाति छोटी, नीच जाति है फिर भी मेरे सिरताज आप तो हैं-’

“जो धुनिया तौं भी मैं राम तुम्हारा।

अधम कमीनी जाति मतिहीना, तुम तौं हौ सिरताज हमारा ॥”

(हमारे मस्तिष्क संत कवि, पृ. 74)

आगे चलकर दरिया साहब बड़े सिद्ध महात्मा हो गए। हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही उनके भक्त हो गए थे। दरिया साहब कहते हैं कि एक राम का नाम सभी काम को पूर्ण करने वाला है जैसे-

“ जो बनमाली सींचे मूल, सहजै पियै डाल फल फूल ।  
जो नरपति को गिरह बुलावै, सेना सकल सहज ही आवै ।  
गरुड़ पंख जो घर में लावै, मर्य जाति रहने नहिं पावै ।  
दरिया सुमरि एकहि राम, एक राम सारै सब काम ॥”

(हमारे मूलिम संत कवि, पृ. 76)

अर्थात्, माली नो केवल जड़ को सींचता है, डाल फल फूल नो स्वतः ही उसके ऊपर लगते हैं। कोई अपने घर पर यदि राजा को बुलाता है नो सेना नो अपने आप ही आ जाती है। यदि गरुड़ को अपने घर में ले आये नो घर में मर्य कभी नहीं आया। इसलिये दरिया कहता है कि एक राम का मुमर्गिन करो वाकी सारे काम नो अपने आप ही हो जायेंगे।

\* संत हरिराम दास - (वि. सं. 1770-1835; ई. सन्. 1713-1778)

सन्त हरिरामदास महाराज, रामसनेही सम्प्रदाय की सिंहथल खड़ापा शाखा के प्रभुव थे तथा ये गुरुण्डा (चर्मकार) जाति के थे। अत्यायु में ही वेदशास्त्रों का अध्ययन किया और भगवद्भक्ति में लीन रहते थे। अब तक इनके नौ ग्रन्थ प्राप्त हैं- 1. घटपरचो, 2. नावपरचो, 3. निजज्ञान, 4. पदबत्सीसी, 5. धधर निसाणी, 6. प्रश्नोत्तरी, 7. अक्षर अण अक्षर, 8. सौलह तिथा को विचार, 9. गुरु परीक्षा।

सन्त हरिरामदास, राम की भक्ति में भजन गाते तथा सभी में प्रेम करने की बात कहते हैं। सन्त हरिरामदास कहते हैं कि प्रत्येक घट में परमात्मा का वास है तथा वर्ण और जाति व्यवस्था की ऊँच-नीच व्यर्थ है-

“एक पिण्ड एक है पारी एक जोनि में आया ।  
यामें ऊँच कौन है नीचा सब अविगत की माया ।  
कुल आचार करी कठिराई ज्ञान विचार न पाया ।  
वेद पुराण पढ़ि-पढ़ि पिण्डत आपा जग भरमाया ॥  
चारों वरण चार आसरमा यामें आतम एक ।  
जन हरिराम रामसुमरीजै या सन्तन की टेक ॥”

(श्रीरामसनेह धर्मप्रकाश, पृ. 149)

जाति-पाँति के भेदभाव को संत हरिरामदास ने सदैव दूर रखा। वाणी में वे स्पष्ट करते हैं कि-

“जाति पाँति है गुरु हमारी, नाम दिया हरिराम ।  
पिया हमारे भागचन्द्र हैं, ग्रह सिंहथल ग्राम ॥”

(हिन्दी संत काव्य-समाज शास्त्रीय अध्ययन, पृ. 160)

इनकी जाति के लोग मेघवाल (चर्मकार जाति) के गुरु होते हैं। श्री हरिरामदास जी के शिष्यों में श्री रामदास जी सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए। खैणापा शाखा की स्थापना भी इन्होंने ही की थी।

\* संत रामदास (वि. सं. 1783-1885; ई. सन्. 1726-1828)

सन्त रामदास का जन्म जोधपुर राज्य में हुआ। कुल परंपरा में वे मेघवाल जाति के थे और परिवार में मोची का काम होता था। गुरु में राममन्त्र की दीक्षा लेने के कारण उनका नाम रामदास पड़ा। इनके द्वारा लिखित 28 ग्रन्थ उपलब्ध हैं। अपनी जाति के बारे में वे स्वयं ही लिखते हैं -

“पांत हीण कुल हीण है, हीण हमारी जात ।  
हीण चलैबै रामदास, तुम उजल करौ रधुनाथ ॥”

(वही, पृ. 161)

संत रामदास ने सरल भाषा में घट-घट व्यापी राम का वर्णन किया है-

“तुमही तीरथ तुम असनानो, तुमही पुन्य तुमही दानू ।  
तुम ही त्यागी तुम ही भोगी, तुम ही जंगम तुम ही जोगी ॥  
तुम ही सत्गुरु तुम ही चैला, तुमही संगी तुमही अकेला ।  
तुम ही बाहर तुम ही काया, तुमही मारै तुम ही खाया ॥”

(वही, पृ. 161)

इस सम्प्रदाय के सभी लोग निर्गुण मार्गी सन्तों की तरह निर्गुण, निराकार ब्रह्म के उपासक हैं। इन सन्तों का वाह्याचार में विश्वास नहीं है तथा वे वर्णव्यवस्था, छुआ-छूत, ऊँच-नीच की भावना का जमकर विरोध करते हैं। धर्म के नाम पर सभी प्रकार के अन्धविश्वास और पाखण्डों की भर्त्सना करते हैं। रामसनेही सम्प्रदाय के लोग कबीर की तरह ‘क्रागद लेखी’ के वजाय ‘अनुभव देखी’ में विश्वास करते हैं किन्तु इनकी राम के भजन में पूरी आस्था है।

## गुजरात की भक्ति में समरसता का प्रकाश

गुजरात में जातिगत भेदभाव में ऊपर उठकर भक्तिभाव जगाने वाली आध्यात्मिक मालिका में मित्र, नाथ, भक्त तथा सन्त चारों की ही प्रभावी भूमिका रही है। गुजरात क्षेत्र में सैकड़ों मित्रों के नाम चौदहवीं सदी के पहले के काल में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त गुजरात की धर्मग्रन्थ भूमि पर जातिगत भेदभाव में ऊपर उठकर भक्तिभाव जगाने वाले भक्तों और सन्तों में भक्त नरसी मेहता, सन्त मूलदास, सन्त अखा, सन्त मेकण, गुजराती में रामायण लिखने वाले भक्त गिरधर, स्वामी सहजानन्द, स्वामी मुक्तानन्द, स्वामी दयानन्द, समरसता की गंगा प्रवाहित करने वाली गंगाबाई और पानबाई आदि ने भी अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया है।

गुजरात प्रदेशान्तर्गत वल्लभ-सम्प्रदाय एवं रामानन्द सम्प्रदाय के शिष्यों ने भी भक्ति का व्यापक प्रसार किया। स्वामी रामानन्द जी तो जाति, वर्ण, सम्प्रदाय आदि सभी प्रकार के भेदभावों को समाप्त करने के लिए ही अवतरित हुए थे। उनके शिष्य-प्रशिष्यों में योगानन्द, सुरसरानन्द, सन्त पीपा, सन्त कबीर एवं अनन्तानन्द आदि सभी ने गुजरात में इस सम्प्रदाय का सर्वाधिक प्रसार किया।

स्वामी रामानन्द जी की भक्ति-साधना में भगवच्चरणों में पूर्ण आत्मसमर्पण का विशेष महत्व था। उनके प्रभु दयालु हैं और उनके समुच्च धनी-निर्धन, बली-निर्बल, ऊँच-नीच, जाति-पाँति महत्वहीन थी। वे तो केवल प्रेम के भूखे थे। इस प्रकार गुजरात के रामानन्दीय सन्तों की भक्ति-साधना का मूल लक्ष्य सभी प्रकार की सामाजिक विषमताओं का समूलोच्छेद कर एक ऐसे समाज का निर्माण करना था जहाँ सभी समान हों। वे एक भेदभाव विहीन समाज निर्माण के लिए दृढ़ संकल्पित थे इस कारण उन्होंने प्राचीन चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त पर आधारित सामाजिक व्यवस्था का विरोध किया। उसके लिए प्रेरणास्रोत स्वरूप काशी के रामानन्द ही थे। ऐसे अनेक रामानन्दीय सन्त हैं जो अपनी वाणी से गुजरात क्षेत्र में अपना व्यापक प्रभाव बनाने में सफल हो गए उनमें सर्वश्री पीपा जी महाराज, टीलाचार्य, मंगलाचार्य, वैष्णवाचार्य, भक्त वस्तो, भक्त विश्वम्भर, भक्त प्रीतम, भक्त द्वारकादास, भक्त बलरामदास तथा भक्त रामकुमार खाकी का नाम प्रसिद्ध है।

सन्त कबीर से प्रभावित दो सन्त सम्प्रदाय- 1. रामकबीरिया तथा 2. सन्त कबीरिया विशेष उल्लेखनीय हैं। संवत् 1600 में गुजरात के कबीरपन्थी सन्त

ममर्यादाम ने अपने को अवधूत कहा तथा स्पष्ट शब्दों में अलख (ईश्वर) से प्रीति लगाने की बात कही क्योंकि एक दिन तो सभी को जाना ही है-

“अलख से प्रीति लगावे प्यारे, तोहे यहाँ से एक दिन जावना है।”

(कबीर और भारतीय सन्त साहित्य, पृ. 99)

गुजरात के सन्तों में सन्त अखा (संवत् - 1630 - 1715) की विशेष प्रतिष्ठा है। सन्त अखा को गुजरात का कबीर कहा जाता है। इनकी रचनाओं में कैवल्यगीता प्रमुख है। इसी श्रेणी में 17 वीं शताब्दी में आनन्दधन (संवत् - 1660 - 1730) एवं अनेक जैन सन्त हुए हैं। जिन्होंने सामाजिक विभेद को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सभी सन्तों और भक्तों की एक लम्बी परम्परा गुजरात की धरती पर जातिगत भेदभाव के विरोध में निरंतर खड़ी होती रही।

### \* भक्तिनिधि लीरलबाई (14वीं शताब्दी)

भक्ति-निधि लीरलबाई का जन्म चौदहवीं शताब्दी में एक लुहार परिवार में हुआ था। पिता वीरभक्त नाथपंथ के अनुयायी तथा माँ मीनलदेवी मजेवाड़ी में रहते थे। बाप-बेटी लुहार का काम करते समय संतवाणी बहाया करते थे। एक बार संत देवायन के साथ लीरलबाई की सुन्दर आध्यात्मिक चर्चा हुई। लीरलबाई ने देवायन जी की अनेक समस्याओं का समाधान किया। लीरलबाई ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। वे कहती हैं कि मनुष्य का देह ब्रह्माण्ड की छोटी सी आवृत्ति है अतः उसे पिण्ड कहते हैं। लुहार का कार्य करते हुए उनके भजनों में दृष्टान्त भी वैसे ही मिलते हैं।

### \* भगत नरसिंह मेहता - (वि.सं. 1470-1536 ; ई.सन्. 1413-1479)

इनके पिता का नाम कृष्ण दास तथा माता का नाम दया कुंवर था। गुजरात के जूनागढ़ में नरसी भगत का जन्म हुआ था। नरसी भगत ने कृष्णभक्ति का गुजरात में व्यापक प्रचार किया। गुजराती भाषा में साहित्य रचना कर के भक्ति-गीतों का प्रसार किया तथा सामान्य जन को भक्तिके प्रवाह में जोड़ा।

भक्त नरसी मेहता की गणना गुजरात क्षेत्र के आदि भक्त-कवियों में की जाती है। इनकी रचनाओं में सगुण तथा निर्गुण दोनों ही स्वरूप दिखलाई पड़ते हैं। भक्त नरसी ने संसार के सभी जीवों को समान समझा तथा सम्पूर्ण जगत को वै ब्रह्ममय मानते हैं। वे कहते हैं कि इस विराट जगत में ईश्वर अपने विविध स्वरूपों में व्याप्त हैं-

“अखिल ब्रह्माण्ड मां एक तुं श्रीहरि, जूजये रूपे अनंत भासे।

देहमा देव तुं तंजमां तत्व तु, शून्य मां शब्द थह वेदवासे ॥”

(रामानन्द सम्प्रदाय और साहित्य, पृ. 304)

अर्थात्, ‘अखिल ब्रह्माण्ड में तू श्रीहरि ही है जो लघु से लेकर अनन्त तक

सर्वत्र दिखलाई देता है। सभी शरीरों में देव रूप से, तेज में तत्व रूप में, शून्य में शब्द रूप में ऐसा वेद कहते हैं। नरमी भगन, जाति-पाँति के भेदभाव को नहीं मानते थे और हरिजनों के बीच जाकर कीर्तन किया करने थे। भक्त नरसिंह मेहता कहते हैं-

“गिर तलेटी ने कुंड दामोदर त्यां मेहता जी नहावा जाय।  
ढेढ वरण मो दूढ़ हरिभक्ति (ते) प्रेम धारी ने लागया पाय॥”

(वही, पृ. 304)

अर्थात्, 'पर्वत की तलहटी में जो दामोदर कुण्ड है वहाँ नरसी मेहता स्नान करते हैं और दूढ़ भक्तिभाव वाले हरिजन (शूद्र) के पाँव पड़ने हैं।'

अछूतों के घर कीर्तन - भक्त नरसिंह मेहता जाति-भेद के बहुत ऊपर हैं। उनके भजन-कीर्तन में सभी जातियों के लोग आते तथा वे सभी भक्तों में प्रभु का दर्शन करने थे। अस्पृश्य कहे जाने वाले लोग भी यदि भक्त नरसिंह को बुलाते थे तो वे वहाँ जाकर कीर्तन करते थे। अस्पृश्य कही जाने वाली जातियों के घर जाकर भजन करने के कारण गुजरात के नागर ब्राह्मणों ने इन्हें ब्राह्मण जाति से बहिष्कृत कर दिया। सभी प्राणीमात्र के दुःख को अपना दुःख समझने वाला करुणाभाव से परिपूर्ण इन्का भजन जो पूरे भारत में प्रसिद्ध हो गया-

“वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीर पराई जाणे रे।

पर दुःखे उपकार करे पण, मन अभिमान न आणे रे॥”

अर्थात्, 'प्रभु का भक्त तो वह है जो दूसरे के दुःख को दूर करने का कार्य करे किन्तु मन में किसी भी प्रकार का अभिमान न लावे।' आगे चलकर नरसिंह मेहता का भक्तिभाव तथा उनकी प्रसिद्धि देखकर सभी ब्राह्मणों ने आकर भक्त नरसिंह से क्षमा याचना की।

\* संत पद्मचानाभ (वि.सं. 1500-1565; ई.सन् 1443-1508)

गुजरात की स्वामी रामानन्दी परंपरा में एक प्रतिभा सम्पन्न संत पद्मानाभ हो गये हैं। पाटण के एक कुम्भार परिवार (प्रजापति जाति) में श्रीकरण प्रजापति के घर आपने जन्म लिया था। इस बात का उल्लेख वे करते हैं-

“शारदा ने तीरे जाओ, वेत्रे न लाओ बार।

पाटण मध्ये पद्म कहीए, जाणीए कुम्भकार॥

करण कारण पिता जेनो, लक्ष्मी जेनी माय।

पातालेदे पटरागणी, जई लागू हरि ने पाय॥”

(रामानन्द सम्प्रदाय और साहित्य, पृ. 135)

अर्थात्, 'शारदा के तट पर बिना विलम्ब करके जाओ। पाटण शहर के मध्य पद्म नामक एक कुम्भार जाति के भक्त हैं। करण कर्ताधर्ता (ब्रह्म) पिता है, लक्ष्मी जिसकी माता पाताल की पटराणी हैं। मैं जाकर हरि के पाँव पड़ना हूँ।'

संत पद्मनाभ जी ने स्वामी रामानन्द तथा संत कबीरदास के विचार को ही पकड़ कर समाज जागरण का कार्य जारी रखा। इनके जीवन में दूसरों की भलाई करना तथा अहर्निश ईश्वर की स्तुति करना ही प्रमुख रहा। वि.सं. 1565 में आपने समाधि ले ली।

\* संत मांडण (जन्म-वि.सं. 1536; ई.सन् 1479)

संत मांडण को विघ्नमी संवत् के अनुसार सोलहवीं शताब्दी का माना जाता है। इनके पिता का नाम हरि एवं माता का नाम मेघू था। मांडण ने अपने आपको श्री जोगी मदन का शिष्य बतलाया है।

इनकी वाणी में स्वामी रामानन्द के विचार स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। उसी परंपरा के अनुसार भगवान् राम की भक्ति, नाम-स्मरण, गुरु की महत्ता, ब्रह्म की उपासना, अहं का त्याग आदि बातों का आपने निरूपण किया है। जातिगत भेदभाव, वाह्याचार आदि का डट कर विरोध किया। संत कबीर की तरह ही मांडण ने भी कर्मकाण्ड तथा मिथ्याचार का विरोध किया है। संत मांडण प्रभु राम की भक्ति का ही आदेश देते हुए कहते हैं-

“भजन करो राम का भाई, छाँड़ सब तन की चतुराई।

गरूरी छाँड़ दे घेली, आखर काकी नाहीं बेली।.... भजन

करे बंदगी सोई बंदा, जीते जिन्दगी सोई अंदा।

फकीरी सोई रहत है फरता, साधु सोई रहत है रमता।

हिन्दु सोई धर्म कू जाणो, चले हक सो मुसलमाने।

सबी कू एक राह चलना, आखर तो खाक में मिलना।

समज के रहोगे न्यारा, साहब का खेल अपारा।

मांडण की एही चतुराई, सुनो हो याद सुन भाई।”....भजन

(रामानन्द सम्प्रदाय और साहित्य, पृ. 305)

अर्थात्, 'चतुराई छोड़कर राम का भजन करो। घमण्ड छोड़कर मगन रहो क्योंकि अंत में कोई सहायक नहीं होता। जो ईश्वर की भक्ति करता है वही भक्त है। जो जिन्दगी को जीत ले वही आधार है। जो धूमता रहे वही फकीर है, जो रमता रहे वह साधु है। धर्म जाने वह हिन्दू, सत्य पर चले वह मुसलमान। सभी

को एक ही राह पर चलकर याक में मिलना है। समझकर चलोगे तो मुक्त हो जाओगे, ईश्वर का खेल विचित्र है। मोड़ण की यही चतुर्गई की बात है, भाई यह सब बातें याद रखो।

\* सन्त अखा (वि० सं० 1648-1730; ई. सन्. 1591-1673)

सन्त अखा का जन्म अहमदाबाद के निकट, एक स्वर्णकार परिवार में हुआ था। स्वयं का पारिवारिक व्यापार छोड़ कर भगवद्भक्ति में ही मन लगा रहता था। योग गुरु की खोज में वे काशी आ गए तथा मणिकर्णिका घाट के ही एक मन्त्र के शिष्य हो गए। सन्त अखा भी उसी सत्य को दोहराते हैं कि चौदह लोक में एक ही समान नत्व है। इसमें जो भी ऊँचा-नीचा सोचते हैं वह मन की मिथ्या धारणाएँ हैं -

“चौद लोक अखा एक ठाठ, तेमा ऊँच नीच ते मन नो घाट।”

सन्त अखा ने गुजराती तथा हिन्दी दोनों ही भाषाओं में व्यापक साहित्य की रचना की। आपकी हिन्दी रचनाएँ ‘अक्षय रस’ के नाम से सम्पादित हैं। संत अखा को गुजरात का कबीर कहा जाता है। संत अखा ने अपनी वाणियों द्वारा समाज की बुराइयों को लेकर कड़ी फटकार युक्त भाषा का प्रयोग भी किया है। ऐसे वाक्यों के कारण समाज में इन वाणियों का तीखा प्रभाव पड़ा। कभी-कभी संत अखा की भाषा ध्वंसात्मक लगती है अर्थात् उस समय वे धर्म के नाम पर प्रचलित हो गये पूजापाठ, पाप-पुण्य विषय, वेशभूषा, बाह्याचार आदि के बारे में अपना विचार दृढ़ता के साथ रखते हैं। ऐसा बोलते रहने के कारण वे जानते हैं कि उनके बारे में लोग कैसा खराब कहते होंगे। वे स्वयं लिखते हैं -

“लठ कहो कोई भंड कहो पाषंड कहो कोई कहो भिखारी।

सजन कहो दुरीजन कहो चोर कहो कोई कहो ब्रह्मचारी।

कोऊ के पाव टिकै नहिं ताहाँ जाय कीनी ‘अखे’ जु पधारी।

जिन जैसे देख्यु तिनु तैसे धायो, वहीत रे है जो विचार विचारी॥”

(संत और सूफी साहित्य, पृ० 369)

अर्थात्, ‘अखा कहता है कि चाहे कोई मुझे मूर्ख कहे, भोंड कहे, पाषण्डी कहे या भिखारी कहे। सज्जन कहे, दुर्जन कहे, चोर कहे या ब्रह्मचारी कहे। किसी के भी पाँव जहाँ नहीं टिकते वहाँ अखा ने जाकर देव लिया है। जिस-जिस ने इसको देव लिया वह वैसे ही दौड़ पड़ा, बहुत हैं जो विचार ही कर रहे हैं।’

उपरोक्त शब्दों से यह बात सरलता से ही ध्यान में आ जाती है कि संत अखा भी कबीर की ही तरह स्पष्ट लिखने की हिम्मत रखते हैं। सन्त अखा ने आध्यात्मिक साधना एवं सिद्धि की भी चर्चा पर्याप्त की है। आपकी रचनाएँ-

श्री एकलक्ष रमणी, कुंडलिया, धुआमा, जकड़, झूलड़, ब्रह्मलीला, पद, भजन, संतप्रिया तथा साखियाँ नाम में दस पृथक्-पृथक् शीर्षकों में दी गई हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस प्रकार का सामाजिक जागरण का कार्य संत कबीर, भक्त पैदास, गुरु नानकदेव आदि उत्तर भारत में कर रहे थे वही कार्य मन्त्र अखा ने गुजरात तथा अन्य क्षेत्रों में निष्ठापूर्वक किया।

\* कच्छी सन्त मेकण (वि. सं. 1720-1786; ई. सन्. 1663-1729)

इनका जन्म कच्छ के नानी खोमड़ी नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम भेट्टी हरदोल जी एवं माता का नाम पावावा था। इन्होंने श्री गंगोजी नामक सन्तुष्ट रूप से दीक्षा ली तथा समाज सुधार के कार्य में लग गए। अहीर जाति में अनेक रूढ़ियों को दूर किया तथा ‘जुहार’ के स्थान पर राम-नाम शब्द का प्रयोग प्रचलित करा दिया। सन्त मेकण अपने आपको नाथ सम्प्रदाय के मछिन्दर नाथ का बेटा कहते हैं तथा संत कबीरदास का भी सम्मान के साथ स्मरण करते हैं -

“मेका बेटा मछिन्दर का, रामानन्द का कबीर।

आद अन्त फिरता, फरता राम कबीर ॥”

(रामानन्द सम्प्रदाय और साहित्य, पृ. 280)

मन्त्र मेकण कहते हैं, किसी को धन प्रिय है किसी को अच्छी बातें। मेरी तो केवल एक ही इच्छा है कि समाज में जो सबसे निम्न हैं, उन्हीं से मैं प्रेम करता रहूँ -

“के के वलीयु कोरीयु, के के वेला वेण।

वले कना वला मुके, ढाढी न व्या डेढ ॥”

\* गिरधर रामायण (गुजराती भाषा) - (ई. सन्. 19वीं शताब्दी) -

श्री गिरधर परमवैष्णव तथा भक्तिरसामृत से सराबोर महान भक्त कवि थे। स्वान्तः सुषाय वे रामचरित को विविध राग-रागिनियों में जन-समुदाय के मध्य भाव-विभोर हो कर गाया करने थे। उनका वही भक्तिगान-समुच्चय ही गिरधर रामायण है जो गुजरात का सर्वोत्तम रामकथा-काव्य है। कवि ने इसकी रचना ई. सन् 1835 में की। अन्य रामायणों की भांति गिरधर-कृत रामायण भी सात काण्डों में विभाजित है। प्रत्येक काण्ड में अनेक अध्याय समाविष्ट हैं। प्रायः एक-एक प्रसंग को लेकर एक-एक अध्याय की रचना की गई है। गेयता, भाषा की सरलता, रसात्मकता के कारण यह कृति गुजराती-भाषी प्रदेश में बहुप्रचलित रही है। उत्तरभारत के श्रीगमचरितमानस की भांति उसका नित्य पठन किया जाता है। जनभाषा में होने के कारण यह भक्ति-काव्य सहजता के साथ गाँव-गाँव तक चला गया तथा सामाजिक समरसता की दृष्टि से इसकी उल्लेखनीय भूमिका रही।

\* **स्वामी सहजानन्द (स्वामीनारायणजी)** - (वि.सं. 1837-1886; ई.सन्. 1780-1829)

स्वामी सहजानन्द जी का जन्म अयोध्या के निकट उ०प्र० में हुआ था। छोटी आयु में ही वेद शास्त्रों का अध्ययन कर 11 वर्ष की आयु में वे देशभर की यात्रा पर निकल पड़े। गुजरात आकर स्वामी रामानन्द के शिष्य हो गये। 20 वर्ष की आयु में स्वामी रामानन्द ने इन्हें अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। वर्तमान में स्वामीनारायण नामक विश्वव्यापी पहचान रखने वाले धार्मिक-सामाजिक आन्दोलन के प्रणेता आप ही थे।

**सामाजिक सुधार** - यज्ञों में हिंसा का विरोध कर स्वामी सहजानन्द जी ने इसे समाप्त कराया। लड़कियों को जन्म के समय ही मार डालने की परम्परा तथा सतीप्रथा को गुजरात में बंद कराया। व्यसन मुक्ति अभियान चलाकर, शराब, तम्बाकू, अफीम आदि से लाखों लोगों को मुक्ति दिलाई।

**अस्पृश्यता निवारण के प्रयास** - स्वामी जी सत्संगों में अस्पृश्य लोगों को आग्रह कर के बुलाते थे। कनवी, काठी, कोण्टी, सुधार, लुहार, साइ, काडिया, मोची, बाधरी, धेड़, गोला, कुम्हार आदि अनेक पिछड़ी जातियों को अपने सत्संगों में उन्होंने स्थान दिया। इन सभी को शुद्धता के साथ रहने का आग्रह कर प्रभुभक्त बनाया। स्वामी जी ने सभी को गले लगाया। वे अस्पृश्य कहे जाने वाले लोगों के घर जाते थे तथा वहीं प्रसाद पाते थे। छुआछूत जैसी सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिये उनका योगदान उल्लेखनीय है।

**दार्शनिक पक्ष** - स्वामी सहजानन्द जी का वेद, श्रीमद्भागवत एवं भगवद्गीता पर पूरा विश्वास था। स्वामी सहजानन्द जी के शिष्यों द्वारा स्वामीनारायण मन्दिर सेवा संकल्प के माध्यम से सेवाकार्य किये जाते हैं। सर्वशक्तिमान् प्रभु के प्रति भक्ति जगाकर सामान्य लोगों को भी स्वामी जी ने मनुष्यों की सेवा हेतु प्रेरित किया। स्वामी जी के शिष्यगण आज देश भर में हजारों सेवा के कार्य भक्ति-भाव से कर रहे हैं।

\* **स्वामी मुक्तानन्द - (स्वामीनारायण सम्प्रदाय)**

स्वामीनारायण सम्प्रदाय के ही एक महत्वपूर्ण संन्यासी स्वामी मुक्तानन्द जी हैं। इन्होंने सम्पूर्ण जीवन आध्यात्मिक साधना तथा सेवाकार्य हेतु लगा दिया। स्वामी जी कहते हैं कि सभी के साथ पूरा प्रेम रखो, मद, मत्सर तथा कुल जाति आदि की प्रतिष्ठा मिथ्या है उसे त्याग दो -

“हरिजन संगे राखो पूरण प्रीतड़ी, त्यागो मद मत्सर झूठी कुल लाज जो।”

\* **सन्त मूलदास**

सन्त मूलदास सभी जनों में एक परमात्मा का समान भाव देखते थे। छोटी-बड़ा, अमीर-गरीब आदि बातें महत्वहीन हैं। जैसे वर्षों की बूंद छोटी-बड़ी कई प्रकार की होती हैं किन्तु बादल में जो जल है वह एक ही है, उसमें कोई छोटा या बड़ा नहीं होता। अपने इन भावों को वे निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं-

“बूंद पड़े बहु भांत ना कोई जाडा कोई झीणा।  
घन गगन मां एक छे नहिं कोई मोटा ने हीणा।”

\* **महर्षि दयानन्द सरस्वती** - (वि.सं. 1881-1940; ई.सन्. 1824-1883)

महर्षि दयानन्द सरस्वती का जन्म गुजरात में हुआ था। बचपन में ही उन्होंने वेदों की हजारों ऋचाएँ कण्ठस्थ कर लीं तथा 21 वर्ष की आयु में घर छोड़ दिया। स्वामी पूर्णानन्द से दीक्षा लेकर स्वामी दयानन्द हो गए। सन् 1860 में कठोरव्रतधारी, वेद शिरोमणि कहे जाने वाले स्वामी विरजानन्द जी के पास मथुरा आ गए। वेदों के प्रकाण्ड विद्वान बने और वैदिक ज्ञान का प्रचार करने देशभर की यात्रा पर निकल पड़े।

आर्यसमाज की स्थापना सन् 1875 में मुम्बई में की गई तथा हिन्दू समाज के पुनर्जागरण और समाज में आयी कुरीतियों को दूर करने तथा वेदों की पुनर्स्थापना के कार्य में आर्यसमाज के हजारों कार्यकर्ता लग गए। यद्यपि आर्यसमाज का कार्य क्षेत्र सम्पूर्ण भारत था किन्तु पश्चिमी क्षेत्र के प्रान्तों में आर्यसमाज को उल्लेखनीय सफलता मिली। समाज सुधार की दृष्टि से आर्यसमाज ने अनेक प्रमुख कार्य किए। स्वामी जी ने स्पष्ट किया कि, वेदों में जातिगत भेदभाव का कोई उल्लेख नहीं है। समाज में व्याप्त नाना प्रकार के ढोंग, कर्मकाण्ड, बाह्याचार का स्वामीजी ने विरोध किया। स्वामी जी ने स्पष्ट किया कि वेदों में जातिगत भेदभाव को कोई स्थान नहीं है अतः मैं इस प्रकार के किसी भी भेदभाव को नहीं मानता।

**यज्ञोपवीत का अधिकार सभी को** - हम सभी आर्य हैं तथा सभी को यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए। इस प्रकार स्वामी जी ने तथाकथित लाखों शूद्र एवं अस्पृश्यों का यज्ञोपवीत कराया।

**संस्कृत और वेद अध्ययन** - संस्कृत तथा वेद किसी एक जाति या वर्ग की सम्पत्ति नहीं हो सकती अतः प्रत्येक व्यक्ति जो वैदिक संस्कृति में विश्वास रखता है संस्कृत तथा वेद का अध्ययन एवं अध्यापन कर सकता है। इसके लिए स्वामी जी ने अनेक स्थान पर गुरुकुल प्रारम्भ किये जहाँ जातिगत भेदभाव के बिना सभी

के लिए वेद अध्ययन की व्यवस्था थी।

**वैदिक पौरोहित्य का अधिकार** - स्वामी जी ने घोषणा की कि यज्ञ करने का अधिकार सभी को है। दयानन्द सरस्वती जी ने पिछड़े-अस्पृश्य लोगों में हजारों लोग ऐसे खड़े किए जो यज्ञ करवाते थे। आर्य संस्कृति के अनुसार सभी कर्मकाण्ड शास्त्रों में वैदिक रीति से विद्वान पण्डित द्वारा कराये जाने चाहिए। इसके लिये जन्मना ब्राह्मण होने की आवश्यकता नहीं। इस दृष्टि से दयानन्द सरस्वती ने सभी जातियों में से हजारों योग्य व्यक्तियों का चयन कर सभी कर्मकाण्डों को वैदिक मन्त्रों से करने वाले पुरोहित निर्माण करने का अभिनव कार्य प्रारम्भ किया। आर्यमहाज द्वारा इस दृष्टि से तैयार हुए पुरोहित सभी पर्व पर यज्ञ सहित पूजा करने में सक्षम थे।

**स्त्री शिक्षा एवं स्त्री सम्मान** - आर्य संस्कृति में महिलाओं और पुरुषों में कोई भेदभाव नहीं था। अतः आर्य समाज के माध्यम से महिलाओं के लिये शिक्षा तथा महिलाओं के यज्ञोपवीत की व्यवस्था भी की गई। हजारों महिलाएं यज्ञ करने तथा वेद अध्ययन एवं अध्यापन हेतु आगे आ गई। आर्य समाज ने महिला पुरोहितों के प्रशिक्षण हेतु प्रथम महिला गुरुकुल स्थापित किया। यह भारतीय इतिहास में क्रान्तिकारी परिवर्तन था। महिलाएं वेद पढ़ रही थीं, वेद पढ़ा रही थीं तथा यज्ञोपवीत भी धारण कर रही थीं।

**शुद्धि आन्दोलन** - महर्षि दयानन्द ने मुस्लिम अत्याचार के कारण मुसलमान हो गए बन्धुओं की घर वापसी का मार्ग, 'शुद्धि' हमेशा के लिये खोल दिया। आगे चलकर स्वामी श्रद्धानन्द जी ने इसे आगे बढ़ाया और लाखों लोग शुद्ध होकर पुनः अपने पूर्वजों के धर्म में वापस आ गए।

**प्रवचनकर्तव्यों का प्रशिक्षण** - आर्य समाज द्वारा वैदिक संस्कृति तथा वेदों का महत्व आदि पर प्रवचन करने वाले विद्वान कार्यकर्ता प्रशिक्षित किए जाते थे। यह कार्यकर्ता पूरे देश में ग्राम-ग्राम, नगर-नगर जाकर प्रवचन करके ढोंग, पाखण्ड, जातिगत भेदभाव को दूर करने का आह्वान करते थे।

स्वामी जी दयानन्द सरस्वती के उद्भव ने समूचे पश्चिमी भारत में एक अद्भुत क्रान्ति का सृजन किया। वेदों की पुनर्स्थापना तथा कुरीतियों को दूर करने में सफलता मिली। स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपत राय, लाला हरदयाल, भाई परमानन्दजी, रामप्रसाद बिस्मिल जैसे सैकड़ों लोग आजादी की लड़ाई के साथ ही समाज सुधार तथा वैदिक विचार के पुनर्स्थापन कार्य में लग गये। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने उनके कार्य को आगे बढ़ाया।

■ भक्त ककलसंग और समरसता की गंगा (ई.सन् 19 वीं शताब्दी)

गुजरात में, ककलसंग नामक भक्त उनकी पत्नी गंगाबाई और तथा शिष्या पानबाई, यह त्रिदल, बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। गंगाबाई का विवाह राजपूत परिवार में ककलसंग के साथ हुआ था। उस समय की परंपरा के अनुसार भक्तिन गंगाबाई के साथ पानबाई नाम की खवासा जानि की कन्या भी मेविका के नाते आ गई। ककलसंग गिरनारी साधु के शिष्य थे। भक्तिन गंगाबाई, भक्त ककलसंग की तथा भक्तिन पानबाई, गंगाबाई की शिष्या बनीं। तीनों का मेल बड़ा अद्भुत था। भक्तिन की गंगा बहने लगी। जातिगत भेदभाव का विचार मन को हटू तक नहीं पाया। घर में निरंतर भजन, कीर्तन, सत्संग चलता रहता था। सभी वर्गों-जातियों के लोगों का नाता लगा रहता था। अब उन्होंने गाँव के बाहर कुटिया बनवा ली। प्रथम हनुमान जी का तथा इसके पश्चात् श्रीराम का मंदिर बनाया। गंगाबाई ने पानबाई को आध्यात्मिक शिक्षा दी। ककलसंग के देहत्याग के समय पानबाई की 52 दिन की शिक्षा शेष थी। गंगाबाई ने वह शिक्षा पूर्ण करने के बाद शरीर त्याग दिया। उसके तीसरे दिन पानबाई ने भी शरीर त्याग दिया।

भक्तिन गंगाबाई के भजन गुजरात में आज भी अतीव प्रिय हैं। गुजरात आकाशवाणी पर पहला भजन भक्तिन गंगाबाई का ही प्रसारित किया जाता है उसमें सामाजिक समता तथा जीवन का सार समाया हुआ है।

॥ ॐ ॥

## महाराष्ट्र की सन्त परम्परा द्वारा लोकजागरण

जिमप्रकार उत्तर भारत की सन्त-परम्परा का केन्द्र काशी तथा भक्ति परम्परा का केन्द्र वृन्दावन बना उसी प्रकार महाराष्ट्र में पण्डुरंग से मन्तो और भक्तों की लम्बी शृंखला चल पड़ी। पण्डुरंग के संत नामदेव पंजाब में चले गये तथा वारकरी सम्प्रदाय के मन्तों ने भक्ति और सामाजिक समरमना की प्रबल धारा का प्रवाह निरन्तर जारी रखा। महाराष्ट्र की इस सन्त परम्परा ने भगवद्भक्ति तथा समाज सुधार हेतु विविध आयाम प्रस्तुत किये। ये सन्त सभी जातियों से आये थे तथा एक नयी वान यह थी कि इनमें पिछड़े वर्गों के पुरुषों एवं महिलाओं ने भी अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया।

संत ज्ञानेश्वर के प्रतिमह च्यंबक पंत ने गोरखनाथ से दीक्षा ली थी। संत ज्ञानेश्वर के बड़े भाई निवृत्तिनाथ को योगी गोरखनाथ के शिष्य गहिनीनाथ ने नाथमत में दीक्षित किया और 'कृष्णभक्ति' का मंत्र दिया। नाथमत मानने वालों द्वारा वैष्णवभक्ति का यह मंत्र देना एक नई बात थी। सम्भवतया यह उस समय की आवश्यकता समझकर ही किया गया होगा। इस प्रकार नाथमत के द्वारा कृष्ण भक्ति के लिए भी खुल गए। यह स्मरण में रहे कि नाथमत मानने वालों के आराध्यदेव शंकर हैं। इस प्रकार महाराष्ट्र के अंदर नाथ, शैव, वैष्णव, निर्गुण, सगुण सभी प्रकार के सामंजस्य वाली संत परम्परा विकसित होने लगी।

नाथमत को मानने वाले, निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर, मुक्ताबाई आदि ने विट्ठल-विट्ठल की जय-जयकार प्रारम्भ कर दी। देखते ही देखते मैकड़ों मन्तों के विट्ठल-विट्ठल जयघोष से महाराष्ट्र का आकाश गूँजने लगा। संत नामदेव भक्ति के मंत्र को लेकर उत्तर भारत की ओर बढ़ चले। महाराष्ट्र की इस महान परम्परा में सन्त ज्ञानेश्वर, मुक्ताबाई, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास, चोखामेला, सावना माली, गोरा कुंभार, राका महार, नरहरि मुनार, मेता नाई, जनाबाई, कान्होपात्रा, भानुदास, विमोवा खेचर तथा बंका आदि प्रमुख हो गये हैं। इनमें से कुछ के बारे में हम चर्चा आगे करेंगे।

\* वारकरी सम्प्रदाय (विक्रमी संवत् 13 वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध)

वारकरी का अर्थ होता है तीर्थयात्री। वारकरी मत के माननेवाले विट्ठल-विट्ठल कह कर कृष्णभक्ति के भजन करने हैं तथा उसी में भाव-विभोर हो जाने

हैं। आनन्द पूर्वक भगवन्स्मरण करने हुए भजन करने-गाने नृत्य करने हैं तथा सब कुछ भूल जाते हैं। वारकरी मत की मानने वाले पण्डुरंग के भगवान् पाण्डुरंग के भक्त हैं तथा वहाँ लाखों की संख्या में तीर्थयात्रा करना उनकी परम्परा में है।

आज भी प्रतिवर्ष कार्तिक तथा आपाढ़ एकादशी के अवसर पर लाखों तीर्थयात्री वहाँ एकत्रित होते हैं तथा विट्ठल-विट्ठल के मधुर-स्वर से पण्डुरंग थिरक उठता है। सभी लोग दिव्यानन्द की अनुभूति करने हैं।

पण्डुरंग की प्रतिमा - सन्त पुण्ड्रलिक मैकड़ों वर्ष पूर्व पाण्डुरंग की प्रतिमा लेकर पण्डुरंग आये थे। वे शिव के पुजारी थे किन्तु उनकी भक्ति तो शिव और विष्णु दोनों में बराबर ही थी। पाण्डुरंग का अर्थ है श्वेत शरीर और उसका अर्थ शिव भी होता है। मूर्तिकार ने बहुत ही कुशलता से शिवलिंग की स्थापना कृष्ण के सिर पर की हुई है।

विट्ठल नाम विष्णु का ही पर्यायवाची है। विट्ठल का अर्थ होता है ईंट पर खड़ा रहने वाला। महाराष्ट्र में ईंट को कीट कहते हैं। कहते हैं कि भक्त पुण्डालिक माता-पिता की सेवा कर रहे थे तभी स्वयं भगवान् उन्हें दर्शन देने आ गए, भक्त पुण्डालिक ने माता-पिता की सेवा छोड़ि बिना एक ईंट प्रभु को दे दी और उसी पर भगवान् को खड़ा रहने को कहा। तभी से भगवान् कृष्ण का वह ईंट वाला स्वरूप महाराष्ट्र के भक्तों ने स्वीकार कर लिया। ईंट पर खड़े कृष्ण को विट्ठल नाम मिल गया।

यह सम्प्रदाय मूलतः भगवत धर्म के ही सगुण-निर्गुण का मिश्रित स्वरूप है। श्रीमद्भगवत तथा श्रीमद्भगवद्गीता ही इस सम्प्रदाय के मूल उपासना ग्रन्थ हैं। इनके उपास्य पण्डुरंग में विराजित पाण्डुरंग विट्ठल हैं जो कृष्ण का ही रूप हैं। इस वैष्णव सम्प्रदाय पर अद्वैत भक्ति का गम्भीर प्रभाव हुआ। इस परम्परा के भक्तों की साधना में निर्गुणभक्ति ही समन्वित है। राम-कृष्ण हरि जैसे मनोच्छादक में ही भजन-कीर्तन प्रारम्भ होते हैं। ॐ वासुदेवाय नमः जैसे मन्त्रों के जप का प्रावधान है। वारकरी सम्प्रदाय में निम्न नीति कृतियाँ प्रमाण-त्रयी के नाम से सम्मानित हैं-

1. सन्त ज्ञानेश्वर का श्रीमद्भगवद्गीता का मराठी भाष्य ज्ञानेश्वरी।
2. सन्त एकनाथ का एकनाथी भागवत ग्रन्थ।
3. सन्त तुकाराम द्वारा नत्व-ज्ञान-भक्ति आदि पर भावपूर्ण अभंगों की रचना तुकाराम गाथा। यह तीनों उपासना के प्रमुख ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में अद्वैत तत्त्वज्ञान के साथ ही मणुसोपामना का प्रतिपादन बड़े समारोह के साथ किया गया है।

वेदों की बात ही जनभाषा में - मन्त्र ज्ञानेश्वर उम वात को भली प्रकार समझाने थे कि सम्भूत में कही बात जन-जन तक नहीं पहुँच पायेगी अतः उन्होंने वेदों की बात को जनभाषा में कहने का प्रयास किया -

“वेद मार्गे गेले त्याचि मार्गे चाललो

न कलेचि विषय अन्धा म्हणुनि च उग्रइ बोललो।”

(मन्त्र ज्ञानेश्वर)

अर्थात् - जिस मार्ग पर ऋषि-मुनि चले हैं उस वेद मार्ग पर ही हम चल रहे हैं। विषयदोष से अन्धी-दृष्टि के लोग उस मार्ग को नहीं जानते, अतः उनको समझाने के लिये हम स्पष्ट भाषा (जनभाषा) में बोलते हैं। वाक्य की सम्प्रदाय की उपासना पद्धति के सम्बन्ध में मन्त्र श्रीधण्डा जी महाराज कहते हैं -

“वाचा बोलूँ वेद नीति करूँ सन्ती केले ते”

(कल्याण, उपासना अंक, पृ० 572)

अर्थात्, ‘वाणी से वेद-नीति ही कहेंगे और कर्म से सन्तों द्वारा अवलंबित मार्ग का ही अनुसरण करेंगे।’ पाण्डुरंग सभी के हैं वहाँ कोई जातिभेद नहीं। वाक्य की मत को मानने वाले शिव, विष्णु में भेद नहीं करने, ब्राह्मण तथा अन्त्यज में भेद नहीं करने। पाण्डुरंग सभी को समान स्नेह करने हैं। वे सभी के हैं तथा सभी उनके हैं फिर भेद कैसा?

✽ संत पंचायतन

महाराष्ट्र के पाँच प्रमुख सन्त सर्वश्री ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम तथा समर्थगुरु रामदास को मिलाकर सन्त पंचायतन कहा जाता है। सन्त पंचायतन के ये पाँच सन्त अपनी विशेषताओं के कारण प्रसिद्ध हो गये हैं। 17 वर्ष की आयु में ही अपनी समस्त आध्यात्मिक गचनाएँ पूर्ण करने वाले ज्ञानेश्वर हमारे बौद्धिक रहस्यवादियों की कोटि में आते हैं, संत नामदेव लोकतान्त्रिक युग और राष्ट्रीय एकात्मता के पुरोधा हैं, महाराज एकनाथ में सामाजिक और आध्यात्मिक तत्त्वों का संयोग है, संत शिरोमणि तुकाराम का रहस्यवाद नितान्त निजी है जबकि समर्थगुरु रामदास ‘रघुवीर के प्रति भक्ति’ तथा देश की स्वतन्त्रता की लड़ाई हेतु संकल्पित सन्त हैं। संत पंचायतन परंपरा के सैकड़ों संतों तथा भक्तों ने सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्र में सुधार हेतु व्यापक प्रयास किये और सामाजिक समरसता एवं एकता का निर्माण किया।

✽ संत नामदेव (वि.सं. 1327-1407; ई.सन्. 1270-1350)

संत नामदेव का जन्म महाराष्ट्र के ‘नरसी ब्राह्मणी’ नामक गांव के एक दर्जी परिवार में हुआ था। इनके पिता दामाशेठ तथा माता गोणाई भी विट्ठल के अनन्य भक्त थे तथा पण्डरपुर की तीर्थयात्रा पर नियमित रूप से जाते थे।

नामदेव जैसे-जैसे बड़े होते गए वैसे-वैसे उनका भक्तिभाव भी बढ़ता चला गया। आगे चलकर वे सपरिवार पण्डरपुर आकर ही बस गए। इनके चार पुत्र थे वे सभी संत प्रकृति के ही थे। चारों पुत्र-वधूएँ भी विट्ठल की भक्त और कवि हो गईं। घर में काम करने वाली नौकरानी जनकबाई भी अत्यंत श्रेष्ठ संतों की श्रेणी में आई। इस प्रकार पूरे परिवार की प्रतिष्ठा संत परिवार के रूप में स्थापित हो गई। संत नामदेव का कीर्तन सुनना सौभाग्य की बात मानी जाने लगी।

संत नामदेव ने बिसोबा खेचर को अपना गुरु मान लिया किन्तु संत बिसोबा ने भी नामदेव को पुनः संत ज्ञानेश्वर के पास ही भेज दिया। अब तो नामदेव की श्रद्धा संत ज्ञानेश्वर के ऊपर बढ़ती चली गई। संत नामदेव उनकी छाया की तरह ज्ञानेश्वर के साथ रहने लगे। संत ज्ञानेश्वर ब्राह्मण थे किन्तु संत नामदेव (शूद्र) के चरण-स्पर्श करने थे। इस घटना ने महाराष्ट्र के समाज जीवन पर व्यापक प्रभाव डाला। इस प्रकार संत समाज के श्रेष्ठ आचरण तथा विनम्रता ने वाक्य की सम्प्रदाय के भक्तों को दूर तक प्रभावित किया। संत नामदेव का भक्ति के प्रचार-प्रसार का अपना अनोखा तरीका था। संत नामदेव भक्तमण्डली के सम्मुख विशेष, वेश धारण कर, माथे पर चंदन लगाकर तथा करताल लेकर उपस्थित होते थे। वे स्वयं नाचते-गाते-करताल बजाते हुए कीर्तन करते थे। वे भक्ति के आधार पर प्राचीन धर्म कथाओं को कहते तथा स्वर-नय के साथ अभंग गाते और कीर्तन करते। आज कहा जा सकता है कि महाराष्ट्र की कीर्तन परंपरा के वे प्रथम पुरुष थे। आज भी वह परंपरा पूरे महाराष्ट्र में चल रही है।

संत ज्ञानेश्वर द्वारा समाधि ले लेने से संत नामदेव का अन्तर्मन दुःखी हो गया। संसार में उनका मन नहीं लगता था। वे लिखते हैं-

“नामा म्हणे आता लोपला दिनकर। बाप ज्ञानेश्वर समाधिस्थ ॥

संत अंतरला सखा झाला दूर। आता पंढरपुर कैसे कंठू?”

(महाराष्ट्र की संत परंपरा, पृ. 66)

अर्थात्, ‘नामदेव कहते हैं कि लगता है सूर्यास्त हो गया है, पितृ-तुल्य ज्ञानेश्वर ने समाधि ले ली है। मेरा अंतरंग मित्र (ज्ञानेश्वर) मदा के लिए दूर

चला गया है। पण्डुरपुर के बारे में तो अब मेरी वृद्धि भी कृठिन हो गई है।

मंत नामदेव जीवन भर पण्डुरपुर रहे किन्तु अब पण्डुरपुर से उनका मन उचट गया। मंत नामदेव ने अपने मन को दृढ़ किया तथा भविष्य का कार्य निर्धारित किया। मुसलमानों के आक्रमण बढ़ने जा रहे थे। उनका भारत के हिन्दुओं की अवस्था भी अच्छी नहीं थी। सर्वत्र निरगुण फैलती जा रही थी। ऐसी स्थिति में समाज जागरण तथा समाजिक एकता का व्रत लेकर मंत नामदेव, भक्तिजागरण का संदेश लेकर, निर्गुण-मगुण, जैव-वैजव को एक ही मानने हुए उत्तर भारत के भ्रमण पर निकल गए। उनके साथ उनकी कीर्तन मण्डली भी चल रही थी। उन्होंने 20 वर्ष तक पंजाब का भ्रमण किया। उस समय मुसलमानों का प्रवेशद्वार पंजाब ही था। इस कारण वे यहाँ आकर सभी स्थानों पर घूमते रहे। पंजाब में आकर उन्होंने व्यापक शिष्य परंपरा खड़ी की, हिन्दू समाज को संगठित किया तथा विपमताएं दूर की। आगे चलकर पंजाब में श्रीगुरु नानकदेव जी द्वारा जो समाज जागरण दिखवाई देता है उसकी आधारशिला मंत नामदेव रख चुके थे। इसकी व्यापक चर्चा हम पंजाब वाले अध्याय में करेंगे।

\* सन्त ज्ञानेश्वर (वि.सं. 1332-1353; ई.सन् 1275-1296)

महाराष्ट्र के जग प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर ने अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख करते हुए अपना सीधा सम्बन्ध आदिनाथ से जोड़ा है। सन्त ज्ञानेश्वर की गुरु परम्परा इस प्रकार है- आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गहिनीनाथ, निर्वृतिनाथ, मंत ज्ञानेश्वर। मंत ज्ञानेश्वर के ज्येष्ठ भ्राता निर्वृतिनाथ, छोटी बहिन मुक्ताबाई और लघुभ्राता सोपानदेव भी साधपथ में दीक्षित थे।

मंत ज्ञानेश्वर के पिता विट्ठल पत्न अपनी पत्नी से विना अनुमति लिये काशी जाकर संन्यास दीक्षा लेकर स्वामी रामानन्द जी के शिष्य हो गये थे, नाम मिला चैतन्यस्वामी। रामेश्वरम जाते समय जब स्वामी रामानन्द जी आलन्दी में ठहरे हुए थे तब विट्ठल पत्न की पत्नी द्वारा चरणस्पर्श करने पर उन्होंने पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया किन्तु उसके पति विट्ठल ने रामानन्द जी को अपने विवाह की बात बताई नहीं थी। जब रामानन्द जी को पता चला कि यह विट्ठल पत्न की पत्नी है और चैतन्यस्वामी ने मेरे से झूठ बोला है तो उनको दुःख हुआ तथा यात्रा वहीं स्थगित कर वे काशी वापस आ गये। चैतन्यस्वामी (विट्ठल पत्न) को तुरन्त घर वापस जाकर परिवार बढ़ाने का आदेश दिया और उन्हें संन्यास से मुक्त कर दिया। विट्ठल पत्न घर वापस तो आ गये परन्तु वहाँ के ब्राह्मणों के लिये

यह एक अनहोनी थी। कोई व्यक्ति संन्यास लेकर पुनः गृहस्थी में प्रवेश करे यह सम्भव विम्वद था और आलन्दी के ब्राह्मणों ने उन्हें जानि बहिष्कृत कर दिया। उन्हें गाँव के बाहर दूर अपना घर बनाना पड़ा और वे समाज में अलग कर दिये गये।

पुत्रों को स्वीकारने से भी मना - विट्ठल पत्न के तीन पुत्र निर्वृति, जान और सोपान तथा एक पुत्री मुक्ताबाई थी। चारों मेधा सम्पन्न थे किन्तु वहाँ के ब्राह्मणों ने उन्हें यज्ञोपवीत एवं शिक्षा आदि देने से इन्कार कर दिया। विट्ठल पत्न ने अपनी पत्नी वच्चों के साथ व्याम्बकेश्वर में साधना की तथा वच्चों को सभी प्रकार के ज्ञान में पारंगत बनाया किन्तु ब्राह्मणों ने इन्हें स्वीकार नहीं किया। ब्राह्मणों ने माता-पिता दोनों को देहात प्रायश्चित्त की सजा दी। अब इस शरीर को कोई स्वीकारना नहीं ऐसा मानकर विट्ठल पत्न तथा उनकी पत्नी ने प्रयाग में त्रिवेणी पर जल समाधि ले ली।

माता-पिता के शरीर त्याग से दुःखी वच्च पुनः प्रतिष्ठान (पैठण) आकर ब्राह्मणों को मिले और उनको पूछा, क्या अब आप हमको स्वीकार कर सकते हैं? पुनः सभी ने यही कहा कि “संन्यासी से गृहस्थ जीवन”, यह तो शर्मनाक है। इसकी शृद्धि का कोई भी रास्ता हमारे शास्त्रों में नहीं है। ब्राह्मणों की सभा में निवृत्ति ने कहा- “मैं नाम तथा स्वरूप से मुक्त वही आत्मा हूँ जो सभी जीवों में निवास करता है। मैं जन्म-मरण से ऊपर हूँ।” ज्ञानेश्वर ने कहा “यही सत्य है”। सोपान ने कहा- “आप को हम पर शर्म आ रही है? आप हमको अपवित्र मानते हैं, किन्तु पाण्डवों की क्या जानि थी? ऋषि व्यास तथा वाल्मीकि की क्या जानि थी?” ज्ञानेश्वर ने पूछा- “उम अनन्त ब्रह्म के परे कुछ भी नहीं है, मेरी आत्मा भी वही है जो आप के अन्दर है। हम सभी के अन्दर एक ही आत्मा निवास करता है, उसका जानि में कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका जन्म से कोई अर्थ नहीं, वेद सभी के लिये हैं।” ज्ञानेश्वर के ज्ञान को देखकर सभी आश्चर्यचकित हो गये। उन्हें मान्यता मिली। सभी ने उनसे क्षमायाचना की तथा उनका सम्मान किया।

जनभाषा में धर्म साहित्य लिखा जाय - सन्त ज्ञानेश्वर के मन को पीड़ा इस बात से थी कि वेद और गीता में क्या लिखा है, उसको सामान्य जन जान नहीं पाते और कुछ लोग उनको भ्रम में रखते हैं। सामान्य ग्रामवासी भी वेद और गीता के पवित्र सत्य को समझ सकें इसलिये उन्होंने की जनभाषा में शास्त्रों का पुनर्लेखन होना चाहिये। उन्होंने मराठी भाषा में शास्त्र लिखना प्रारम्भ किया।

मराठी में गीता प्रथम बार - महाराष्ट्र के इतिहास में यह प्रथम अवसर था

जब मन जानदेव गीता पर ओवी मृता रहे थे। गीता की गहराइयों को वे उन्ही की भाषा में सुनाने थे तो लोग आनंद में भक्तिभाव के साथ सुनते थे। भक्त ज्ञानेश्वर की आँखों में अश्रुधारा बहती थी. जनममुदाय भी भक्तिभाव में आनन्दित होता था। सामान्य-जन के लिये उपयोगी इस भक्तिपूर्ण साहित्य को जनता ने मिलकर आपसी भेदभाव भुलाकर गाया। इन अभंगों को भावार्थ दीपिका में संकलित किया और वही आगे चलकर ज्ञानेश्वरी कहालायी। उपनिषदों के विषय-ज्ञान को ज्ञानेश्वर ने इस ग्रन्थ में सरल और मनोहारी ढंग से जन सामान्य के लिये प्रस्तुत किया है।

**भक्तिरस ने सभी भेद मिटा दिये -** मरुचा मनुष्य वह है जो चीटी से लेकर हाथी तक सभी में एक ब्रह्म के दर्शन करता है। सभी में प्रेम करता है। ज्ञानेश्वर कहते हैं- “सभी जातियाँ ईश्वर के सम्मुख उसी प्रकार एक हो जाती हैं जैसे छोटी-छोटी धाराएँ गंगा में समाहित हो जाती हैं।” वारकरी नाम से मत चल पड़ा। लोग मिलकर भजन गाते, पाण्डुरंग-पाण्डुरंग कहते, विठ्ठल-विठ्ठल कह कर आनन्द-विभोर हो जाते और सभी भेदभाव दूर हो जाते थे। जनता विठ्ठल का संकीर्तन करते हुए पंढरपुर में स्थापित विठोबा के मन्दिर के दर्शनार्थ वारी (तीर्थयात्रा) करने लगी। वारकरी संप्रदाय अद्वैतवादी होते हुए भी सगुण आस्थावान हो गया। भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना ही इन संतों के हृदय का हार बना। निर्गुण नामदेव कहने लगे -

“धनि-धनि वनखण्डा वृंदावना। जहाँ खेलें श्री नारायणा ॥”

(मन्त साहित्य की समझ, पृ० 30)

संत ज्ञानेश्वर के प्रभाव से नाथमत पूरी तरह वारकरी मत में विलीन हो गया।

**हरिकथा और नाम संकीर्तन -** प्रथम बार इस प्रकार से संकीर्तन का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। हरिकथा तथा नाम-संकीर्तन यही से प्रसिद्धि पाने गये। योग और भक्ति का दुर्लभ संयोग संत ज्ञानदेव ने प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे भक्ति और ज्ञान की प्रमिद्धि बढ़ती गयी। दूर-दूर के सन्त लोग आकर मिलते गये और जातिगत भेदभाव को समाप्त कर एक सुन्दर सन्त-मंगम खड़ा हो गया।

सन्त ज्ञानेश्वर योग साधना की शिक्षा देने हैं, नाथयोग सम्मत योग प्रक्रिया की सूक्ष्मात्मिभूषम बातों का उल्लेख करने हैं तथा श्रीमद्भगवद्गीता की व्याख्या भी करने हैं। नाथपन्थ मूलतः शैव दर्शन से प्रेरित है। शैव-तत्त्व-दर्शन को औपनिषदिक अद्वैत चिन्तन से मिलाकर सन्त ज्ञानेश्वर ने एक नवीन परम्परा का सूत्रपात किया। उन्होंने नाथयोग की साधना को कृष्णभक्ति के साथ बहुत ही महजना से समन्वित

कर लोगों के सम्मुख रखा।

**मन्त ज्ञानेश्वर की समाधि -** सभी को वनाकर संत ज्ञानेश्वर समाधि लेने के लिये आबन्दी चल दिये। मन् 1296 में, 21 वर्ष की आयु में उन्होंने समाधि ले ली। उन्होंने कहा कि पाण्डुरंग-विठ्ठल का स्मरण करो। प्राणिमात्र में भेद मत करो। मन् ज्ञानेश्वर ने अपना जीवन कार्य 17 वर्ष की आयु तक पूर्ण कर दिया था। क्या कोई कल्पना कर सकेगा कि अध्यात्म, भक्ति और ज्ञान की त्रिविणी के गूढ़ प्रश्नों को इसनी कम आयु के मन् ने कितने सुन्दर ढंग से समाज के सम्मुख रख दिया। समाज की अनेक समस्याओं का समाधान भी दिया तथा हिन्दू विचार दर्शन की अवलोक धारा को पुनः प्रबलमान कर शोषमुक्त करने का प्रयास किया।

मन् ज्ञानेश्वर ने अपने गुरु एवं बड़े भाई निवृत्तिनाथ के आग्रह पर ‘अमृतानुभव’ ग्रन्थ की रचना की। इसमें आठ मौ ओबियों का समावेश है। मंगलाचरण के पाँच श्लोक छोड़कर शेष ग्रन्थ मंगली में है। यह ग्रन्थ अपने स्वयं के अनुभव पर आधारित है। अमृतानुभव में कहा गया है कि यह जगत् मिथ्या नहीं है। यह तो आनन्दमय है।

\* **भक्त मावता माली -** (जन्म-वि.सं.1307; ई.सन्. 1250)

महाराष्ट्र के अर्णभेंडी नामक ग्राम में मावता माली का जन्म ई० सन् 1250 में हुआ था। आज से लगभग 700 वर्ष पूर्व महाराष्ट्र में वारकरी सम्प्रदाय द्वारा धर्म जागरण तथा सामाजिक समरमता का प्रयास चल रहा था। जातिगत भेदभाव में ऊपर उठकर विचार करने वाले इस सम्प्रदाय के लोगों में भक्त मावता माली भी हैं। वे एक कृषक की तरह खेती कार्य करते थे। वागवानी, शाक-सब्जी, पुष्प आदि उगाता उनका पैतृक कर्म था। भक्त मावता माली ने भी इसी कार्य को भक्ति के साथ किया। ‘दाय’ में काम और मुँह में राम’ वाली कहावत को चरितार्थ करने हुए वे मदा विठ्ठल का स्मरण किया करते थे। खेत में पानी लगाने समय, फूल चुनने समय, सब्जी को देखते समय सभी में प्रभु का अनुभव करने थे। गेंदा, चमेली के फूल मेरे विठ्ठल हैं, मूली-गाजर, अदरक-भिच मेरे विठ्ठल हैं। मेरे विठ्ठल को पानी लग रहा है आदि-आदि। वारकरी सम्प्रदाय के प्रमुख सन्त ज्ञानेश्वर तथा संत नामदेव के साथ वे भी यात्रा में जाने लगे। माथ-माथ कीर्तन भी चलता रहा।

प्रभुभक्ति, मन के भय को दूर कर देती है। अपने प्रिय प्रभु को सदैव अपने साथ मन में रखो। भक्त मावता कहते हैं कि भक्ति के साथ प्रभु के गुण गाओ वह स्वयं मुक्त कर देगा। भक्त मावता माली को 700 वर्ष बीत गये किन्तु आज भी महाराष्ट्र

के कृपाक, माया की अपने स्वेन में कार्य करने समय प्रभु का रमण करने हैं, उनसे अभंग बोलने हैं। यह कार्य प्रभु का ही कार्य है ऐसा रमण करने है। कृपि भी ईश्वरभक्ति का कार्य है, इसका उच्चाद ईश्वर के अंगों को ही तो प्रसाद के रूप में प्राप्त होगा।

❖ भक्त गौरा कुंभार - (जन्म-वि.सं. 1324 ई० मन् 1267)

महाराष्ट्र के एक कुंभार परिवार में जन्मे भक्त गौरा आयु में मन् नामदेव में तीन वर्ष तथा मन् ज्ञानेश्वर में आठ वर्ष बड़े थे। वर्तन वनाने समय, मिट्टी लगाने समय भजन-कीर्तन करने रहते थे। नाकी वजाकर विट्ठल-विट्ठल कह कर मिट्टी गँधते थे। भक्त गौरा ने स्वयं नामदेव को यह आशय कराया कि सभी में ईश्वर का वास है। ईश्वर में और हममें कोई अन्तर नहीं है। वे अभंग लिखने थे और गाते थे। गाते-गाते उमी में नम्र हो जाते थे। नामदेव-ज्ञानदेव के साथ मिलकर कीर्तन करने, अभंग गाते और हरि, विट्ठल-विट्ठल, पाण्डुरंग का भजन करने-करने गृध्र-दुध खा देने तथा आँखों में आँसू बहते रहते थे।

मन ज्ञानेश्वर की मन् मण्डवी में गौरा कुंभार सबसे अधिक आयु वाले थे। मन नामदेव को कच्चा घड़ा मिट्टी करने वाले भी गौरा काका ही थे। नामदेव के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था कि आत्मानुभव के बिना भक्ति केवल भावुकता है।

**परब्रह्म की अनुभूति** - एक समय ऐसा आ गया कि भक्त गौरा मुख-दुःख, अपेक्षा, पत्नी-परिवार आदि सभी के अनुभव में डूब उठते चले गये। स्वयं ही प्रभु के साथ एकरूप होने की अनुभूति होने लगी। ज्ञानेश्वर के साथ उनका भाव की यात्रा पर भी वे गये। मन् ज्ञानेश्वर की महामार्गाध के समय भक्त गौरा स्वयं उपस्थित थे।

मन गौरा काका भजन कर रहे थे कि दीवार उनके ऊपर सिर गई। वे तो सम्राधि में बैठे भजन करने ही रहे। लोगों को आश्चर्य हुआ कि मन्वे के अन्दर में भी बड़ी देर तक विट्ठल-विट्ठल की ध्वनि आती रही। इसी कारण नत्कालीन मन समाज के लोग उन्हें परमहंस कहते थे। विट्ठल की भक्ति उनके रोम-रोम में व्याप्त थी।

❖ प्रेरिका सन्त मुक्ताबाई - (वि.सं. 1336-1353; ई.सन्. 1279-1296)

मन मुक्ताबाई का जन्म ई. सन् 1279 में हुआ था। माता-पिता की मृत्यु के समय इनकी आयु मात्र तीन वर्ष थी। निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर तथा गोपाल तीनों भाईयों का प्रेम अपनी इस बहिन पर था। विट्ठल पंन की विटिया मुक्ताबाई आगे चलकर परिवार परम्परा को और अधिक ज्योतिर्मय कर गई। मन मुक्ताबाई अपने

बड़े भाई निवृत्ति, ज्ञानेश्वर तथा गोपाल देव में छोटी थी। विट्ठल पन्न द्वारा प्रयाग में गंगा में जल सम्राधि ले लेने के कारण चारों वस्त्रे अनाथ हो गए। जानि बहिष्कृत होने के कारण समाज ठीक प्रकार में शिक्षा भी नहीं देता था। लोग शिक्षा में मिट्टी मिला देने थे। इस सब में ऊब कर ज्ञानेश्वर ने जीवन का अन्त करने का निश्चय कर लिया। तब मुक्ताबाई ने अपने बड़े भाई के साथ संवाद किया। संवाद के ब्रे, अभंग ताटी अभंग कहलाये। मुक्ताबाई ने कहा-‘विश्व यदि क्रोध में जल रहा हो तो हम यंत्रों को पानी होकर उसे शान्त करना चाहिए। यदि दाँतों वाले जीभ आती है तो काट दूँ’ इस कारण किसी ने अपने दाँत नहीं तोड़े हैं। यह सम्पूर्ण समाज अपना ही है, ऐसा हमारा और इस समाज का सम्बन्ध मानना चाहिए। अतः अब शान्त हो जाओ। ज्ञानेश्वर शान्त हुए। इसके पश्चात् ज्ञानेश्वर ने ज्ञानेश्वरी तथा अमृतानुभव जैसे श्रेष्ठग्रन्थों की रचना की। मन मुक्ताबाई, बालयोगिनी के नाम में प्रसिद्ध हो गई। बहुत कम आयु में ही उन्होंने अथाह ज्ञान अर्जित किया। निवृत्तिनाथ की योगविद्या पहले ज्ञानेश्वर के पास आई तब गोपालदेव के द्वारा यह योगदीक्षा मुक्ताबाई को प्राप्त हुई। चांगदेव जैसे योगीश्वर की गुरु मुक्ताबाई बनी और उन्हें वैराग्य के साथ भक्ति को जोड़ने की प्रेरणा दी। विमोवा खेचर को यह शिक्षा देने का कार्य मुक्ताबाई ही करती हैं तब मन् नामदेव, विमोवा खेचर के शिष्य बनते हैं।

मन मुक्ताबाई ने अपने मरल-बोधगम्य अभंगों के द्वारा ज्ञान, अध्यात्म, श्रेष्ठ जीवन, भक्ति, वैराग्य तथा योग की बातें कही हैं। वारकरी परम्परा की यह श्रेष्ठ योगिनी ऊँच-नीच को नहीं मारती। उनकी दृष्टि में सभी समान हैं। विमोवा खेचर तथा नामदेव शूद्र हैं किन्तु इनके साथ मुक्ताबाई की जानचर्चा होती है। उसका कहना है कि जब आत्मिकज्ञान हो जाता है तब उसके लिये ऊँच-नीच कोई अर्थ नहीं रहने-

“सुख सागरी वाम झाला, ऊँच नीच काय याला।”

(ताटी उघड़ा ज्ञानेश्वर, पृ० 14)

अर्थात् ‘जो मन् लोग ज्ञान के सुख-सागर को प्राप्त कर चुके हैं उनके लिए, ऊँच-नीच की बातें निरर्थक हैं।’ मुक्ताबाई ने जाति-वर्ग आदि भेदों में ऊपर उठकर सम्पूर्ण समाज को अपना माना। तीनों भाईयों द्वारा एक ही वर्ष में सम्राधि लेने में दुःखी मुक्ताबाई ने भी उमी वर्ष पण्डितावाद में सम्राधि ले ली।

❖ सन्त जनाबाई - (वि.सं. 14वीं शताब्दी)

पाण्डुरंग के भक्त सभी जानियों से आरहे थे। इन्हीं में कुछ महिलाएं भी थीं। जनाबाई का नाम भी उन्हीं में से एक है। मन जनाबाई का जन्म महाराष्ट्र में

गोदावरी के किनारे बसे एक गांव 'गंगावेड़' में हुआ था माता-पिता का देहान्त गरीबी के कारण हो गया था। तथाकथित शूद्र परिवार में जन्मी जनाबाई आगे चलकर संत नामदेव जी के पिताजी के पास ही सेवा आदि के लिए आ गई। संत जनाबाई अविवाहित थीं और उन्होंने नामदेव को छोड़ भाई अथवा बालक की तरह पाया। संत जनाबाई ने पाण्डुरंग की भक्ति में अभंगों की रचना की। भक्तिभाव बढ़ता गया तथा संत जनाबाई ने सभी वर्गों में भ्रद्धा का स्थान बना लिया।

वर्तमान में संत जनाबाई के तीन मौ पचास अभंग प्राप्त हैं। संत जनाबाई के अभंग आत्मनिष्ठ, भक्तिपरक तथा चरित्र निरूपण करने वाले हैं। भक्त प्रह्लाद, शबरी एवं शुकदेव जी की भक्ति का सुन्दर वर्णन जनाबाई ने किया है। संत ज्ञानेश्वर, नामदेव, गौरा कुंभार, मेना नाई, चोखामेला, सोपानदेव, निवृत्तिनाथ, मुक्ताबाई आदि संतों के गुणों की चर्चा भी भक्तिभाव से जनाबाई ने की है। संत जनाबाई ने संत ज्ञानेश्वर और संत नामदेव का सुन्दर मिलन तथा संत ज्ञानेश्वर को समाधि लेते हुए भी देखा। इस कारण जनाबाई इन सभी संतों के आपसी प्रेम तथा विट्ठल के प्रति भक्तिभाव को मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करती हैं। एक अभंग में विट्ठल के साथ उनके भक्तों की समरसता का सुन्दर वर्णन जनाबाई करती हैं। विट्ठल तो सभी जाति के लोगों का है और सभी उसी की संतान हैं। सभी को साथ लेकर वह चलता है, इस अर्थ का यह संत जनाबाई का अभंग है-

“विठ्ठु माझा लेकरवाला, संगे गोपालांचा मेला ॥ धू॥

निवृत्ति हा खंछावरी, सोपानाचा हात धरी

पुढे चाले ज्ञानेश्वर, मागे मुक्ताई सुंदर ॥ १ ॥

गौरा कुंभार मांडीवरी, चोखा जीवाबरोवरी

बंका कडेवरी, नामा करंगुली धरी ॥ २ ॥

जनी म्हणरे गोपाला, करी भक्तांचा सोहला ॥”

अर्थात्, 'मेरा विट्ठल अनेक बच्चों वाला है। उसके साथ बाल गोपालों का मेला लगा रहता है। निवृत्ति को उसने अपने कंधे पर बैठाया है। सोपानदेव का उसने हाथ पकड़ा है। ज्ञानेश्वर उसके आगे चल रहे हैं। मुक्ताबाई उसके पीछे-पीछे चल रही हैं। गौरा कुंभार को उसने अपने जाँघ के ऊपर बैठाया है। चोखा महार को अपने हृदय से लगा रखा है। बंका चूड़ीवाले को गोद में लिया हुआ है और नामदेव उनकी करंगुली पकड़कर चल रहे हैं। जनाबाई कहती हैं मेरा विट्ठल सभी को साथ लेकर उत्सव मना रहा है।'

संत जनाबाई तो वैराग्य और भक्ति की प्रतीक हैं। इसी कारण संत ज्ञानेश्वर की बहिन मुक्ताबाई उन्हें बड़ी बहिन मानती थीं। धीरे-धीरे वे निर्गुण-निगकार की आराधना करने लगीं। विट्ठल में ही ब्रह्म देखने लगीं। जनाबाई के लिए सारा संसार ही ब्रह्ममय हो गया। स्वयं नामदेव जनाबाई की भक्ति का गुणगान करने लगे-

“एक प्रहर् रात्री झाली। फेरी विट्ठलाची आली ॥

नामा म्हणे जनी पाहे। द्वारी उभा कोण आहे ॥

प्रभा परात दाटली। एकादश रात सुटली ॥

एकामेका आलिंगन। नामा म्हणे जनी धन्य ॥”

(महागण्ड की संत परंपरा, पृ. 70)

अर्थात्, 'एकादशी का व्रत घटा है। रात्रि का प्रथम प्रहर है। जनाबाई का कोई नहीं है इसलिए उसके सभी काम विट्ठल को ही करने पड़ते हैं। नामदेव कहते हैं कि जनाबाई के दरवाजे पर विट्ठल आया है। विट्ठल और जनाबाई मिलते हैं। यह देखकर नामदेव जनाबाई के भाग्य की सराहना करते हैं।'

\* संत त्रिलोचन - (वि. सं. 1324-1392; ई. सन्. 1267-1335)

संत त्रिलोचन नामदेव के समकालीन थे। उनका जन्म वैश्य परिवार में हुआ था। इनका विश्वास था कि राम की कृपा के बिना भवसागर में त्राण संभव नहीं, उन्होंने वाक्याचार तथा जातिगत भेदभाव का विरोध किया। ये संत ज्ञानदेव के शिष्य थे। इनके भी 4 पद श्रीगुरु ग्रन्थसाहिब में संग्रहित हैं।

\* संत चोखामेला- (वि. सं. 13वीं - 14 वीं शताब्दी)-

महागण्ड के संत चोखामेला तथाकथित शूद्र (महार) थे तथा मंगलवेडा नामक स्थान पर रहते थे। रामानुजाचार्य नामक श्रेष्ठ ब्राह्मण आचार्य ने उनकी दीक्षा दी थी। पिछड़ी जातियों के साथ होने वाले दुर्व्यवहार से चोखामेला बहुत दुखी रहते थे। चोखामेला वाराणसी गये तो वहाँ उन्हें पता चला कि संत कबीर तथा भक्त रैदास आदि संत भी शूद्र ही हैं तथा इनकी बहुत प्रतिष्ठा भी वहाँ है। नमिलनाडु के संत नन्दनार भी शूद्र थे साथ ही प्रसिद्ध संत और शिवभक्त भी थे। एक ब्राह्मण के यहाँ खेती का कार्य करते-करते अपने भक्तिभाव के कारण उन्होंने श्रेष्ठता पायी थी।

संत चोखामेला का विवाह महार कन्या सोयराबाई के साथ हुआ था। सोयराबाई भी वैसी ही भक्तिभाव वाली महिला थी। संत चोखामेला ने अपनी जाति के लोगों का स्तर सुधारने के प्रयास प्रारम्भ कर दिये। स्थान-स्थान पर बलिप्रथा भी बहुत थी, इसके विरुद्ध उन्होंने अभियान चला दिया। लोगों ने संत चोखामेला के इन

मुद्रावों का विरोध भी किया। गरीब लोग भी प्रतिदिन स्नान करने स्वच्छ रहे। ईश्वर की आराधना करें तथा शूद्र मार्गिक जीवन चलाएँ। इसके लिए मंत्र चोखामेला प्रयत्नरत थे। मन्त्र चोखामेला नामदेव को अपना गुरु मानते हैं। वे कहते हैं-

“धन्य-धन्य नामदेव। माझानिरसला भेव।  
विट्ठल मंत्र त्रिअक्षरी। खूण सांगितिली निर्धारी।  
दावियले तारुं। चोखा ऋणे माझा गुरु॥”

अर्थात्, धन्य हैं नामदेव जी, आपके कारण मेरा भय-मंशय दूर हो गया। मेरे लक्ष्य के निर्धारण के लिए आपने विट्ठल नामक त्रिअक्षरी मंत्र बनाया है। मेरे को मार्ग दिखाया है। चोखा कहता है कि आप ही मेरे गुरु हैं।

मन्त्र चोखामेला को अपनी जानि के कारण अनेक बार अपमानित होना पड़ता था किन्तु उन्होंने अपने मन में कोई दुर्भावना नहीं रखी। उन्होंने अनेक भजन तथा अभंगों की रचना की। वे कहते थे कि- ‘गन्ने का पौधा टेड़ा-मेड़ा होने पर भी उसके अन्दर का रस तो मीठा ही होता है। नदी टेढ़ी-मेढ़ी ही होती है किन्तु उसका तीर तो कितना सुन्दर होता है। वैसे ही चोखा असूय्य कहा जाता है किन्तु उसका हृदय तो भक्ति-भाव से परिपूर्ण है।’

मन्त्र चोखामेला श्रीरंगम् गये तो वहाँ उन्होंने देखा कि तथाकथित शूद्र कहे जाने वाले भक्त, मरानार नाम्नी का अन्तिम संस्कार ब्राह्मणों ने किया है तथा निरुपान आलवार जो कि शूद्र थे, का उत्सव धूम-धाम से मनाया जा रहा है। इस सब से उनके मन को एक प्रेरणा मिली। यहीं से वे एक विद्वान ब्राह्मण रामानुजाचार्य से दीक्षा लेकर वापस पाण्डुरंग के पास पंढरपुर आ गए। मन्त्र चोखामेला ने अनेक भावपूर्ण, सरस अभंगों की रचना की। मन्त्र जनावार्डे उनके बारे में कहती हैं कि और तो सभी भक्त हैं किन्तु चोखामेला भक्तगज हैं।

चोखामेला पाण्डुरंग की भक्ति में ही भजन गाते रहते थे। धीरे-धीरे उनकी प्रसिद्धि इतनी बढ़ गयी कि ब्राह्मणों ने उनको पंढरपुर में ही सम्मान के साथ रहने की व्यवस्था की। ई. सन् 1339 में दीवाल गिरने के कारण देवकर उनकी मृत्यु हो गई। उनकी अस्थियों को लेकर मन्त्र नामदेव पण्डुरपुर आ गए तथा विट्ठल मन्दिर के मिट्टे द्वारा के निकट उनको समाधि दी। आज भी लोग उन्हें मिर झुकाते समाधि पर जाते हैं। भगवद्भक्ति करने-करने वे मुक्ति पाये।

\*सन्त एकनाथ-(व. संवत् 1590-1656; ई.सन् 1533-1599)

मन्त्र एकनाथ का परिचार विट्ठल का भक्त था। एकनाथ मूल तथैव में पैदा

हुए थे। जीघ्र ही उनके माना-पिता गुजर गये। 12 वर्ष की आयु में जनार्दन स्वामी के पास देवगढ़ चले गये। वहाँ प्रतिदिन नियम पूर्वक जालेखरी का पाठ होता था। एक बार हिमात्र में एक पाई की भूल हो गयी। सभी क्रुद्ध छोड़ कर हिमात्र मिताने में लग गये। जनार्दन स्वामी ने कहा एक पैसा मिलने पर इनने प्रमत्त हो ईश्वर मिलेगा नव किता युग होगे। जनार्दन स्वामी ने एकनाथ को श्रीकृष्ण की उपामना करने का आदेश दिया।

गधे में भी वहीं विट्ठल है - मन्त्र एकनाथ रामेश्वरम् की तीर्थयात्रा पर निकले थे। साथ में प्रयाग में गंगाजल लिखी था। उक्त दिनों यह मान्यता थी कि यदि गंगाजल लेकर रामेश्वरम् में चढ़ायेँगे तो मुक्ति मिलेगी। इसी उद्देश्य से मन्त्र एकनाथ गंगाजल लेकर रामेश्वरम् जा रहे थे। मार्ग में प्यास से तड़पता गध्रा मिला और मन्त्र एकनाथ ने प्रभु का स्मरण कर मारा गंगाजल उमी को पिला दिया। एकनाथ गाते जा रहे थे - विट्ठल-विट्ठल। उनको उस गधे के अन्दर भी विट्ठल का ही अंश दीव्य रहा था। एकनाथ को यह दृढ़ विश्वास था कि सभी के अन्दर उमी परमात्मा का अंश होता है तथा गधे को पिलाया गया गंगाजल भी परमेश्वर को ही समर्पित हुआ है।

महारों को घर में बैठाकर भोजन - मन्त्र एकनाथ रामेश्वरम् का लक्षण है कि वह सभी प्राणियों में उमी सर्वशक्तिमान् प्रभु के अंश का दर्शन करे। एकनाथ के लिये तो सभी प्रभुस्वरूप ही थे। किसी भी प्रकार का जानिभेद वे नहीं मानते थे। पिता का श्राद्ध था, भोजन की गन्ध बाहर भी जा रही थी। बाहर में जा रहे महारों को लगा अच्छा भोजन बन रहा है, हमको तो मिलेगा नहीं। मन्त्र एकनाथ ने सभी को बुलाकर प्रेमपूर्वक बैठाया और अपनी पत्नी को भोजन करने को कहा। सभी ने तृप्त होकर भोजन किया। उक्त महार लोगों के परिचार के वच्चों को भी बुलाकर भोजन कराया। ब्राह्मणों को जब पता चला कि हमसे पहले महारों को और उनके परिचारीजनों को भोजन कराया गया है तो वे अप्रमत्त होकर चले गये और श्राद्ध के भोजन का बहिष्कार कर दिये। मन्त्र एकनाथ जी ने ब्राह्मणों द्वारा भोजन के बहिष्कार की कोई चिन्ता नहीं की।

मन्त्र एकनाथ के समय मुस्लिम अन्याचारों से हिन्दू जनता बुरी तरह द्रमन थी। मुसलमान लोग हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के प्रयास कर रहे थे। मन्त्र एकनाथ मुसलमानों के पाखण्ड का वर्णन करने हैं तथा हिन्दुओं के आत्मविश्वास को बढ़ाने हैं -

“खुदा माझा पश्चिमे कडे, येरे अवघे का ओस पडे।  
पाँच वक्त खुदा चे झाले, बाकी वक्त काय चोरी नेले ॥  
तुमचे शास्त्र तुम्ही भुललेले, देवासी केले एक देशी ॥  
अम्हासी म्हणता पूजिता फत्यरे, तुम्ही का ठेविता प्रेतावर फुले ॥”  
अर्थात्, ‘तुम्हाग खुदा पश्चिम की ओर है तो अन्य दिशाओं में क्या ओस पड़ती है? पाँच वक्त नमाज पढ़ने हो जेप समय क्या किमी ने चुग लिया है? तुम्हारे शास्त्रों में यह क्या भूल हुई है? भगवान् को केवल एक देश में क्यों बना कर रखा है? हमसे कहते हो कि हम पत्थर पूजते हैं किन्तु तुम मजार पर फूल क्यों चढ़ाते हो?’ मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के विरोध में एकनाथ कहते हैं-

“हिन्दुना करता खुदा चुकला, त्याहुनी थोर तुमच्या अकला ॥

हिन्दुस मुसलमान के ला, गुन्हा लावियला देवासी ॥”

अर्थात्, ‘भगवान् ने हिन्दुओं को बनाकर क्या गलती की है? क्या तुम्हारे पास भगवान् से अधिक अकल है? हिन्दुओं को मुसलमान बनाकर तो तुमने भगवान् के ऊपर ही दोष मढ़ दिया है।’

जनभाषा में अभंगों की रचना - संत एकनाथ ने मगठी में आध्यात्मिक विचारों को निबकर जन माधारण तक पहुँचा दिया। संत एकनाथ ने जो भागवत लिखा है वह एकनाथी भागवत के नाम में प्रसिद्ध हो गया तथा महाराष्ट्र के घर-घर में उसकी प्रतियाँ मिलनी हैं।

✽ भक्तिन कान्होपात्रा - (ई० सन् 16 वी० शताब्दी)

कान्होपात्रा महाराष्ट्र की सन्त परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। कान्हो की माँ नृत्य करती थीं तथा उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं थी।

एकबार भक्तों की शैली भजन गाने हा पण्डुरगु जा रही थी। कान्होपात्रा को बहुत सुन्दर लगा और उमने पूछा क्या आप हमको भी पण्डुरगु के लिये साथ ले चलेंगे? क्या आपके पाण्डुरंग मुझको स्वीकार कर लेंगे? भक्तों ने कहा क्यों नहीं, पाण्डुरंग तो सभी के हैं, आप भी चलिए न। कान्होपात्रा भी पण्डुरगु आ गयी। पाण्डुरंग के चरणों में मापटांग प्रणाम कर भक्तिभाव में कान्होपात्रा वहीं रहने लगी। भक्ति के अभंग बनाना तथा गाना। कान्होपात्रा की सुन्दरना तथा भक्ति की चर्चा वीरर के मुस्लिम नवाब के पास भी पहुँची। नवाब ने कान्होपात्रा को अपने हरम में रखने के लिए बुलाया किन्तु कान्होपात्रा के मना करने पर वह क्रोधित हो गया

और जबरदस्ती ले जाने के लिये मैनिक् भेज दिये। कान्होपात्रा पाण्डुरंग की शरण में जाकर भक्ति के अभंग गानी रही। कहते हैं कि गाने-गाने कान्होपात्रा प्रभु के विग्रह में ही समा गई और वैकुण्ठ की प्रस्थान कर गई। मन्दिर के बगल में ही कान्होपात्रा की समाधि बनायी गयी है। महाराष्ट्र में वारकरी सम्प्रदाय के लोग भक्तिभाव में वेण्या-पुत्री कान्होपात्रा के अभंग गाते हैं।

✽ कवि हृदया ब्रह्मणाबाई - (वि०स० 1620-1700; ई.सन् 1563-1643)

ब्रह्मणाबाई का जन्म औरंगाबाद में हुआ था। संत ब्रह्मणाबाई ब्राह्मण थीं किन्तु उन्होंने संत तुकाराम को गुरु स्वीकार किया। यद्यपि लोगों ने विरोध किया किन्तु वे अडिग रहीं। संत ब्रह्मणाबाई ने विपुल भक्ति-साहित्य लिखा है। सभी लोगों को साथ लेकर चलने का मंत्राल्य लेने वाली ब्रह्मणाबाई ने लोकोद्धार की ही जीवन वा उद्देश्य बनाया। इन्होंने सुन्दर भजनों की रचना की। प्रतिवर्ष सैकड़ों लोगों को साथ लेकर पंढरी की वारी करने पैदल जाती थीं। संतों का साथ तीर्थ-यात्रा की तरह है, संतों का संग मंत्रसिद्धि है, संतों का संग ही ज्ञान है तथा संतों के संग से मन स्थिर होता है-

“संत संगे तीर्थ, संत संगे श्वेतम, संत संगे मंल सिद्धि जोडे।

ब्रह्मणि म्हणे संत संगे जोडे ज्ञान, संत संगे मन स्थिर होय।”

✽ सन्त शिरोमणि तुकाराम - (वि.सं. 1665-1706; ई.सन् 1608-1649)

संत शिरोमणि तुकाराम का जन्म पूना के निकट देहू में हुआ था। यह स्थान आलन्दी में केवल 7 कि० मी० दूर है। संत तुकाराम कुनबी जाति के थे तथा घर में व्यापार का कार्य होता था। कुनबी जाति में जन्म लेने के क्या लाभ हैं ऐसा गिनाने हुए स्वयं तुकाराम कहते हैं, हे ईश्वर-

“बरा कुनबी कैलों। नाही तरी दंभे अमतो मेलों ॥

शुद्र वंशी जन्मलो। म्हणोंनि दंभे मोकलिलों ॥

घोकाया अक्षर। मज नाही अधिकार ॥

याति शुद्र, वैश्य कैला व्यवसाय ॥”

(महाराष्ट्र की संत परंपरा, पृ. 85)

अर्थात्, ‘हे ईश्वर तुमने टीक ही किया कि मेरे को कुनबी (शूद्र) बनाया नहीं तो मैं अहंकार में मर जाता। शूद्रवंश में जन्म लेने के कारण अहंकार से तो मुक्त हो गया हूँ। वेदशास्त्र के अक्षरों (उन्मोको) को पढ़ने का तो मेरा अधिकार

नदी है इसलिए शूद्र-वैश्य के कार्य में मैं लग गया हूँ।

**विठोबा के भक्त** - संत तुकाराम का परिचार पंढरपुर के विठोबा का भक्त था। समय-समय पर परिवार सहित सभी लोग पंढरपुर की तीर्थयात्रा करने जाते थे। माता-पिता की मृत्यु के बाद व्यापार चलाने की बहुत कोशिश की किन्तु भक्ति में रुचि के कारण व्यापार में मत नहीं लगा। व्यापार के बही-खाते, कागज आदि सभी कुछ इन्द्रायणी नदी को समर्पित कर वे भगवद्भक्ति में लग गये। अमंग विवना और उनको भक्तों के मध्य बैठकर स्वर सहित गाना, इसी में इनका मत लगा रहता था। अपने गुरु के बारे में तुकाराम कहते हैं कि वे स्वप्न में आये थे और मेरे मिर पर हाथ रखकर मुझको अपना शिष्य बनाया है। अब तुकाराम ने नामदेव, जानदेव के भजन गाने प्रारम्भ कर दिये, सीता और भागवत का अध्ययन करना और गाना यही जीवन का क्रम बन गया।

**अभंगों की पोथी इन्द्रायणी नदी को समर्पित** - मैकड़ों वर्ष मे धर्मशास्त्रों को संस्कृत में लिखने की ही परंपरा थी। इस कारण जब लोकभाषा में इन धर्मशास्त्रों एवं ईश्वरस्तुति का लेखन प्रारंभ किया तब-तब रूढ़िवादी लोगों ने इसका विरोध किया। स्वामी रामानन्द, संत ज्ञानेश्वर, गोस्वामी तुलसीदास आदि संत लोग पहले ही लोकभाषा में शास्त्रों को लिखने के कारण भारी विरोध एवं प्रताड़ना का सामना कर चुके थे।

सगठी में लिखे अभंगों का ब्राह्मणों द्वारा विरोध किये जाने पर संत तुकाराम ने अभंगों की पोथी को इन्द्रायणी नदी में प्रवाहित कर दिया। उसके बाद भी चौदह दिन तक उसी नदी के तट पर बैठे साधना करने रहे। कहते हैं चौदह दिन बाद वह पोथी पुनः वापस मिल गयी।

संत तुकाराम कहते हैं कि एक दिन बाबाजी चैतन्य ने मेरे कान में कहा- **“रामकृष्ण हरि”** और कहा कि इसका नित्य जाप किया करो। अगले ही मास भगवान् विठ्ठल स्वप्न में आए। उन्होंने कहा- ‘तुकाराम अब तुम्हें लोगों को समझाना होगा, उनका मार्गदर्शन करना होगा। देखो कैसे भटक रहे हैं, गढ़े में गिर रहे हैं, आत्मनाश कर रहे हैं। क्या तुम इन्हें इसी घृणास्पद अवस्था में पड़े रहने दोगे? जिसे भी दृष्टि प्राप्त है उसका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह किमी अंधे को गढ़े में न गिरने दे। कुछ दिनों बाद भक्त नामदेव उनके स्वप्न में आए। नामदेव जी ने कहा- ‘सर्वत्र भक्ति मार्ग का प्रसार करने की मेरी इच्छा थी, इसी हेतु मैं शतकोटि अभंग लिखना चाहता था किन्तु मेरी इच्छा वैसी ही रह गई। मैं चाहता हूँ कि उम कार्य

को तुम पूरा करो। मैं तुम्हें आजीर्वाद देता हूँ। अभंग लिखो, विपुल मध्या में लिखो, मामान्य जनों की समझ में आवे, उनके मन में ईश्वरभक्ति पैठे पड़े। मैं तुम्हें तुकाराम जी ने कहा, ‘महाराज आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।’ अब तुकाराम बड़े ही उन्माद के साथ अभंग लेखन के कार्य में लग गए। इस कार्य में उनका सहयोगी था उनका बालकपुत्र का मित्र, नाम था-संताजी जगनोडे।

अपाठ मास अर्ध-पूर्णाश्वी के दिन पंढरपुर तथा आणंदी में भक्तों का विराट् भगमाम होना है। मीलों दूर से लोग पैदल चलकर आते हैं। मंच बनाकर चलते हुए लोग भगवत स्वर में कीर्तन गाने चलते हैं। उनके कीर्तन-भजन का ‘मुख स्वर’ होता है- ‘जानवा-तुकाराम, जानवा-तुकाराम’। अर्थात् संत ज्ञानेश्वर (जानवा) और संत तुकाराम को वे ईश्वर (विठ्ठल) के समकक्ष मानते हैं। इसलिए जानावाई लिखती है-

“संतकृपा झाली। इमारत फल आली।  
ज्ञानदेव रचिला पाया। उभारिले देवालया।  
नामा त्याचा किंकर। तेणे केला हा विस्तार।  
जनार्दन, एकनाथ। खांब दिल भागवत ॥  
तुका झाले कलस। भजन करा सावकाश ॥”

(महाराष्ट्र की संत परंपरा, पृ. 84)

अर्थात्, ‘संतों की कृपा से वाग्दगी संप्रदाय का यह मन्दिर खड़ा हुआ है जिसकी नींव ज्ञानेश्वर ने डाली है। नामदेव ने पत्थर बनाकर उसे मजबूती प्रदान की है। जनार्दन और एकनाथ ने ‘भागवत’ रूपी स्तम्भ का आधार प्रदान किया है। तुकाराम ने इस मन्दिर का कलश बनकर इस संप्रदाय को पूर्णता प्रदान की है अब आप मुख में भजन कर लो।’ इस प्रकार भजन में तुकाराम की महत्ता कलश के रूप में स्थापित की गई है। इसलिए संत तुकाराम को वाग्दगी संप्रदाय में संतशिरोमणि कहा जाता है।

एक बार का प्रसंग है कि छत्रपति शिवाजी महाराज के पीछे मुसलमानों की सेना पड़ी थी तथा शिवाजी वचने के विण उपयुक्त स्थान ढूँढ़ रहे थे। निकट ही संत तुकाराम का कीर्तन चल रहा था- ताल-मृदंग- ढोल-मजीरे के साथ-साथ राम-कृष्ण हरि के संकीर्तन की गूँज- ऊँचे स्वर में उठ रही थी हजारों लोग बैठे थे। शिवाजी महाराज भी इन्हीं के साथ मिलकर बैठ जाते हैं। अब म्नेच्छों से शिवाजी को बचना भी है, यह दार्ष्टान्त्य संत तुकाराम के ऊपर आ गया। संत

तुकाराम विष्णु को पुकारने लगे। वे कहते हैं हे प्रभु वचाओ-वचाओ, एक क्षण की भी देगी मन करे-

“न देख वे डोला ऐसा हा आकांत। परपीड़े चित्त दुःखी होतें ॥  
भीत नाहीं आतां आपुल्या मरणां। दुःख होते जना न देखवे ॥  
भजनी विक्षेप तेचि पें मरण। नवजाया क्षण वार्यां ॥  
तुका म्हणे नाहीं आघाताचा वारा। ते स्थली दातारा ठाव मागे ॥”

(महागष्ट्र की संत परंपरा, पृ. 91)

अर्थात्, ‘हे विट्ठल इन आँवों से दूसरों का दुःख देवा नहीं जाता। मैं अपनी मृत्यु से भयभीत नहीं हूँ, दूसरों का कष्ट कैसे दूर हो इसकी चिंता है। कीर्तन-भजन में विक्षेप आना मरणतुल्य है। हे दयालु इस अपत्ति को दूर करो। आने में एक क्षण की भी देगी मत करो। तुकाराम कहता है कि यह जो संकट की आँधी आई है उसको दूर करने के लिए हे विट्ठल हम आपसे सहायता की शरण-स्थली माँगते हैं।’ इस भजन के अर्थ को शिवाजी और उनके साथी लोग भली प्रकार समझ रहे थे।

शिवाजी स्वयं तुकाराम का भक्त बनना चाहते थे - कहते हैं एक बार शिवाजी महाराज ने तुकाराम के पास बहुत सोना-आभूषण आदि भेंट में भिजवाया किन्तु तुकाराम ने श्रद्धापूर्वक सभी कुछ वापस कर दिया और लिखकर भेजा-  
“आम्ही तेणे सुखी। म्हणा विट्ठल विट्ठल सुखी ॥”

(वही, पृ. 91)

अर्थात्, ‘आपके इस धन से मेरे को कोई सुख नहीं मिलेगा। आप सुख में विट्ठल-विट्ठल कहें उसी से मेरे को सुख मिलेगा।’ शिवाजी सब कुछ छोड़कर भक्तिभाव से ही तुकाराम के साथ रहना चाहते थे किन्तु तुकाराम निवृत्ति मार्ग के सन्त थे अतः उन्होंने शिवाजी को कहा आप जो कर रहे हैं वही आवश्यक है और परामर्श के लिये समर्थगुरु रामदास को मिलने को कहा। समर्थगुरु रामदास नो प्रवृत्तिमार्ग के सन्त थे और “मारिता-मारिता ध्यावें राज्य आपुलें” अर्थात्- ‘मार्गने-मार्गने अपना राज्य प्राप्त करें’ वाली नीति में विश्वास करते थे। समर्थगुरु रामदास ने शिवाजी का योग्य मार्गदर्शन किया। सगुण भक्ति के उपासक संत तुकाराम का कहना था कि भक्ति तो मर्मपण की सर्वोच्च स्थिति है। भक्ति तो मुक्ति से भी उच्च है।

जातिगत भेदभाव में कोई विश्वास नहीं - संत तुकाराम ने जाति की कभी

कोई चिन्ता नहीं की। वे स्वयं शूद्र कहलाते थे किन्तु भक्तिभाव के कारण सभी जातियों के भक्तगण उनके पास आते थे। वे जहाँ जाने वहीं मेला लग जाता था। उनका कहना था - ‘इश्वर प्राणि में जाति का कोई स्थान नहीं है। वेद-शास्त्रों का भी यही कहना है कि इश्वर की सेवा में जाति महत्वहीन है। जो ब्राह्मण हरिस्मरण की चिन्ता नहीं कर पाता वह ब्राह्मण कहलाने के कतई योग्य नहीं है वहीं निम्न जाति का कहलाने वाला व्यक्ति प्रभु से प्रेम करता है वह सच्चा ब्राह्मण है। सभी जातियाँ उसी एक ब्रह्म में ही निकली हैं।’ अपने मनोगत भक्तिभावों को सुन्दर ढंग से तुकाराम रचते हैं- “मैं, इश्वर को धन्यवाद देता हूँ कि उसने हमको विद्वान ब्राह्मण नहीं बनाया। क्योंकि वह तो अबोध लोगों को विद्वानों की तुलना में अधिक प्यार करता है और हमारी असहाय स्थिति में हमारा अधिक संरक्षण भी तो करता है।” वर्तमान में उपलब्ध तुकाराम की गाथा नामक ग्रंथ में पांच हजार से अधिक अंश हैं। इसको मराठी भाषा का वेद कहा जाता है। मात्र 41 वर्ष की आयु में ही संत तुकाराम चले गये। उनका यही संदेश रहा - “जय-जय रामकृष्ण हरि का जप करो, विट्ठल-विट्ठल, पाण्डुरंग-पाण्डुरंग ही सबका सहारा है।”

\* श्री समर्थगुरु रामदास (वि.सं. 1665-1739 ; ई.सन् 1608-1682)

समर्थ गुरु रामदास विश्व के महानतम सन्तों में एक हो गये हैं। महाराष्ट्र में गोदावरी के निकट जांब नामक स्थान पर इनका जन्म हुआ। वे बचपन से ही गम और हनुमान के भक्त थे। विवाह के समय पुरोहित द्वारा सावधान कहते ही घर छोड़कर भाग खड़े हुए।

अखण्ड साधना - श्री समर्थगुरु ने नासिक में गोदावरी के तट पर बारह वर्ष तक कठोर साधना की। प्रातः काल से दोपहर तक कमर तक जल में खड़े होकर गायत्री मन्त्र का पाठ करते थे। राममन्त्र पुरश्चरण “श्री राम जय राम जय जय राम” नामक मन्त्र का उन्होंने तेरह करोड़ बार स्मरण किया। इसके पश्चात् देश के विविध तीर्थस्थलों के भ्रमण के लिये वे निकल गये। समर्थ गुरु रामदास पण्डुरगुर आये तो उनको वहाँ भी गम ही दिखलाई दिये। यहीं पर उनकी भेंट तुकाराम में हुई। उस समय देश की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थिति को देखकर उनको बहुत दुःख हुआ। समर्थगुरु रामदास को ऐसा लगा कि स्वयं प्रभुराम शिवाजी की सहायता करने का आदेश कर रहे हैं।

जातिगत भेदभाव का विरोध - जातिगत भेदभाव के कारण समाज का एक बड़ा वर्ग अपमानित होकर कष्ट पाता था। समर्थगुरु रामदास ने इस प्रकार के

भेदभाव को सभी दृष्टि से त्याज्य माना तथा इसके विरोध में वे समाज जागरण करने लगे। समर्थगुरु ने दामबोध में मिद्वान्त रूप से यह बात प्रतिपादित की कि सभी के अन्दर एक ही ब्रह्म है। वे कहते हैं-

“ब्राह्मणाचे ब्रह्म ते सोवले। आणि शूद्राचे ब्रह्म ते ओवले।

ऐसे वेगले आगले। तेथे असेची ना।।

उंच ब्रह्म रायासी। नीच ब्रह्म परिवारासी।

ऐसे भेद तयापासी। मुलीच नाही।।”

(लोकनायक समर्थगुरु रामदास, पृ० 93)

अर्थात्, ब्राह्मण का ब्रह्म पवित्र होता है और शूद्र का ब्रह्म अपवित्र, ऐसा भेदभाव ब्रह्म के बारे में नहीं किया जा सकता। राजा का ब्रह्म ऊँचा तथा प्रजा का ब्रह्म नीचा ऐसा भेद बिलकुल नहीं किया जा सकता। समर्थ गुरु रामदास, मनुष्य मात्र में ईश्वर के अस्तित्व को देखते हैं तथा जाति और वर्ण के नाम पर किये जाने वाले सभी भेदभावों को अमान्य कर देते हैं-

“भेटो कुणी येक नर। धोंड महार चांभार।

त्याचे राखावे अंतर। या नाव भजन।”

(वही, पृ० 94)

अर्थात्, धेंड, महार चांभार (हरिजन जातियाँ) आदि में से कोई भी व्यक्ति मिले, प्रत्येक के हृदय को संभालने का नाम ही तो भजन है। वाकरी सम्प्रदाय में एक महार जाति के संत थे उनका नाम है संत चोखामेला, समर्थगुरु रामदास कहते हैं-

“अनाथांचा नाथ रे। त्याला कैसी जात रे।

चोखामेला संगे जेवी। जेवी दही-दूध-भात रे।”

(वही, पृ० 94)

अर्थात् ‘अनाथों के नाथ (भगवान्) की कोई जाति नहीं है। वह तो चोखामेला के साथ दही-दूध-भात का भोजन करता है।’ एक अन्य स्थान पर समर्थ गुरु रामदास जाति की निरर्थकता को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

“रामी रंगले मन। असो नीच जाती।

त्यांच्या चरणांची। वंदीन मी माती।”

(वही, पृ० 94)

अर्थात्, ‘भले ही उसकी जाति नीची क्यों न हो किंतु उसका मन तो राम के रंग में रंग गया है। ऐसे व्यक्ति के चरणों की धूलि को पवित्र मानते हुए हैं मैं उसे वंदन करता हूँ।’

अस्पृश्यों को भोजन एवं दक्षिणा-समर्थगुरु रामदास जी ने रामनवमी के प्रसंग पर चाफन क्षेत्र के निकट भोगवाडी नामक गाँव के एक सहस्र अस्पृश्य कहे जाने वाले दम्पनियों को आमंत्रित किया। उन्हें मांड नदी में स्नान करने के पश्चात् उन सभी की पादपूजा की। पुरुषों को धोती तथा उपरना दिया और स्त्रियों को मांडी तथा चोली दी। सभी को सम्मान के साथ भोजन कराया और दक्षिणा दी। उस समय यह एक बड़ी भारी क्रांति थी। गिरधिर स्वामी ने समर्थ प्रताप में इसका चित्रात्मक शैली में वर्णन किया है। इसका सन्देश यह था कि दक्षिणा पाने का अधिकार सभी को है। समर्थगुरु रामदास का मानना था कि भक्तिमार्ग पर चलने वाले प्रत्येक व्यक्ति को परमात्मा की प्राप्ति होगी। वे कहते हैं-

“चहुंवर्णा नामाधिकार। नामी नाही लहान थोर।

जडमूढ पैलपार। पावती नामें।।”

(वही, पृ० 96)

अर्थात्, ‘चारों वर्ण के लोगों को नामस्मरण का अधिकार है। नामस्मरण के लिए कोई छोटा या बड़ा नहीं होता। मूढ़ तथा अज्ञानी भी नाम के सहारे भवसागर लाँघ सकते हैं।’ समर्थ रामदास जी ने ऊँच-नीच के लिए एक ही कसौटी बतलाई है और वह है उसके कर्म। अतः वे कहते हैं कि-

“श्रेष्ठ कर्म करी तो श्रेष्ठ। कृत्रिम करी तो कनिष्ठ।

कर्मनुसार प्राणी नष्ट। अथवा

भले ॥”

(वही, पृ० 96)

अर्थात्, ‘अच्छे कार्य करने से व्यक्ति श्रेष्ठ तथा बनावटी करने से मनुष्य निकृष्ट होता है। कर्म के अनुसार ही मनुष्य गिर जाता है या ऊँचा उठता है।’ समर्थगुरु रामदास कहते हैं कि यह कैसी पवित्रता है जो स्पर्श मात्र से ही अपवित्र हो जाती है?

“ऐसे कैसे है सोवले। शीवता होत से ओले।।”

(वही, पृ० 97)

अर्थात्, ऐसी कैसी है तुम्हारी यह पवित्रता जो किसी के स्पर्श मात्र से ही अपवित्र हो जाती है। समर्थ गुरु कहते हैं कि ऊँच-नीच के सभी भेदभावों को मिटाकर सभी को हृदय से प्यार करो। इसी से सभी का भाग्योदय होता है-

“उंच नीच म्हणों नये। सकलांची निववावे हृदये।

राणावी बहुतांची अंतरे। भाग्य येतें तद नंतरे॥”

(वही, पृ० 97)

अर्थात्, 'किमी को ऊँचा या नीचा नहीं करना चाहिए। सभी लोगों के हृदय को जीतिये, बहुत लोगों के अंतर्गत में रहिए अर्थात् उनमें प्रेम बड़ाइए, उमी के कारण भाग्योदय होगा।'

देश को मुक्त कराने का प्रयास- समर्थ रामदास ऐसे मन्त्र हैं जिन्होंने इस्लाम के आतंक से देश को मुक्त कराने का योजनाबद्ध प्रयास किया है। प्रथम चरण में उन्होंने कृष्णा नदी के उद्गम महाबलेश्वर में वीर हनुमान मन्दिर बनाया, मठ स्थापित किया और धीरे-धीरे ग्यारह बड़े मठ और हनुमान मन्दिर स्थापित कर दिये। आगे चलकर पूरे महाराष्ट्र में हजारों हनुमान मन्दिर और अखाड़ों की स्थापना समर्थगुरु ने कर दी।

समर्थगुरु रामदास के समय सम्पूर्ण देश में मुसलमानों के भीषण अत्याचार जारी थे। अधिकांश स्थानों की सत्ता मुसलमानों के हाथ में ही थी। समर्थगुरु रामदास तो भक्ति जगाते हुए मुसलमानों से अपना राज्य वापस लेने के कार्य को भी ईश्वर का कार्य ही मानते हैं। वे कहते हैं-

“देव मस्तकी धरावा। अवघा हल कल्लोल करावा।

मुलुखबडवावा कि बुडवावा। धर्मस्थापनेसाठी॥”

(वही, पृ० 191)

अर्थात्, 'परमेश्वर को सिर पर धारण करते हुए चारों ओर से हो हल्ला मचाओ (युद्ध छेड़ दो) और धर्म की स्थापना के लिए जो हमारे देश को तबाह करने वाले हैं ऐसे मुसलमान शासकों पर टूट पड़ो। अपने स्वराज्य की स्थापना धर्म का कार्य है। अतः इसके लिये प्राणों की आहुति देने से डरो नहीं। वे कहते हैं-

“धर्मकारिता मरावे। मरोनि अवघ्यांसी मारावे।

मारितां मारितां घ्यावे। राज्य आपुले॥”

(वही, पृ० 191)

अर्थात्, 'धर्मस्थापना हेतु मरने को तैयार रहो। मारते-मारते मृत्यु का वर्ण करो और अपने स्वराज्य की स्थापना करो। विजय अपनी ही होगी ऐसा विश्वास दिलाते हुए वे सभी ईश्वरभक्तों को आह्वान करते हैं-

“देशद्रोही तितुके कुत्ते। मारोनि घालावे परते।

देवदास पावती फत्ते। यदर्थी संशयो नाही॥”

(वही, पृ० 192)

अर्थात्, 'जितने भी देशद्रोही हैं वे सभी कुत्ते हैं। उनको मारने वाले देवदास अर्थात् ईश्वरभक्तों की विजय अवश्य होगी, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं।'

रामनवमी महोत्सव - मारे हिन्दू समाज को एक करने के उद्देश्य से समर्थ गुरु रामदास ने रामनवमी के बड़े-बड़े उत्सव प्रारम्भ किये जिसमें श्रीगम का रथ निकलता था तथा सभी जातियों के लोग उत्साह से भाग लेते थे।

बड़ी संख्या में शिष्य - समर्थगुरु रामदास सारे देश में हिन्दू समाज के अन्दर एक जागृति और संगठन लाना चाहते थे। उन्होंने अपनी विशाल शिष्य परम्परा में लगभग ग्यारह सौ शिष्यों को महत बनाया, इनमें तीन सौ महिलाएं भी थी। ये सभी देश भर में फैल गये और स्थान-स्थान पर जाकर हिन्दू समाज को संगठित करने का प्रयास करने लगे। इनके नेतृत्व में एक हजार से अधिक मठ स्थापित हुए तथा इन मठों में जातिगत भेदभाव को कोई स्थान नहीं था। तंजावुर से लेकर काश्मीर तक समर्थ रामदास द्वारा स्थापित मठ, अखाड़े तथा मन्दिरों की सशक्त श्रृंखला ने शिवाजी महाराज को बहुत सहयोग किया। शिवाजी महाराज के पुत्र राजाराम जब महाराष्ट्र छोड़ कर दक्षिण में गये तब तंजावुर मठ के कारण ही वे औरंगजेब से बीस वर्ष तक संघर्ष करते रहे।

साहित्य रचना - हिन्दू समाज के लिये आवश्यक अनेक विषयों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने दासबोध, करुणाष्टक तथा रामायण के सुन्दरकाण्ड तथा युद्धकाण्ड की रचना की।

समर्थगुरु रामदास ने सामाजिक संगठन खड़ा करने का सुन्दर प्रयास किया। हजारों कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित किया। उनका संदेश था कि सभी के अन्दर प्रभुराम का वास है, सभी से प्रेम करें। जातिगत भेदभाव करने का अर्थ है कि प्रभुराम के अस्तित्व को ही न मानना। अनेक पिछड़ी कही जानी वाली जातियों को संगठित कर शिवाजी महाराज के साथ लाकर खड़ा किया।

\* मठाधिपति वेणास्वामी (वेणाबाई)-(वि.सं. 17वीं शताब्दी)

महिला संत वेणाबाई का जन्म कोल्हापुर में हुआ था। ग्यारह वर्ष की आयु में इनका विवाह हुआ तथा इसी वर्ष वे विधवा भी हो गईं। धार्मिक कार्यों के प्रति उनकी भक्ति बढ़ती चली गयी। उन्होंने धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन गम्भीरता से किया। एकबार स्वामी रामदास जी भिक्षा माँगते आये तभी से वेणाबाई ने उनको गुरु रूप में स्वीकार कर लिया। तरुणी विधवा स्त्री, तरुण संन्यासी से वार्ता करती है ऐसा जानकर लोगों ने बहुत बुरा-भला कहा। आगे चलकर रामदासी बनकर

गृहत्याग किया। समर्थगुरु रामदास जी की आज्ञा से कीर्तन करना प्रारम्भ किया। उस समय के अनुसार यह एक महान क्रांति थी। चाफल क्षेत्र में अष्टमी के दिन कीर्तन करने का दायित्व वेणाबाई का ही था। स्त्री और वह भी विधवा, उसका कीर्तन, यह तो समाज के लिए निन्दनीय था। एक दिन एक गायक 'जयपत्र' लेने की दृष्टि से समर्थगुरु के पास आया। समर्थगुरु की आज्ञा से कल्याण ने गायन प्रारम्भ किया। सुनते-सुनते ही वे सुध-बुध खो गए। उनके शिष्य समर्थगुरु को प्रार्थना करने लगे कि वे उनके गुरु की चेतना लौटा दें। तब समर्थगुरु ने वेणाबाई को बुलाकर गीत द्वारा उनकी मूर्छना दूर करने को बताया। वेणाबाई ने अतिमुन्दर भजन गाया। उसकी मूर्छना दूर हुई। अज्ञान, अहंकार, मोह दूर हुआ।

वि० सं० 1655 में समर्थगुरु रामदास जी ने राम पंचायतन की स्थापना की। मरीचि ऋषि की तपोभूमि मीरज के मठाधिपति का दायित्व विधवा महिला वेणाबाई को सौंप दिया। उनको कहा 'वेणाबाई, आप राममय बन गई हैं। रामधन प्रसाद के रूप में बाँटिये। ज्ञान-दान करिए, शक्ति की प्राण-प्रतिष्ठा करिए और राष्ट्रधर्म जगाइये'। उस समय की सामाजिक परिस्थितियों में यह एक अद्भुत समाज परिवर्तन का सूत्रपात था। वेणाबाई अब मठाधिपति वेणास्वामी हो गई थी। समर्थ गुरु ने आज्ञा दी कि अब वे सरल भक्तियुक्त-प्रांजल भाषा में रामकथा का गायन करें। समर्थगुरु की आज्ञा से उन्होंने प्रथम काव्य लिखा सीता स्वयंवर। दोपहर में काव्य लिखकर शाम को सबको सुनाया जाता था। इसके पश्चात् रामकथा छंदोबद्ध की। इनका संप्रदाय वेणा संप्रदाय नाम से विख्यात है। छत्रपति शिवाजी द्वारा राज्य स्थापना के समय यह मठ महान आधार बना। वेणास्वामी ने अपने मधुर व्यवहार द्वारा आस-पास के लाखों लोगों को भक्तिभाव से जोड़ा। उनके यहाँ जातिगत भेदभाव को कोई स्थान नहीं था।

★ सन्त गाडगे महाराज - (वि.सं. 1933-2013; ई० सन्-1876-1956)

संत गाडगे महाराज का जन्म महाराष्ट्र में अमरावती जिले में हुआ था। परिवार में कपड़े साफ करने का कार्य होता था और सभी लोग पाण्डुरंग के भक्त थे। गाडगे महाराज के समय छोटी जातियों में शराब पीने तथा पशुबलि देने की परम्परा थी, इसके कारण अपने विकास की इच्छा भी उन लोगों के मन में नहीं उठती थी।

**सामाजिक सुधार का आह्वान** - गाडगे महाराज ने बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया। ईश्वर, शराब और बलि से क्यों प्रसन्न होगा? इस प्रकार आग्रह करते हुए लाखों लोगों की शराब छुड़वा दी तथा बलि-प्रथा से उन्हें दूर किया।

द्वेज के विरोध में भी वातावरण तैयार किया।

मंत गाडगे महाराज नीर्यावाओं में जाते थे तो प्रभु का भजन करने थे। गोविन्दा-गोपाला-भजन करने-करने सभी को साथ लेकर चलते रहते। जहाँ जाते वहाँ स्वच्छता का काम अपने हाथ में ले लेते थे। अनाथ बच्चों के लिये अनाथालय, नीर्यात्रियों के लिये धर्मशालाएँ, निरक्षरों के लिये विद्यालय, गरीब लड़कियों के विवाह की व्यवस्था-अकाल-पीड़ितों तथा निर्बल-विकलांगों के लिये भोजन की व्यवस्था जुटाते थे। पीने के पानी का प्रबन्ध करने हेतु उन्होंने धनी लोगों को प्रोत्साहित किया। पशु-हत्या न हो इसके लिये उन्होंने प्रयास किये तथा गौहत्या रोकने के लिये कसाई में गाय छुड़ाने का कार्य भी सैकड़ों बार किया। नासिक, मुम्बई, अमरावती आदि स्थानों पर धर्मशालाएँ तथा भजन-कीर्तन के केन्द्र स्थापित किये।

सन् 1950 में काँग्रेस का अधिवेशन नासिक में हुआ तो शौचालय स्वच्छ करने की व्यवस्था अपने स्वयं संभाली। सन्त प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी के आश्रम में जब कभी वे प्रयाग जाते थे तो वहाँ गंगातट तक स्वच्छता स्वयं संभाल लेते थे। संत प्रभुदत्त जी ने आपकी अभिन्न मित्रता थी। इस प्रकार अति मामान्य गरीब धोबी परिवार में जन्म लेकर भी गाडगे महाराज ने सामाजिक कुरीतियों को दूर करने तथा अपने समाज को स्वावलम्बी बनाने का पूरा प्रयास किया।

★ सन्त तुकड़ो जी महाराज (वि.सं. 1958-2025; ई० सन् 1901-1968)

सन्त तुकड़ो जी का जन्म महाराष्ट्र में हुआ था। बचपन से ही आपके अन्दर देव और देश के प्रति भक्ति का मुन्दर मंगम था। सन् 1935 में उन्होंने सालवडी नामक स्थान पर यज्ञ किया-जिसमें 10 लाख लोग उपस्थित हुये। सन् 1945 में, ब्रम्हवेडा में सन्त सम्मेलन किया। सन् 1949 में, राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने आपको राष्ट्र-मन्त्र की उपाधि से सम्मानित किया तथा सन् 1951 में, राष्ट्रपति भवन में भवनों का कार्यक्रम रखा। सन् 1962 तथा सन् 1965 के युद्ध के समय सीमा पर जाकर मैनिकों का उत्साह बढ़ाने वाले वे विशिष्ट सन्त थे।

उन्होंने हिन्दुओं को अपने ही पड़ोस में रह रहे वंचित वंशुओं को प्रेम करने का आह्वान करने हुए कहा- 'क्या हिन्दुओं को अपने धर्म का ज्ञान है? क्या वह भूख को रोटी देना है? क्या हिन्दुओं के ही मृत शरीर को सभी हाथ लगाकर एकता का दर्शन करते हैं? क्या हिन्दुओं के धर्मगुरु, दीन-हीन वंचित वंशुओं के घर जाकर उनको प्रगति की चार बातें मन्त्र देकर सुनाते हैं? क्या नेतागण पीड़ित

हिन्दुओं की पुकार सुनकर उनका मकड़ दूर करने के लिये प्रयत्न करने हैं? क्या पण्डा पुजारी उनका तीर्थक्षेत्रों में ठीक तरह में मार्गदर्शन करने हैं? क्या हिन्दुओं के ग्राम का माहूकार अपने गरीब हिन्दुओं के साथ महानुभूति में वताव करता है? यह बातें बहुत कम लोगों में पाई जाती हैं। जब इनकी ही बातें हम ऊपर से नीचे नहीं पहुँचा सके हैं तो सारे विश्व को हम आर्य वनांगे यह मिद्ध करने में कितने युग बीत जायेंगे?" उनकी इस बात में कितना दर्द भरा है?

**विश्वधर्म सम्मेलन में संत तुकड़ों जी-** 16 जुलाई, 1955 को जापान में विश्वधर्म सम्मेलन होने जा रहा था। इस सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व करने का दायित्व राष्ट्र संत तुकड़ों जी महाराज पर आया। वहाँ पर उन्होंने उसी मूल भाव को उद्धृत किया जो शिकागो में स्वामी विवेकानन्द बोल चुके थे। उन्होंने कहा- "मेरा आप से प्रश्न है कि क्या हर व्यक्ति के उद्धार का मार्ग अलग हो सकता है? क्या प्रत्येक व्यक्ति की शांति अलग-अलग हो सकती है? क्या राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, पैगम्बर और गान्धी जी ने हर व्यक्ति में फूट डालने का काम किया था? अगर नहीं तो प्रश्न है कि हर धर्म का कर्तव्य तथा अर्थ अलग-अलग कैसे हो सकता है?"

(महाराष्ट्र की संत परंपरा, पृ. 282)

दूसरे दिन उन्हें भजन गाना था, उन्होंने सोचा कि यहाँ हिन्दी में कौन समझेगा? यह सुनकर उन्होंने एक ही भजन गाने की घोषणा की। खंजरी पर थाप पड़ी और भक्तिरस से सराबोर हृदयस्पर्शी वाणी गूँज उठी-

" तेरे नाम अनेक तू एक ही है।

सागर से उठा बादल बनकर, बादल से गिरा जल होकर के।

फिर नहर बनीं, नदियाँ गहरीं, तेरे भिन्न प्रकार तू एक ही है।"

(वही, पृ. 283)

अश्रुधारा बहती रही, तुकड़ों जी गाते रहे, भजन पूरा हुआ तो तुकड़ों जी ने अत्यन्त विनम्रता से सभी को प्रणाम किया और खंजरी रख दी। पूरे पंडाल के लोग खड़े हो गए- एक और, एक और का नारा लगा। फिर तो ऐसा रंग जमा कि एक-दो-तीन भजन चलते ही रहे। पूरा जापान तुकड़ों जी महाराज को जान गया। जहाँ जाते वही लोग उनको नमन करते, स्थान-स्थान पर स्वागत होने लगे इस प्रकार तुकड़ों जी ने सम्पूर्ण देश का गौरव बढ़ाया।

**भारत साधू समाज -** संत तुकड़ों जी ने विचार किया कि देशभर में लाखों साधू हैं। इनके पास अपार आध्यात्मिक शक्ति है, भारत की उज्ज्वल परंपरा उनके

पास है। भारत के तब-निर्माण में इस विराट् शक्ति का उपयोग होना चाहिए, ऐसा विचार उन्होंने पं. जवाहरलाल नेहरू जी तथा तत्कालीन गृहमंत्री गुलजारी लाल नन्दा के सम्मुख रखा। साधू समाज की असंख्य विविधताओं के बावजूद भी साधू समाज को संगठित कर पकड़ने के नीचे लाने का कार्य उन्होंने प्रारंभ किया। 13 अप्रैल, 1956 को कृपिकेज में भारत साधू समाज का पहला अधिवेशन किया गया। संत तुकड़ों जी उसीके अध्यक्ष हुए। समाज में सभी प्रकार की जातिगत विषमता दूर हो यह उनका लक्ष्य था। संत तुकड़ों जी ने विनोबाजी के भूदान आन्दोलन में सभी प्रकार में सहयोग किया। संत तुकड़ों जी ने ग्रामवासीयों में ग्राम विकास की प्रेरणा दी। अत्यन्त सरल भाषा में ग्राम विकास के भिन्न-भिन्न पहलुओं को भाष्य रूप में प्रस्तुत किया। 'ग्राम गीता' नाम से यह ग्रन्थ प्रसिद्ध है। सन् 1968 में उनका सार्थक, कर्ममय, संत जीवन पूर्ण हो गया।

॥ ॐ ॥

घर में ही है तो उसे बाहर ढूँढ़ना बेकार है। ब्रह्म तो निर्गुण रूप में हम सभी के हृदय में विद्यमान है-

“जल विच कमल, कमल विच कलियाँ, जहाँ वासुदेव अविनाशी।

घट में गंगा, घट में यमुना, नहीं द्वारिका कासी॥

घर वस्तू बाहर क्यों ढूँढ़ो, बन बन फिरा उदासी।

कहै जन सिंगा, सुनो भई साधो, अमर पुए के बासी॥”

(संत और सूफी साहित्य, पृ० 197)

संत सीगा जी की यह निर्गुणभक्ति की धारणा, संत कबीर के निराकार, निर्विकार, अव्यय और अनादि ब्रह्म विषयक कल्पना से बहुत कुछ साम्य रखती है। संत सीगा जी का निर्गुण ब्रह्म, रूप, कुल, गोत्र, शरीर आदि से परे है-

“रूप नाही, देखा नाही नाहीं है कुलगोत रे।

बिन देहीं को साहब मेरा, झिलमिल देखूँ जोत रे।”

(वही, पृ० 197)

संत सीगा जी कहते हैं कि मेरे परमेश्वर का कोई रूप नहीं है, वह खुले नेत्रों से दिखता भी नहीं है, उसका कोई कुल-गोत्र भी नहीं है। मेरा निर्गुण-निराकार परमेश्वर बिना देह का है किन्तु मुझको तो वह झिल-मिल दिखता है। अर्थात् भक्ति से ही उसकी प्रतीति होती है।

संत सीगा जी ने ग्यारह रचनाओं का निर्माण किया। संत सीगाजी निमाड़ी प्रदेश में बड़े लोकप्रिय तथा पूज्य हैं। निमाड़ की जनता आज भी सीगा जी के भजनों और पदों को अत्यन्त श्रद्धाभाव से गाती है। संत सीगा जी ने किसी पंथ या सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की परन्तु सत्यानुभूति एवं मधुरता से भरपूर उनके पदों ने निमाड़ की जनता के हृदय पर अपना प्रभाव बनाए रखा है। सीगा जी ने वि० 1616 को किंकण नदी के तट पर समाधि ली। इस प्रकार इन्होंने चालीस वर्ष तक एक श्रेष्ठ, निष्कलंक, समाज सुधारक एवं भक्त का जीवन व्यतीत किया।

\* **स्वामी प्राणनाथ** (वि. सं. 1675-1751; ई. सन्. 1618-1694)

स्वामी प्राणनाथ मुख्य रूप से श्रीकृष्ण के उपासक थे तथा संत कबीर के विचारों से भी पूरी तरह सहमत दीखते हैं। उन्होंने सर्वधर्म समन्वय, एकता, सौहार्द, मानवतावाद तथा अहिंसा का मार्ग अपनाया। स्वामी प्राणनाथ का समय धार्मिक अराजकता का काल है। औरंगजेब की संकीर्ण धार्मिक नीति के कारण अन्य धर्मावलम्बी बहुत त्रस्त थे। ऐसे विषम समय में प्राणनाथ जी ने अध्यात्म की गहराई में उतरकर

## मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ के अन्त

कुछ वर्ष पूर्व तक मध्य प्रदेश के सबसे बड़े क्षेत्रफल का प्रान्त था। अब छत्तीसगढ़ एक नया प्रान्त भी इसमें से बन गया है। घने जंगलों के कारण वड़ी संख्या में वनवासी लोग भी रहते हैं। मुसलमानों का अत्याचार तथा आतंक, जैसा अन्य क्षेत्रों को डोलना पड़ा, मध्य प्रदेश कुछ सीमा तक उससे बचा रहा।

धर्मजागरण तथा सामाजिक समरसता की दृष्टि से संत कबीरदास की विचारधारा लेकर संत सीगा जी ने जन-जागरण तथा निर्गुण ब्रह्म की स्तुति हेतु यहाँ प्रचार किया। स्वामी प्राणनाथ ने सभी सम्प्रदायों तथा विचारों में साम्य स्थापित करने के प्रयास किये। इन दोनों ने ही जातिगत भेदभाव को पूर्णतया अमान्य कर दिया। सतनामी सम्प्रदाय के उदय के साथ ही संत जगजीवन दास, वीरभानु, ऊदादास तथा जोगीदास ने औरंगजेब की धर्मान्धता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया तथा हजारों सतनामी संत जातिगत भेदभाव छोड़कर अत्याचार के विरुद्ध एकजुट होकर संघर्ष किये और बलिदान हुए।

छत्तीसगढ़ क्षेत्र के संत घासीदास जी ने हरिजन, चर्मकार जातियों में आत्मबोध जगाया तथा लोग अपने आपको सतनामी कहने में गौरवान्वित अनुभव करने लगे। वनवासी क्षेत्र के श्री गहिगा गुरु ने वनवासियों में धार्मिक जागरण कर पिछड़े हुए लोगों को समाज में सभी के साथ खड़ा करने के लिए भक्ति-जागरण एवं समाज सुधार के कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिए।

\* **संत सीगाजी** - (वि. सं. 1576-1616; ई. सन्. 1519-1559)

संत सीगा जी का जन्म मध्यभारत की रियासत बड़वानी में खाल जाति के परिवार में हुआ था। बाल्यावस्था में ही सीगा जी संसार से विरक्त रहा करते थे। राजा के यहाँ नौकरी की किन्तु भक्तिभाव के कारण त्यागपत्र देकर जंगल में जाकर निर्गुण-ब्रह्म की साधना में वड़ी तत्परता के साथ लग गए। यही रहकर इन्होंने योग की साधना करते हुए अनहद नाद से सम्बन्धित प्रायः आठ सौ भजनों की रचना की।

संत सीगा जी परमसाधक तथा श्रेष्ठ विचारक थे। इनका मानना था कि परमतत्त्व को खोजने के लिए कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं। उसके दर्शन के लिए गंगा, यमुना, द्वारिका, काशी आदि में उसे ढूँढ़ना व्यर्थ है। जब कोई वस्तु

मानवतावाद का मन्देश दिया। उन्होंने लोक-कल्याण का व्रत लिया तथा अग्रे देशों की यात्रा की। इस्लाम, ईसाइयन एवं अन्य मेमेटिक मतों (Semitic religions) का गहन अध्ययन कर सभी धर्मों के श्रेष्ठतत्त्वों पर विचार किया और प्रतिपादन किया कि ईश्वर तो एक ही है, अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है-

“जात एक खसम (ईश्वर) की, और न कोई जात।

एक खसम एक दुनिया, और उड़ गई दूजी बात ॥”

(सन्ध, 33/17)

उन्होंने मेमेटिक तथा हेमेटिक दोनों विचारों की एकता हेतु पन्ना को अपने कार्यक्षेत्र का केन्द्र बिन्दु बना कर वहाँ से धार्मिक समन्वय का प्रयास किया। यदि देखा जाय तो प्राणनाथ ने मैक्समूलर से भी दो सौ वर्ष पूर्व सभी संप्रदायों के समन्वय के लिये कार्य किया था। मैक्समूलर ने तो विविध सम्प्रदायों का तुलनात्मक अध्ययन ही किया था किन्तु प्राणनाथ ने इनके मध्य सामंजस्य के प्रयास किये।

डा. हरेन्द्र प्रसाद वर्मा लिखते हैं - “Maxmuller might be regarded as the precursor of Comparative Religion in the west, whose article, Essay on Comparative Religion (which was collected in the Oxford Essays and published in 1856) was perhaps the first article on the subject. However in India, it was Mahant Prana Nath (1618-1694) who, for the first time, made venture in this field as early as the 17<sup>th</sup> century and hence, he deserves to be acknowledged as the pioneer of Comparative Religions in medieval India.”

(हिन्दी संतकाव्य: समाज-शास्त्रीय अध्ययन, पृ. 63)

स्वामी प्राणनाथ जी कबीरदास से प्रभावित थे तथा जातिगत भेदभाव, पूजा आडम्बर से बहुत दूर थे। उन्होंने श्रीकृष्ण की नित्य एवं दिव्य ब्रह्मधाम की वास्तविक लीला की स्तुति की है। विशुद्ध प्रेम ही आपकी आराधना का आधार है। उसी की अनुभूति को परमपद या धाम की स्थिति कहा। इसी कारण इनके द्वारा निर्मित मन्दिर को धामी मन्दिर कहते हैं। आपकी चौदह रचनाएँ संकलित हैं जिनमें छन्द संख्या अठारह हजार है। इनके सम्प्रदाय को **प्रणामी सम्प्रदाय** कहते हैं। मध्यप्रदेश से लेकर गुजरात तक आपके भक्तों की अच्छी संख्या निवास करती है।

■ **सतनामी सम्प्रदाय** (वि.सं. 18वीं शताब्दी)

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तकों में चार व्यक्तियों के नाम प्रमुख हैं। वे हैं- सर्व श्री जगजीवन दास, वीरभानु, ऊदादास तथा जोगीदास। उनमें से प्रथम तीन नाथमत से जुड़े हुए हैं। जिस प्रकार संत कबीरदास ने सत्य को ही ईश्वर कहा है उसी प्रकार सतनामी भी सत्य को ही ईश्वर मानते हैं। इस सम्प्रदाय के लोगों ने

औरंगजेब की धर्मान्धता से संघर्ष किया जिसको इतिहास में सतनामी विद्रोह (वि.सं. 1729-40) के नाम से जाना जाता है। सतनामी सम्प्रदाय के हजारों भक्तों ने औरंगजेब की सेना के साथ संघर्ष करने हुए अपना व्रतिदान दिया। इस मन को मानने वाले जातिगत भेदभाव से ऊपर उठकर निर्गुण-निराकार-मर्वव्यापी प्रभु की उपासना करते हैं। इसी सम्प्रदाय में महान्मा धामीदास (धामीगम) बहुत प्रसिद्ध हो गये हैं।

■ **संत घासीदास** (वि.सं. 1813-1904; ई.सन्. 1756 - 1850) - छत्तीसगढ़

इनका जन्म रायपुर (छत्तीसगढ़) में हुआ था। सतनामी सम्प्रदाय की छत्तीसगढ़ी शाखा (बिलासपुर) के प्रमुख संत घासीदास (धामीगम) माने जाते हैं। संत घासीदास जाति के चर्मकार थे तथा बहुत बड़ी संख्या में उनकी जाति के लोग इनके शिष्य बन गये। आज देश भर में सतनामियों के लगभग अस्सी लाख अनुयायी हैं। इनके चार भाइयों ने ईसाई मत स्वीकार कर लिया था इस कारण संत घासीदास बहुत दुखी हो गए। संत घासीदास को यह बात ध्यान में आ गयी कि सामाजिक भेदभाव समाप्त होना चाहिए अन्यथा हिन्दू समाज गंभीर संकट में पड़ जाएगा। हिन्दू समाज के सामाजिक भेदभावों के कारण ही ईसाई लोग मतान्तरण का काम कर रहे हैं। संत घासीदास आध्यात्मिक होते चले गए और भक्तिभाव से भजन, माखी, पद बनाकर भक्तों के साथ मिलकर गाते थे। उनके दर्शन का मूलभाव यह था कि संपूर्ण जगत का आधार ‘सतनाम’ अर्थात् वही निर्गुण, निराकार, सर्वशक्तिमान् प्रभु ही है। वे उसी ‘ईश्वर’ को सतनाम कहकर पुकारते हैं

“सतनाम संत जपुन रह प्रानी,

कौन जाने कतेक बेर, हो जाहि जीवन के हानी।

सत मां चंदा सत मां मूरज, सत मां सब परमात्मा है।

सत मां ब्रह्मा, सत मां विष्णु, सत मां सब कर बासा है ॥”

(गुरु घासीदास, पृ. 31-32)

गन्त घासीदास ने अपने अनुयायियों को प्रातः एवं सायंकाल मूर्य उपासना का आदेश दिया। उनके लिये सतनाम ही ईश्वर है तथा सत्य ही संसार का मार है-

“आदिनाम सतनाम है, सत्यहि है जगसार।

सत्यनाम के जपन से, सब जन उतरे पार ॥”

(वही, पृ. 35)

सामाजिक समानता के पक्षधर - संत घासीदास, सामाजिक समानता के प्रबल पक्षधर थे। उनका कहना था कि सभी परम्परा की सन्तान हैं अतः ऊँच-नीच, जाति-पाँति, छुआछूत आदि का व्यवहार अधार्मिक है। उनके स्वभाव तथा विचारों में प्रभावित होकर अनेक जातियों के लोग मतनामी मण्डपाय में आकर मिल गये। कवि मनोहर दास ने इस ममरसना का वर्णन किया है-

“ब्राह्मण, क्षत्री, बन्तिया, शूद्र चारों बरन के लोग,  
सब बनिन सतनामी, होहिन भेद भरम के रोग ला,  
सफा मिटाइन गा ॥

घासीदास गुरु बाबा पंथ ला चलाइन गा,  
गोंड, कंवर, कोरी, घासी, चमरा, महारा, मोची,  
राउत अउ रोहिदास तेली सतनाम ल सोचिन,  
खुलगे हृदय कपाट जा ॥”

(वही, पृ० 40)

संत घासीदास के नेतृत्व में वंचित जातियों के लाखों लोगों ने खोई हुई अस्मिता को पुनः प्राप्त किया। गाँव में कोई भूखा न रहे इसके लिये उन्होंने जगह-जगह सदाव्रत खोले जहाँ सबको निःशुल्क भोजन कराया जाता था। समाज सुधार की दृष्टि से पशुबलि के स्थान पर नागियल चढ़ाने की परम्परा को छत्तीसगढ़ में आगे बढ़ाया तथा इसके साथ ही-

- ✧ समाज में वंचित जातियों के अनुयायियों को स्वाभिमान से रहने तथा ब्राह्मणों के सभी प्रतीकों जैसे यज्ञोपवीत, चन्दन, मूर्धोपसना आदि को स्वीकारने का आग्रह किया।
- ✧ गाय को पूज्य मानकर हल में चलाने से मना किया।
- ✧ रतनपुर में सतनामी लोगों के स्नान आदि के लिये पवित्र सरोवर का निर्माण कराया।
- ✧ पौरौहित्य की उपासना पद्धति को अपनाया किन्तु लोकनायक कृष्ण का आदर्श भी सदैव सम्मुख रखा और कृष्ण की भक्ति की प्रेरणा दी।

**जयरतंभ अथवा जैतखाम** - छत्तीसगढ़ के किसी गाँव के सतनामी मोहल्ले में जायेंगे तो आपको साफ सुथरे चबूतरे पर एक स्तम्भ में श्वेत रंग का ध्वज फहरता दिखलाई देगा। भक्तिभाव से लोग उस जैतखाम की महिमा गाते हैं तथा मिलकर सामूहिक रूप से पूजा करते हैं-

“सुन्दर गोबर मा, अंगना लिपाये हैं,  
जैकर ऊपर, चौका पुराये हैं,  
कंचन के थारी, घी के आरती समाये हैं,  
नारियल सुपारी लौंग, इलायची लगाये हैं,  
जइवे ये खंवा गाँव गाँव लहराये हैं,  
तइसे दिल में सतनाम अपनाये हैं ॥”



(वही, पृ० 57)

मफेद रंग का ध्वज, जातिभेद से मुक्त, ममरस समाज व्यवस्था का प्रतीक माना जाता है। इस ध्वज को पालो कहते हैं। गुरु घासीदास की जयन्ती पर यह ध्वज चढ़ाया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संत घासीदास जी के प्रयासों से लाखों हिन्दुओं को सम्मान मिला तथा सच्चरित्र, आदर्श जीवन जीने की प्रेरणा मिली।

✧ श्री गहिरा गुरु (वि.सं. 1962-2053 ई.सन्. 1905-1996)

छत्तीसगढ़ प्रांत का अधिकांश क्षेत्र सुरम्य जंगलों से आच्छादित वन-क्षेत्र है। भोले-भाले वनवासी आज की चकाचौंध से दूर मानवीय संवेदनाओं की प्रतिमूर्ति हैं। परंपराओं के मानने वाले, वनवासियों का सुहृदय होना उनका ईश्वर-प्रदत्त गुण है। ऐसे ही थे अपने श्री गहिरा गुरु जिन्होंने वनवासी बन्धुओं के जीवन में भक्ति के साथ-साथ सामाजिक सुधारों की ज्योति जला दी।

श्री गहिरा गुरु का जन्म रायगढ़ जिले के गहिरा ग्राम में हुआ था। बचपन का नाम रखा गया रामेश्वर किन्तु आगे चलकर वे अपने ग्राम के नाम से ही प्रसिद्ध हो गये। बालकपन से ही माधू-संतों की संगत में मन लगता था। श्री गहिरा गुरु आदिवासी कंवर जाति के कहलाते थे। जहाँ तक कंवर जाति की उत्पत्ति का प्रश्न है तो ऐतिहासिक तथ्य बताते हैं कि चंद्रवंशी कुरु से कौरव तथा कौरव से कंवर कहलाए। श्री चंद्रवंश दर्पण, पृ. 8 के अनुसार चंद्रवंश के पच्चीस गोत्र बताए जाते हैं। श्री रामेश्वर इन्होंने से अत्रि गोत्र के कंवर हैं। कंवर जाति के पतन के बारे में श्री चंद्रवंश दर्पण के अध्याय दो में वर्णन आता है कि मुसलमानों के आक्रमणों से बचने के लिए क्षत्रिय गर्भवती महिलाएं जंगलों की ओर चली गईं। क्षत्रियों से मुसलमानों की प्रकट शत्रुता होने के कारण क्षत्रियों ने अपनी जातियों को बदलकर बतलाना प्रारंभ कर दिया। चंद्रवंशी कौरव लोग भी अपने आप को कंवर, दामड़े,

गायकवाड़ आदि बनाने लगे। कुछ लोगों ने अपने गोत्र भी मर्प, विच्छ्र, पशु-पक्षी आदि नामों के आधार पर रख लिये। इस प्रकार व्यवहार करने हुए आज आठ मौ वर्ग ब्रीन गए। इतने वर्ष तक यदि कोई समाज मध्यम-शिक्षा आदि में दूर रहेगा तो उसकी क्या स्थिति बनेगी यह आसानी से समझ में आता है। श्री गहिग गुरु (रामेश्वर) इसी समाज के थे।

श्री गहिग गुरु ने शिवमन्दिर की स्थापना की और श्रीरामचरितमानस को स्वर्ग-संगीत के साथ गाने वाली टोली का निर्माण किया। लोग रामलीला और नृत्य करके भक्तिपूर्ण वातावरण का निर्माण करने लगे। रामेश्वर का नाम बदलकर 'गुरु महाराज' हो गया। सन् 1943 को गहिग गुरु ने "सनातन धर्म संत समाज" की स्थापना कर दी। इस मत को मानने वाले लोगों की संख्या बढ़ती जा रही थी। धार्मिक स्थल पर लगाने हेतु शुभ्र ध्वज निश्चित हुआ तथा सभी लोग आँगन में तुलसी का पौधा लगाने लगे।

'सनातन धर्म संत समाज' को मानने वालों ने कुछ और बातें भी निश्चित कीं जिसके अनुसार प्रातः स्नान करके तुलसी को जल देना, प्रत्येक घर में पूजास्थल, प्रतिदिन गो ग्रास निकालना, प्रातः एवं सायं काल घर में बड़ों को प्रणाम करना। प्रतिदिन एक मुट्ठी चावल तथा 15 पैसे समाज के लिए निकालना। मांसाहार तथा मद्यपान का पूर्ण निषेध कर दिया गया। गुरुवार को सामूहिक श्रीरामचरित मानस का पाठ होता था। इस प्रकार श्री गहिग गुरु ने आमपाम के क्षेत्र में भक्ति का जागरण करने तथा जीवन में शुचिता-पवित्रता लाने पर जोर दिया। चमत्कारी पुरुष के रूप में रामेश्वर का प्रभाव जनमानस पर पड़ने लगा। होल-मजिरे के साथ जब भजन चलता तो नर-नारी, आबाल-वृद्ध नृत्य करने लगते थे इसे भी रास-लीला कहा जाता था। सन् 1951 के अकाल के समय श्री गुरु जी अपने सभी माथियों को लेकर सहायता कार्य में जुट गये। सन् 1965 में कैलाश गुफा में बड़ा यज्ञ किया और वनवासी वच्चों को संस्कृत पढ़ाने के लिए छात्रावास प्रारंभ कर दिया। वनवासियों के एक विंगल सम्मेलन में बोलते हुए श्री गहिग गुरु जी ने कहा- 'हम सब लोग सनातन धर्म संत समाज के हैं। हम लोगों को देखकर लोग हमसे। हमको उससे डरना नहीं चाहिए। सैकड़ों वर्ष से हम जंगल में रह रहे हैं इसलिए लोग हमें जंगली कहते हैं। उगँव जानि श्रविय जानि है। बहून वर्ष पूर्व

हमारे प्रतापी राजाओं में भीम भी थे। उनका पुत्र घटोत्कच था। उगँव लोग उसी की मंथन हैं। पहले इसे उरमाल जानि कहा जाता था। इनका मुख्य किला गेहड़ाम (विहार) में था। वहाँ मुसलमानों का आक्रमण हुआ और उरमाल जानि पराजित हुई और जंगलों की ओर भागी। कोल-किरातों के मध्य शरण लेने के कारण अपनी प्राण-रक्षा के लिए हमारे पूर्वजों ने यज्ञोपवीत उतार दिए। मूलतः उगँव जानि श्रविय जानि ही है। पर हम जिस प्रकार रहते हैं उससे हमारी इज्जत कौन करेगा? हमको साफ सुथरा रहना चाहिए। हमारी बोली तथा बातचीत में विनम्रता चाहिए। इस प्रकार श्री गहिग गुरु ने लाखों लोगों को स्वभिमान के साथ खड़ा किया तथा हीन-भाव समाप्त किया। समाज की मुख्यधारा में उन्हें जोड़ा। उनके विद्यालय, छात्रावास प्रारंभ किये तथा साथ ही भक्तिभाव को जगाया।

॥ ॐ ॥

के बाद मंत मदानन्द मौजूरी गद्दी के उत्तराधिकारी हुए। आज इनकी सैकड़ों गद्दियों विहार तथा उत्तर प्रदेश में हैं।

\* संत दरिया साहब (वि.सं. 1691-1837; ई.सन्. 1634-1780)

मंत दरिया साहब (विहार वाले) ने दरिया पंथ विहार में चलाया और दरिया ग्रन्थावली नामक ग्रन्थ की रचना की। यद्यपि ये जाति के क्षत्रिय थे किन्तु इनके अनुयायी अधिकोश पिछड़ी जाति के लोग थे। इनके विचार तथा साधना कबीरदाम से मिलती है। दरिया साहब का उपार्य सर्वव्यापी, अवण्ड, अनन्त है तथा सभी प्राणियों में उसकी ज्योति है। वह त्रिगुणानीन है, अजर है, अमर है किन्तु सभी गुणों का स्रष्टा है। वस्तुतः वह निर्गुण है निराकार है -

“त्रिगुण ते है वह गुण न्यारा। अजर अमर गुण सत् करतारा।”

(दरिया योगदर्शन, पृ. 48)

“सो निर्गुण कथि कहै अनाथा। जाके हाथ पाँव नहिं माथा ॥”

(दरिया योगदर्शन, पृ. 121)

मंत दरिया साहब ने शब्द साधना पर बल दिया। कुण्डलिनी जागरण का उपाय बताया, नाम महिमा तथा सद्गुरु का अनुग्रह बताया। बाह्याचार का खण्डन किया तथा मन को नियन्त्रित करना आवश्यक बताया। राम, कृष्ण, ब्रह्मा विष्णु सभी में वही ज्योति है -

“राम ज्योति और नहिं कोई। कृष्ण रूप धरै पुनि सोई।

ब्रह्मा, विष्णु, ज्योति अवतारा। पुरुष नाम वह रंग करारा ॥”

(दरिया योगदर्शन, पृ. 8)

जातिगत भेदभाव से दूर हजारों अनुयायी दरिया पंथ में शामिल होते चले गये।

\* सरभंग सम्प्रदाय (ई.सन्. 18-19वीं शताब्दी)

सरभंग सम्प्रदाय मूल रूप से ‘अघोर’ या ‘औघड़ पंथ’ की ही एक शाखा मानी जाती है। इसका मुख्य क्षेत्र चम्पारन, सारन, मुजफ्फरपुर आदि है। ‘सरभंग’ शब्द सरभंग शब्द से बना है। जिसका अर्थ होता है सभी को समान रूप से स्वीकार करना। इसी कारण इसको ‘समदर्शी’ मत भी कहा जाता है। समदर्शी में दो अर्थ हैं कि-निर्गुण-सगुण, शैव-वैष्णव, हिन्दू-मुसलमान, ऊँच-नीच, ब्राह्मण-क्षत्र, अमीर-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित आदि सभी में समान भाव रखना। सरभंग नामक एक वैदिक ऋषि ने इस पंथ को प्रारम्भ किया था इस कारण यह नाम पड़ा।

## बिहार एवं झारखण्ड के सन्त और सम्प्रदाय

बिहार प्रदेश अत्यन्त प्राचीन काल से सन्त-महात्माओं, ऋषि-मुनियों तथा महापुरुषों की तपोभूमि रही है। याज्ञवल्क्य, गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी आदि के पश्चात् दशाधिक सहजयानी बौद्ध-सिद्धों ने इसी प्रदेश को अपनी साधना-स्थली बनाया। इनमें कर्णदीपा, कंकालीपा, भुमुकपा, लीलापा, लुङ्पा, शवरपा, मरहपा, लुचिकपा आदि सिद्ध प्रसिद्ध हैं। ये सभी जानिगत भेदभाव से दूर एकरूप, समता युक्त समाज रचना के प्रयासों में लगे रहे। मंत कबीर के पश्चात् निर्गुण मार्गी सन्तों की लम्बी परम्परा बिहार में खड़ी हो गई। कबीर पंथ की गद्दियों के साथ-साथ धरनी पंथ, दरिया पंथ, सबी सम्प्रदाय, सरभंग सम्प्रदाय, सतनामी सम्प्रदाय आदि सभी ऐसे सम्प्रदाय और मत थे जो जातिगत वैषम्य को नहीं मानते थे तथा सम्पूर्ण बिहार में इनका पर्याप्त विस्तार हुआ।

समय-समय पर ऐसे सैकड़ों मंत पैदा हो गए जिन्होंने अपने आचार-विचार तथा श्रेष्ठजीवन के व्यवहार द्वारा केवल बिहार ही नहीं पूरे उत्तर भारत का मार्गदर्शन किया। ये सभी बाह्याचारों का खण्डन करते हुए प्रेम, करुणा, अहिंसा, मानव-मानव के मध्य आत्मीयता, सत्याचरण तथा श्रेष्ठ जीवनमूल्यों की प्रतिष्ठा पर जोर देते रहे।

\* धरनी पंथ और संत धरनीदास (जन्म अनुमानतः वि.सं. 1637; ई. सन्. 1580)

बिहार की धरती पर मंत धरनीदास एक उच्चकोटि के संत हो गये हैं। कायस्थ परिवार में इनका जन्म हुआ तथा इनके द्वारा विरचित, आध्यात्मिक दृष्टि में श्रेष्ठ दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं 1. प्रेमप्रकाश, 2. शब्दप्रकाश। इनकी साधना पद्धति में योग, ज्ञान और भक्ति का समन्वय है। इन्होंने जाति भेद से ऊपर उठकर निर्गुण भक्ति का प्रचार किया। स्वामी रामानन्द की शिष्य परम्परा में आठवीं पीढ़ी में संत धरनीदास आते हैं। संत धरनीदास ने प्रेमप्रकाश ग्रंथ के माध्यम से आध्यात्मिक प्रेम का निरूपण किया है तथा शब्दप्रकाश ग्रंथ के माध्यम से विचार तथा सिद्धान्तों का परिचय दिया है। ग्रंथ की 45 भागों में बाँटकर सैकड़ों सावकी, कवित्त, सबैया, छप्पय, अरिल्ल आदि मग्नित किये गये हैं।

संत धरनीदास ने परमतत्व को धरनीश्वर, कर्ता, राम, रमता राम, श्री रघुनाथ, बालगोपाल, विष्वम्भर आदि नामों से सम्बोधित किया है। संत धरनीदास

अनेक मुसलमान भी इन भक्तों में आकर जुड़ गए। भक्त रमबान भी उनमें से एक थे। पृष्टिमार्ग के भक्तों ने अशिष्टियों, तथाकथित शूद्रों, विधर्मीयों, स्त्रियों आदि सभी को श्रीकृष्णभक्ति के महज मार्ग पर पहुँचा दिया। मसूण उनकी भारत में श्रीकृष्ण की निर्मलभक्ति का वातावरण बन गया। अष्टछाप परम्परा के मैकड़ों माधू, महान्या भक्तिभाव से संगीत मण्डली के साथ भ्रमण करने लगे। घर-घर में संकीर्तन होने लगे। मुसलमानों की अन्याचारी प्रवृत्ति के कारण बड़े-बड़े मन्दिर तो नष्ट हो गये थे किन्तु अब घर-घर में मन्दिर स्थापित हो गए। ग्राम-ग्राम का जीवन कृष्णमय हो उठा। निराशा निरोगित हुई तथा हिन्दू समाज को समरम्भा, उत्साह तथा विष्वास का नया प्रकाश प्राप्त हुआ। पराजित तथा विश्वविलिन हिन्दू जाति को इस पीयूष-वर्षा ने नवजीवन प्रदान किया।

\* भक्त कुंभनदास - (वि.सं. 1525-1638; ई.सन् 1468-1581) ब्रजक्षेत्र

भक्त कुंभनदास, श्रीवल्लभाचार्य जी की अष्टछाप परंपरा के चार शिष्यों में से सबसे प्रथम शिष्य थे। आपने अपनी जाति, कुल, कुटुंब आदि के बारे में कुछ भी नहीं लिखा है। अन्य भक्तों की रचनाओं में पता चलता है कि कुंभनदास जी ब्रज में गोवर्धन पर्वत से कुछ दूर 'जमुनावतो' गाँव में रहते थे। इनका जन्म गोर्वा क्षत्रिय कुल में हुआ था। वल्लभ सम्प्रदाय में आने के पूर्व से ही ये कीर्तन अच्छा गाते थे इसलिए श्री वल्लभाचार्य जी ने इन्हें श्रीनाथजी के मंदिर में कीर्तन की सेवा दी थी। आगे चलकर वे उच्च कोटि के भक्त, मेवक तथा कवि के रूप में म्यानि पाये।

एकबार किसी ने भक्त कुंभनदास का पद अकबर को सुनाया। अकबर को बहुत अच्छा लगा और सवारी भेजकर इन्हें फतहपुर सीकरी बुलवाया। पहले भक्त कुंभनदास जी ने कहा- 'भाई, हमारा वादशाह में क्या काम ?' अधिक आग्रह पर वे सवारी का उपयोग न करने हुए पैदल ही फतहपुर सीकरी पहुँच गये। जब उन्हें दरबार में बुलाया गया तब वे फटे हुए कपड़े पहने ही अकबर के सम्मुख आ गये। शाही ढंग में सजे हुए स्थान पर अकबर ने बैठने को कहा। जब अकबर ने पद गाने को कहा तो कुंभनदास गाने लगे-

“जाको मनमोहन अंगीकार करै।

एकौ कैसे खसै नहिं सर ते, जो जग बैर परे॥”

(हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग 5, पृ. 74)

अर्थात्, जिसको मनमोहन (परमेश्वर) ने स्वीकार कर लिया हो तो

उमके भिर के एक बाल को भी कोई काट नहीं दे सकता। चाहे मांगी दुनिया ही उससे बैर क्यों न ठान ले। उस समय उन्होंने एक नया पद भी बनाकर गाया-

“भक्तन को कहाँ सीकरी सौ काम।

आवत जात पन्हैयाँ टूटी बिसरि गयो हरिनाम।

जाको मुख देखी अघ लागे ताको करन पड़ी परनाम।

कुंभनदास लाल गिरधर बिन यह सब झूठो धाम॥”

(हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास-भाग 5, पृ. 75)

अर्थात्, 'भगवद्भक्तों को सीकरी (अकबर की राजधानी फतहपुर सीकरी) में क्या लेना-देना। आने-जाने में पैरों के जूते तो टूटते ही हैं साथ ही प्रभु का नाम भी विस्मरण हो जाता है। जिनके मुख को देखने से पाप लगता है ऐसे लोगों को प्रणाम करना पड़ता है। भक्त कुंभनदास कहता है कि हे मेरे गिरधर, यह सब राजधानी (धाम) झूठी है।' इसको सुनकर अकबर बहुत क्रुद्ध तथा कुंभनदास जी को कुछ मॉर्नेने को कहा। कुंभनदास जी को अकबर से कुछ अपेक्षा ही नहीं थी। उनका मन तो वहाँ आकर दुःखी ही था। भक्त कुंभनदास जी ने निर्भीकता के साथ कह दिया-

“आज पाछे मोको कबहूँ बुलाइयो मति।” (वही, पृ. 76)

अर्थात् 'आज के पश्चात् मेरे को कभी भी बुलाना नहीं।' इस घटना से भक्त कुंभनदास जी की दृढ़ ईश्वरभक्ति, लौकिक सुख-सुविधा से विरक्ति, हृदय में निर्भीकता तथा सभी बातों में निरुद्धता का पता चलता है। इस प्रकार उन दिनों के संस्कृतकाल में भी अष्टछाप परम्परा के ये भक्तगण ईश्वर की सर्वश्रेष्ठता को ही जन-जन के हृदय में स्थापित करते हुए इस्लाम के क्रूर शासन की छाया में दूर, भक्ति-जागरण में लगे हुए थे। यह भक्ति, समाज-जीवन में वैभव, विलास, लोभ, मोह आदि में दूर त्यागवृत्ति एवं मानवीय प्रेम का का सृजन कर रही थी।

\* भक्त सूरदास - (वि.सं. 1535-1637; ई.सन् 1478 - 1580) ब्रज क्षेत्र

भक्त सूरदास का जन्म मथुरा के निकट पारसोली नामक ग्राम में हुआ तथा वे जन्मान्ध थे। महात्मा सूरदास अष्टछाप के प्रतिनिधि कवि हैं। वे वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित थे। कृष्णभक्ति की रचनाओं में सूरदास की तुलना में कोई नहीं दिखता। सूरसागर नामक ग्रन्थ में एक लाघ में अधिक पद थे किन्तु आज छः हजार ही प्राप्त हैं। सूरसारावली तथा साहित्य लहरी उनकी अन्य रचनाएँ हैं। सूरदास सगुणभक्ति के उपासक हैं। सूरदास का मानना है कि सभी के अन्दर उसी एक ब्रह्म का अंश है। सूरसारावलि में वे लिखते हैं-

है। इस सम्प्रदाय के संत लोगों के मुख्यरूप से 2 भाग हैं।

1. निरबानी संतों में स्त्रियों का प्रवेश वर्जित है।
2. घरबारी संतों में स्त्रियों को भी दीक्षा मिलती है।

(अ) निरबानी परम्परा- निरबानी परंपरा में सर्वाधिक प्रतिष्ठित संत भिनकराम जी थे। ये जाति के ततवा थे। इनकी रचनाओं का संग्रह आदापुर (चंपारन) के मठ में सुरक्षित रखा है। निरबानी परम्परा में संत भिनकराम के पश्चात् कर्ताराम दूसरे प्रमुख संत हुए हैं। संत कर्ताराम जी की प्रतिष्ठा संत कीनाराम जी की तरह ही मानी जाती है। इनका जन्म बनिया में हुआ था तथा इनकी रचनाओं का संग्रह 'कर्ताराम के पद' नाम से प्रकाशित हुआ है।

(ब) घरबारी परम्परा- घरबारी परम्परा के प्रवर्तक के रूप में संत भीखनराम और उनके शिष्य टेकमन राम माने जाते हैं। इस मत में स्त्रियाँ भी दीक्षित होकर साधना करती हैं। इन लोगों ने मुसलमानों को भी बड़ी संख्या में दीक्षित करके अपना लिया।

सिद्धान्त और साधना पद्धति- सरभंग सम्प्रदाय के संत तथा भक्त-गण अद्वैत तथा निर्गुण की उपासना करते हैं। इसी निर्गुण को कुछ लोग 'अलख' या 'निरालम्ब' भी कहते हैं। निर्गुणराम को ही आधार मानकर ब्रह्म के पर्याय की तरह उसकी पूजा करते हैं। इन संतों ने काम, क्रोध, मोह, तृष्णा आदि से बचने का उपदेश दिया। छोटी कही जाने वाली जातियों को सम्मान के साथ आध्यात्मिक साधना में स्थान मिला।

#### \* मैथिली रामायण-(ई.सन्. 19वीं शताब्दी)

भक्त श्री कबीरचर चंदा अपनी रचनाओं में अपना नाम चंद्र कवि लिखते हैं। इनका जन्म ई.सन् 1831 और स्वर्गवास ई.सन् 1907 में हुआ। आप मूलतः दरभंगा जिले के थे। दरभंगा के महाराजा रामेश्वर सिंह जी के दरबार में आपने सादगीपूर्ण, संतोषयुक्त, सात्विक जीवन बिताया तथा आजीवन भक्तिधारा में मग्न रहे। कबीरचर चंदा ने शिव और राम की लीला-भक्ति के एक हजार से अधिक गीत लिखे। प्रस्तुत रामायण कवि की भक्ति का काव्यात्मक प्रफुटन है। अध्यात्म रामायण और श्रीरामचरितमानस इस काव्य के प्रमुख आधार हैं। बोलचाल की भाषा का प्रयोग, प्रवाहमय शैली और विलक्षण गेयता के कारण यह रामायण शीघ्र ही लोककंठ में समा गई। बिहार के संपूर्ण समाज में मिलकर गाए जाने वाले इस भक्ति-काव्य ने समरसता हेतु उल्लेखनीय कार्य किया।

#### \* संतमत सत्संग (ई.सन्. 20 वीं शताब्दी)

बिहार की निर्गुण साधना पद्धति में 'संतमत मत्संग' का अपना विशिष्ट स्थान है। इस मत के प्रवर्तक बाबा देवी माहब (वि.सं. 1889-1978) माने जाते हैं। इन्हीं बाबा देवी साहब के पांच प्रमुख शिष्यों में महर्षि मेंहीदास महाराज सर्वाधिक प्रसिद्ध थे।

\* महर्षि मेंही परमहंस जी महाराज (वि.सं. 1942-2043; ई.सन्. 1885-1986) महर्षि मेंही परमहंस जी महाराज का जन्म बिहार के सहरसा जलपद में एक कायस्थ परिवार में हुआ था। बचपन का नाम रामानुग्रह लालदास था जिसे बाद में बदलकर 'मेंही लाल' कर दिया गया। इनके सद्गुरु बाबा देवी साहब ने इसे और थोड़ा बदल कर 'मेंहीदास' कर दिया। बाबा देवी साहब ने सन् 1912 में इन्हें विधिवत् 'सुरत शब्द योग' का मन्त्र दिया और इसके पश्चात् वे अध्यात्म-साधना में लग गए। महर्षि मेंही परमहंस जी ने भागलपुर में गंगा के पावन तट कुष्पा घाट पर अपना आश्रम स्थापित किया जो आज 'मेंही आश्रम' के नाम से अध्यात्म-चिन्तन तथा साधना का प्रमुख केंद्र बन गया है।

महर्षि मेंही परमहंस महाराज जी ने गम्भीर अध्ययन, साधना तथा आध्यात्मिक एवं सामाजिक अनुभव के पश्चात् व्यापक साहित्य रचना की। इनके तेरह ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। श्रीरामचरितमानस, वेद, उपनिषद्, भागवत, गीता, शिव संहिता, महाभारत आदि ग्रन्थों के अनेक समाजोपयोगी प्रसङ्गों पर साहित्य रचना आपने की है। समाज सुधार के लिये प्रयत्न करने वाले संतों एवं महापुरुषों में भगवान् महावीर, गौतम बुद्ध, शंकराचार्य, गोरखनाथ, संत कबीर साहब, भक्त रैदास, गुरु नानक, संत दादूदयाल, पलटू साहब, संत सुन्दरदास, गोस्वामी तुलसीदास से लेकर वर्तमान युग के रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद आदि के जीवन प्रसङ्गों को निपिबद्ध कर भक्तों के सम्मुख प्रस्तुत किया।

महर्षि मेंही परमहंस महाराज जी ने सभी जातियों को साथ लेकर शिष्य बनाए तथा सामाजिक एकता को नया स्वरूप दिया। 'सत्संग-योग' नामक ग्रन्थ में आपने यह स्पष्ट किया है कि 'अध्यात्म-चिन्तन की जिस महान परंपरा का प्राग्भ वैदिक काल में हुआ था वह हजारों संतों-ऋषियों की साधना के फलस्वरूप वर्तमान समय तक अधुणा रूप से चली आ रही है। इन संतों-महात्माओं ने इस भारत भूमि को उच्च नैतिक मूल्यों तक पहुँचाने के लिए सतत प्रयास किये हैं।' उनका निष्कर्ष है कि वैदिक काल के ऋषियों के विचार तथा आज के संतमत में बड़ा साम्य है।

महर्षि मेंही परमहंस महाराज की माधता जैली संत कबीर, भक्त रैदाम तथा गोस्वामी तुलसीदास की मिली जुली जैली कही जा सकती है। एक ओर वे निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं तथा उनके प्रभु अनिर्वचनीय, अगम-अगोचर हैं। वहीं दूसरी ओर उनका आधार ग्रन्थ श्रीगमचरितमानस है जहाँ पर तुलसीदास के आराध्य दशरथ नन्दन राम हैं। महर्षि जी ने परमात्मा की खोज के लिए बाह्याडम्बर आदि को व्यर्थ बताया है। महर्षि मेंही परमहंस महाराज जी के आज लाखों शिष्य हैं, वे सभी जातियों के हैं तथा इनके आश्रम में जातिगत भेदभाव का पूर्ण निषेध है।

॥ ३७ ॥

## बङ्गभूमि के भक्तों एवं सन्यासियों का सामाजिक दर्शन

बंगाल की धरती को विघाता ने सब कुछ दिया है। शस्य-ग्रामला भूमि, प्रवहमान मणिनाग, घने जंगल, विपुल प्राकृतिक संपदा एवं मनोरम वातावरण। इसी कारण संगीत, कला, साहित्य तथा अध्यात्म आदि का भरपूर विकास भी यहाँ हुआ। किंतु एक हजार वर्ष पूर्व मुहम्मद गौरी के सेनापति बख्तियार खिलजी के आक्रमण ने बंगाल को तहस-नहस कर दिया। यहाँ की जनता में बौद्ध-सिद्धों की बहुलता थी जो इस सशस्त्र एवं क्रूर आक्रमण का मुकाबला नहीं कर सकी। फिर नौ एक के बाद एक मुसलमान शासक सत्ता हथियते रहे। ई. तेरहवीं शताब्दी के बंगाल का वातावरण अंधकार युग जैसा दिखता है। इसी समय नाथयोगियों ने अपनी अलख जगाई तथा धार्मिक जागरण एवं सामाजिक एकता हेतु व्यापक प्रयास किये।

महायोगी गोरखनाथ जी की भाषा बंगाला भाषा के अति निकट होना यह दर्शाता है कि नाथयोगियों ने नाथपंथ का व्यापक प्रचार बंगाल में किया था। संत जयदेव (ई. 12 वीं शताब्दी), महाप्रभु श्रीचैतन्य (ई. 15 वीं शताब्दी), बाउल संत (16 वीं शताब्दी) आदि ने बंगाल में भक्ति-जागरण तथा सामाजिक दूरियों को मिटाने के प्रयास किये।

अंग्रेजों के भीषण अत्याचार के समय धार्मिक-भाव को आधार मानकर समाज जागरण करने वालों में भारतचन्द्र राय गुणाकर (ई. सन् 1713-1761), साधक राम प्रसाद सेन (जन्म ई. सन् 1718), साधक कमलाकान्त भट्टाचार्य (जन्म ई. सन् 1809) आदि ने व्यापक साहित्य रचना की और बंगाल के आध्यात्मिक वातावरण को नवजागरण प्रदान किया। मनुष्य के कष्ट को देखकर ये सभी व्यथित थे और उसे दूर करने के नानाविध उपाय भी उन्होंने किए।

साधक राम प्रसाद सेन ने मानवीय असमानता के विरुद्ध आवाज उठाई और कहा-

“ओ माँ, क्या मैं तुम्हारी महाकरुणा से परिचित नहीं!  
कुछ को अन्न का एक दाना भी नहीं मिलता,  
जबकि दूसरों को विविध व्यंजन और अपरिमित कोष उपलब्ध है।

कुछ शानदार पालकियों में यात्रा करते हैं और कुछ उन्हें अपने कंधों पर ढोते हैं; कुछ कीमती शाल ओढ़ते हैं और कुछ के पास शरीर की तरनता ढकने को चीथड़े तक नहीं होते।”

(भारत की संस्कृति और कला पृ. 317)

ई. 19 वीं शताब्दी से स्वामी रामकृष्ण परमहंस, श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर, महर्षि अरविन्द घोष, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी प्रणवानन्द, लोकनाथजी ब्रह्मचारी एवं रामकृष्ण परमहंस की विशाल शिष्य गण्डली के संन्यामियों ने धार्मिक पृष्ठभूमि के साथ सामाजिक जागरण की धूम मचा दी। तरुण संन्यासी स्वामी विवेकानन्द की सिंह गर्जना से देश तथा विदेशों में भी हिन्दू धर्म के श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान एवं सामाजिक ऐक्य को नई परिभाषाएं मिलीं। इस प्रकार संतों एवं भक्तों द्वारा चलाए गए विगत एक हजार वर्षों के धार्मिक जागरण एवं सामाजिक समरसता के प्रयासों पर हम संक्षेप में चर्चा करेंगे।

\* श्रीचैतन्य महाप्रभु - (वि.सं. 1542-1590; ई.सन्. 1485-1533)

श्रीचैतन्य महाप्रभु का जन्म नदिया जिला (पश्चिम बंगाल) में हुआ था। बचपन का नाम विश्वम्भर था जो आगे चलकर गौरांग हो गया। छोटी आयु में ही वे कृष्णभक्ति में लीन रहते थे। बाद में इश्वरपुरी के शिष्य हो गये तथा 24 वर्ष की आयु में संन्यास ले लिया और ‘श्रीकृष्ण चैतन्य’ नाम मिल गया।

पंद्रहवीं शताब्दी में जब संत कबीर, भक्त रैदास ने निर्गुण भक्ति की तथा गोस्वामी तुलसी के श्रीरामचरितमानस ने सगुण भक्ति की धूम मचायी तभी श्रीगुरु नानकदेव (1469 - 1538 ई०) ने पश्चिमी सीमावर्ती क्षेत्र में भक्ति-आंदोलन तथा सामाजिक समरसता की अलख जगाई हुई थी, उसी समय पूर्व तथा दक्षिण पूर्व में एक अत्यंत तेजस्वी भगवद्भक्त श्रीचैतन्य महाप्रभु (1485-1533 ई०) हरिस्मरण का आंदोलन चला रहे थे। इन्होंने भारतीय समाज को नैतिकता, साधुता तथा भक्ति के नए आयाम दिए। लाखों की संख्या में विचारक, कवि, कृषक, व्यापारी आदि इस भक्ति-आंदोलन के साथ जुड़ते चले गए। इस आंदोलन में विनम्रता तथा महजता थी। भक्तिभाव के कारण समर्पण तथा सहनशीलता ने समाज की सभी दूरियों को नष्ट कर दिया। इस प्रकार श्रीचैतन्य महाप्रभु के सहज प्रयासों से जातिभेद से दूर, वर्णविहीन तथा अनुष्ठान रहित पूजा पद्धति वाला समाज विकसित होता जा रहा था। इसके अन्दर किसी भी प्रकार के सामाजिक बन्धन तथा भेदभाव को स्थान

नहीं था। श्री चैतन्य महाप्रभु ‘हरि बोल’ नाम से भजन संकीर्तन करते थे। उन्होंने वन्दनावन, जगन्नाथपुरी के साथ देश के अनेक स्थानों पर भक्ति-भाव की निर्मल गंगा प्रवाहित की। महाप्रभु ने जीवन के अन्तिम बारह वर्ष जगन्नाथपुरी में बिताये। कहते हैं कि जगन्नाथ जी की प्रतिमा के साथ ही वे समाहित हो गये।

भक्ति में कोई भेदभाव नहीं- श्रीचैतन्य देव को तो सभी के अन्दर प्रभु दिखना था। वे सभी को प्रेम-पूर्वक कहते थे ‘हरि बोल’। घोबी, कुम्हार, चमार आदि लोगों के पास बैठकर हरिबोल संकीर्तन करवाते थे। उसका काम अपने हाथ में लेकर कहते थे बोल हरि, बोल हरि। अश्रुधारा बहती रहती थी, वे तन्मय हो जाते थे। श्रीचैतन्य कहते हैं कि भक्ति में जाति का कोई अर्थ नहीं है -

“नीच जाति नहिं कृष्ण भजने अयोग्य, सत्कुल विप्र नहिं भजनेर योग्य।  
जेइ भजे सेइ बड़ो अभक्त हीन छार, कृष्ण भजने नहिं जाति कुल विचार॥”

अर्थात् ‘छोटी कही जाने वाली जाति के लोग कृष्ण भजन के लिये अयोग्य नहीं हैं। अच्छे कुल का ब्राह्मण होने से ही वह भजन के लिये योग्य नहीं हो जाता। जो भजता है वही बड़ा है, अभक्त ही तुच्छ है। कृष्ण के भजन में जाति कुल का कोई विचार नहीं है।’ श्रीचैतन्य महाप्रभु के सैकड़ों शिष्य तथाकथित छोटी जातियों एवं मुसलमानों में से आए थे।

घनघोर निराशा के उस काल में श्रीचैतन्य महाप्रभु एक प्रेरक जीवनी-शक्ति के रूप में अवतरित हुए थे। वे लोक की पीड़ा को अनुभव करके चल रहे थे। उनका ‘हरि’ सभी के अन्दर विराजमान था। उनके संकीर्तन की स्वर-लहरी ने जन-आन्दोलन का स्वरूप ले लिया। मुस्लिम विजेता शासकों के डर के कारण जहाँ मुँह में बोल नहीं फूटते थे वहाँ ‘हरि बोल-हरि बोल’ के संकीर्तन से ग्राम-गलियों भूँज उठी। झाँझ, मजीरे, मृदंग, घुँघरू के हृदयस्पर्शी स्वर से ऐसे बोल फूटे कि दिग्विगत गुंजरित होने लगा। लोगों को अपने ऊपर विश्वास होने लगा हमारे अन्दर भी हिम्मत है, हमारे प्रभु हमारे साथ हैं। अपनी आस्थाओं पर हम सगर्व टिके रह सकते हैं। हिन्दू समाज की लुप्त हो रही चेतना पुनः वापस आने लगी। सर्कस में चाबुक की फटकार पर उठने-बैठने वाले पालतू शेरों की तरह जीवन जी रहा हिन्दू समाज पुनः अपने आत्मबल की अनुभूति करने लगा। मुझाए हुए चेहरे पुनर्दीप्त होने लगे। मुद्दों में भी जान आ गई।

श्रीचैतन्य तो ‘हरि-हरि’ कहकर सभी को अपने हृदय से लगा लेते थे। यदि कोई कहता कि मैं तो हीनजन्मा हूँ, आपके स्पर्श योग्य नहीं हूँ तो वे हँस कर कह देते

थे- 'श्रीकृष्ण और उनके भक्त हर जाति में हैं। वे हर रूप में मिलते हैं। उन्हें स्पर्श करने में भला कौनमा धर्मशास्त्र दोष निकाल सकता है? भगवान् नीचों के प्रति अधिक कृपानु होते हैं। कुलीनों और पंडितों को अपने कुल, विद्या आदि का अभिमान होता है। श्रीकृष्ण तो उसे मिलते हैं जो महनशील होकर, अमानी होकर भी दूसरों को मान देकर उनका भजन करना है।' (चैतन्य महाप्रभु, पृ.-135)

**श्रीचैतन्यदेव की अहैतुकी भक्ति का मर्म-** श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सर्वत्र भक्ति का ही सन्देश दिया। राजमहल से लेकर मणिकर्णिका (काशी के श्मशान) घाट के चाण्डाल तक वे इसका प्रमाद वितरित करते रहे। मनुष्य-मनुष्य के मध्य किमी भी प्रकार की विभाजक रेखाओं को उन्होंने नष्ट कर दिया। दक्षिण भारत से लेकर उत्तर तक, पश्चिमी तट से लेकर असम की उपत्यकाओं में उस भक्ति की गूँज उठने लगी। यह भक्ति किसी भी प्रकार के हितसाधन, अपेक्षा या कामना से कोमों दूर रही थी। यह भक्ति सर्व-सापेक्षवान थी। इसके सम्मुख बड़े-बड़े महाराज भी तुच्छ थे, शरणागत थे। उसी भक्ति के लिये श्रीचैतन्य देव प्रभु से प्रार्थना करते हैं-

“ न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।

मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥”

(श्रीचैतन्य महाप्रभु, पृ.370)

अर्थात्, 'हे जगदीश्वर, मैं धन, जन, कविता अथवा सुन्दरी-कुछ भी नहीं चाहता, हे ईश्वर, जन्म-जन्मान्तरों में आपके प्रति मेरी अहैतुकी भक्ति हो।' स्वामी विवेकानन्द कहते हैं - 'यह अहैतुकी भक्ति, यह निष्काम कर्म, यह निरपेक्ष कर्तव्य-निष्ठा का आदर्श धर्म के इतिहास में एक नया अध्याय है। मानव इतिहास में पहली बार भारतभूमि पर सर्वश्रेष्ठ अवतार श्रीकृष्ण के मुख से पहले-पहल यह तत्व निकला था। भय और प्रलोभनों के धर्म सदा के लिए विदा हो गए और मनुष्य-हृदय में नरक-भय और स्वर्ग-सुखभोग के प्रलोभन होते हुए भी प्रेम के निमित्त प्रेम, कर्तव्य के निमित्त कर्तव्य, कर्म के निमित्त कर्म जैसे सर्वोत्तम आदर्शों का अभ्युदय हुआ।' श्रीचैतन्य महाप्रभु के बहुआयामी व्यक्तित्व के बारे में श्री रामकृष्ण परमहंस कहते हैं कि- 'श्रीचैतन्य का ज्ञान सौर-ज्ञान था-ज्ञान सूर्य का प्रकाश था, और उनके भीतर भक्तिचन्द्र की ठण्डी किरणें भी थीं। ब्रह्मज्ञान और भक्तिप्रेम के समन्वित स्वरूप चैतन्य महाप्रभु थे। श्रीचैतन्य महाप्रभु की जब बाह्य दशा होती थी, तब वे नाम संकीर्तन करते थे। अर्धबाह्य दशा में भक्तों के साथ नृत्य करते थे तथा अन्तर्दशा में समाधिस्थ हो जाते थे। श्रीचैतन्य भक्ति के अवतार थे। वे जीवों को

भक्ति की शिक्षा देने के लिए आये थे।' (श्रीचैतन्य महाप्रभु, पृ.367)

स्वामी विवेकानन्द ने श्रीचैतन्य के सामाजिक समरसता के प्रयासों के बारे में कहा है कि- 'श्रीचैतन्य देव स्वयं एक ब्राह्मण थे, वे न्याय के अध्यापक थे, नर्क द्वारा सभी को परास्त करते थे। किसी महापुरुष की कृपा से उनका सम्पूर्ण जीवन बदल गया, तब उन्होंने वाद-विवाद, तर्क, न्याय का अध्यापन आदि सब कुछ छोड़ दिया। संसार में भक्ति के जितने भी बड़े-बड़े आचार्य हुए हैं, प्रेमोन्मत्त चैतन्य उनमें से एक श्रेष्ठ आचार्य हैं। उनकी भक्तितरंग सारे बंगाल में फैल गई जिससे सबके हृदय को शांति मिली। उनके प्रेम की सीमा न थी। साधु, असाधु, हिन्दू, मुसलमान, पवित्र, अपवित्र, वेश्या, पतित सभी उनके प्रेम के भागी थे, वे सब पर दया रखते थे। .... वे स्वयं भारत भर में नंगे पैर द्वार-द्वार पर जाकर चाण्डाल तक को उपदेश देते थे तथा भगवान् के प्रति प्रेमसम्पन्न होने की भीख माँगते फिरे।' (वही, पृ.368-369)

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने विदेशी शासकों के प्रबल प्रताप, विधर्मी स्वभाव एवं कठोर सामाजिक नियन्त्रण की उपेक्षा करते हुए भक्तिजागरण के द्वारा सामाजिक एकता का सन्देश देना जारी रखा। वर्तमान बंगाल के धर्म, संस्कृति, भाषा, साहित्य, संगीत, कला आदि सभी क्षेत्रों में जो गौरवमयी स्वरूप दृष्टिगोचर होता है वह सब श्रीचैतन्य महाप्रभु की भावराशि से ही परिपुष्ट हुआ है। हजारों लोगों ने अपनी जन्मजात वर्जनाओं का अतिक्रमण कर अपनी भक्तिसाधना तथा गुणों के आधार पर गोस्वामी की उपाधि अर्जित की और समाज में शीर्षस्थान पर पहुँचकर ब्राह्मण के आसन पर स्थापित हो गए तथा सैकड़ों वर्ष तक समाज को सत्य पर ले चलने का यशस्वी कार्य भी करते रहे।

पूर्वांचल की पर्वत श्रृंखलाओं में रहनेवाली अनेक जनजातियों को हिन्दू समाज के मूल प्रवाह में लाने का कार्य श्रीचैतन्य देव के इन शिष्यों ने अत्यन्त सफलता पूर्वक सम्पन्न किया। नागा, गारो, खासी, टिपरा तथा अन्य अनेक पार्वत्य जनजातियों ने उनकी कृपा से उन्नति की है। मणिपुर का बहुसंख्य वैष्णव समुदाय आज कृष्ण-भक्ति में मगन हुआ दिखता है तो इसकी पृष्ठभूमि में भी श्रीचैतन्य देव की दिव्य प्रतिमा दृष्टिगोचर हो जाती है। असंख्य पतित, अस्पृश्य, विधर्मी तथा असभ्य कहलाए जाने वाले लोग श्रीचैतन्य देव की कृपा से विराट हिन्दू समाज के अंगीभूत हो गए।

### \* कृतिवास रामायण (ई.सन् .15वीं शताब्दी)

कृतिवास रामायण के लेखक भक्त कृतिवास वंगभाषा के आदिकवि माने जाते हैं। इस रामायण का रचनाकाल ई0 सन् .1467 मे 1472 है। प्रारंभ मे मंगूत के अभिमानि पंडितों ने कृतिवास की रचना का बड़ा उपहास किया। चारों ओर मे आक्षेप और प्रहार होने लगे किन्तु परम स्वाभिमानि, संस्कृत और बांग्ला भाषाओं के समान रूपेण विद्वान, कृतिवास की दृढ़ता के कारण पंडितों का मिथ्या अहंभाव टिक नहीं पाया। थोड़े ही समय में इस महाकाव्य ने बंगाल में चिरंतन स्थान प्राप्त कर लिया। आज वह बंग भाषा-भाषियों के रंग में ओतप्रोत है। भावसुस्पष्ट और भाषा प्रांजल, सरल एवं रोचक होते हुए भी अतुल पांडित्यपूर्ण है। इसके सात काण्ड हैं। अति सरल सुबोध छंदों में वर्णित पांचाली गान है। भाषा सरल, अनुप्रास अलंकार से युक्त तथा भाव और कवित्व कल्पना से परिपूर्ण है। इस कारण कृतिवास रामायण का वाचन-पाठन सभी जाति-वर्गों द्वारा श्रद्धापूर्वक किया जाता है।

### \* बंगाल के बाउल संत (ई.सन् .16 वीं से 19 वीं शताब्दी तक)

ईसा की 15 वीं शताब्दी में पूरा भारतवर्ष वैष्णव भक्ति के प्रेमपूर्ण आन्दोलन तथा मानवतावादी सम्यक् जीवनदृष्टि से प्रभावित होकर भावात्मक एकता के सूत्र में आवद्ध हो गया था। उन्हीं दिनों में बंगाल के बाउल सन्त निगुण परम्परा के स्वरूप की भक्तिभाव से आगे बढ़ते हैं।

बंगाल के बाउल सन्त, महाप्रभु श्रीचैतन्य (ई.सन् .1485-1533) के समकालीन नित्यानन्द के पुत्र वीरभद्र को अपने सम्प्रदाय का आदि प्रवर्तक मानते हैं। आगे चलकर बाउल सन्त पूरे बंगाल में फैल गये। क्षितिमोहन सेन बाउल सन्तों के बारे में लिखते हैं- “अनेक शताब्दी से जाति-पाँति से बहिर्भूत निरक्षर एक दल, साधक शास्त्र भार-मुक्त, मानव-धर्म की ही साधना करता चला आ रहा है। वे मुक्त पुरुष हैं, इसलिये समाज का कोई बन्धन नहीं मानते, फिर भी समाज उन्हें क्यों छोड़ेगा? तब उन लोगों ने कहा था- हम लोग पागल हैं, हमारी बात छोड़ दो। ‘बाउल’ का अर्थ भी पागल होता है।” (कबीर और भारतीय संत साहित्य, पृ0 105)

‘बाउल’ तो प्रेममग्न तथा सभी प्रकार के नियमों विधानों से सर्वथा मुक्त ‘मनेर मानुष’ का चिरअन्वेषी है। सभी को प्रेम करना, कोई भी भेदभाव नहीं मानना, किसी भी प्रकार की आसक्ति से दूर रहना, आनन्द के साथ मस्त होकर गीत गाना, नाचना तथा अपने पीछे कोई परम्परा न छोड़ना ही बाउल जीवन का सार है। ये किसी देवी-देवता की पूजा नहीं करते किन्तु प्रेमधारा में मग्न रहते हैं।

बाउलों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी ‘मनेर मानुष’ की अवधारणा है। श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर कहते हैं- “हमारे ऋषियों ने ब्रह्म अर्थान परमतत्त्व (That the ultimate substance) का अन्वेषण किया। बाउल शास्त्र के विद्वान नहीं हैं वे तत्त्व-दर्शन के भ्रमजाल में भी नहीं पड़ते। उन्हें तो एक व्यक्ति या पुरुष से मतलब है। इसलिये उनके हृदय में विद्यमान पुरुष ‘मनेर मानुष’ ही उनका ईश्वर है। यह शाश्वत है और प्रत्यक्ष है।” (वही, पृ0 109)

बाउल सन्त इस अन्तस् के मानुष की अनुभूति करके आनन्दित होता है, उसी को दूढ़ता है। यह उनके सर्वश्रेष्ठ आदर्श का प्रतीक है। यही उनके महज प्रेम का आधार है यही तत्त्वतः पूर्ण ब्रह्मकमल की तरह है। इसी को दूढ़ता हुआ बाउल गाता है-

“कोथाय पाय तारे, आमार मनेर मानुष जे रे।

हाराये सेइ मानुषे तार उदेशे, देश विदेश वेड़ाइ घूरे।।”

(मध्यकालीन प्रेम साधना, परशुराम चतुर्वेदी, पृ-29)

अर्थात्, ‘कहाँ मिलेंगे मेरे मन के प्रभु, मैं आपको देश-विदेश सभी स्थानों पर दूँ रहूँगा’ बाउलों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का बाहरी आकार उसका ‘रूप’ है तथा उसका अन्तर्गत निजस्व ‘स्वरूप’ है। रूप के माध्यम से स्वरूप की साधना का लक्ष्य है। ‘बाउल’ जड़ देह के माध्यम से ही मनेर मानुष की प्राप्ति और उस से आनन्द की अनुभूति करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक पुरुष के शरीर में कृष्ण विराजमान हैं। अर्थात् रूप में पुरुष, स्वरूप में कृष्ण। इसी प्रकार प्रत्येक स्त्री में राधा की अनुभूति वे करते हैं। अर्थात् रूप में स्त्री, स्वरूप में राधा। प्रत्येक बाउल के लिये यह शरीर रूप है तथा इसका स्वरूप ही ‘मनेर मानुष’ है। यह विचारधारा निगुणी सन्तों के बहुत निकट है। जिस प्रकार निगुणी सन्त अपने राम को खोजते हैं उसी प्रकार बाउल ‘मनेर मानुष’ को खोजते हैं। जिस प्रकार निगुणियों का राम सभी के अन्तर में घट-घट वासी राम ही है उसी प्रकार बाउलों का ‘मनेर मानुष’ भी सभी के अन्तर में बैठा ‘स्वरूप’ है। इस प्रकार बाउल सन्तों की साधना रूप से स्वरूप तक पहुँचने की साधना है। बाउल जातिभेद नहीं मानते।

अठारहवीं शताब्दी में लालन साई नामक एक बाउल सन्त हुआ था। उसने अपने भजनों में कबीर तथा रैदास को भी याद किया है। वह जातिगत भेदभाव का घोर विरोधी था। एक गीत में लालन संत कबीर और भक्त रैदास की भक्ति की प्रशंसा करता है तथा कहता है संत कबीरदास तो जुलाहा और रैदास मोची थे

इसमें भक्ति में क्या अन्तर पड़ता है-

“भक्तिर द्वारे बाँधा आछे न सार्ई,  
हिन्दु कि यवन बले, तार काछे जातेर विचार नार्ई।  
भक्त कबीर जेते जोलों, प्रेम भक्ति ते मातोयाला,  
धरेखे सेई ब्रजेर काला।  
दिये सर्वस्व धन तार, रायदास मुचि एइ भवेर परे  
पेलो रतन भक्तिर जोरे, तार स्वर्गे सदाइ घटा पड़े  
साधुर मुखे शुनते पाइ।

एक चौद हय जगत आलो, एक बीजे सब जन्म हलो,  
फकिर लालन कय, मिछे कल केन करिम सदाई॥”

(बंगाल के बाउल और उनका काव्य, भाग-1, पृ० 142)

अर्थात् - ‘स्वामी तो भक्ति के वश में हैं। हिन्दू हो या मुसलमान उनके लिये जाति का कोई विचार नहीं है। भक्त कबीर जाति से जुलाहा थे वे प्रेमभक्ति में मतवाले थे। उन्होंने अपना सब कुछ देकर कृष्ण को अपने वश में कर लिया था। भक्त श्रेष्ठ नैदास मोची थे किन्तु उन्होंने भक्ति रूपी रत्न पाया था। साधुओं के मुँह से सुना है कि उसके स्वर्ग में सदा घण्टा बजता है। एक चन्द्रमा से साग जग प्रकाशित है। एक ही बीज में सबकी उत्पत्ति हुई है। लालन फकीर कहता है कि फिर (जानि-पानि को लेकर) क्यों झगड़ा करने हो। अपने एक गीत में लालन जाति-पानि की व्यर्थता तथा मन कबीर का उल्लेख करने हुए श्री जगन्नाथजी का उदाहरण देते हैं-

“एक बार जगन्नाथ देख रे थेये, जात केन राख बाँचिये।  
चाण्डाल आनिले अन्न बाह्याणे ताइ लय खेये॥  
जोला छिलो कबीरदास।

धर्म प्रभु जगन्नाथ, चाय नारे से जात-अजात, भक्ते अधीन से॥”

(बंगाल के बाउल और उनका काव्य, भाग-1, पृ० 143)

अर्थात् - ‘एक बार पुनः के जगन्नाथजी को तो देखिये। यहाँ आपकी जाति कैसे बचेगी? यहाँ तो चाण्डाल का लाया हुआ अन्न ब्राह्मण खा लेता है। कबीरदास तो जुलाहा थे। धर्म-प्रभु जगन्नाथ जाति-अजाति नहीं देखते। वे तो भक्ति के अधीन हैं।’ ऐसा लगता है कि, बाउल लोग कबीर, नैदास आदि सन्तों से परिचित हैं। सन्तों की तरह प्रेम-माधना और प्रभुनिष्ठा में वे रमे हुए हैं। जातिपानि विरोधी

विचार उनके आदर्श हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि बाउल मन्त्र भी देशव्यापी मन्त्र परम्परा के अंग के रूप में विकसित हुए हैं तथा ‘मनेर मानप’ की अपनी स्वतन्त्र परिभाषा के साथ अपनी साधना के स्वरूप में मानवतावादी स्वर को ही प्रवृत्त करने हैं। व्यर्थ के कर्मकाण्डों तथा जातिगत भेदभाव से बहुत दूर भक्ति को ही प्रमुखता देते हैं।

\* श्रीरामकृष्ण प्रमहंस (वि.सं. 1893-1943; ई.सन्. 1836-1886)

श्री रामकृष्ण प्रमहंस (ठाकुर) का जन्म हुगली (प० बंगाल) जिले के कामारपुकुर नामक ग्राम में हुआ था। विचपन का नाम गदाधर था। नौ वर्ष की आयु में यज्ञोपवीत के समय पहली शिक्षा किसी ब्राह्मण के घर न माँगकर परिवार के तीव्र विरोध के बावजूद तथाकथित एक शूद्र परिवार में वे शिक्षा माँगने गये। सन् 1855 में रानी गममणि (शूद्रा केवट) ने एक काली मन्दिर का निर्माण कलकत्ता में कराया किन्तु ब्राह्मण पुजारी न मिला और अन्त में उन्होंने यह मन्दिर श्री रामकृष्ण के बड़े भाई राम कुमार को भेंट में दे दिया। श्री रामकृष्ण भी यही आ गये और इसी के पुजारी बन गये।

अध्यात्म की ऊँचाई को श्रीरामकृष्ण ने प्राप्त किया। इस्लाम, ईसाई, सिख तथा बौद्ध आदि पूजा पद्धतियों का अनुभव किया और उनकी चरम लक्ष्य की अनुभूति की। निर्विकल्प समाधि सहित सभी साधनाएँ सफलता के शिखर तक पूर्ण कीं। सभी सम्प्रदाय एक माला के अनेक घाट की तरह हैं तथा सभी मतों के लोग अपने-अपने घाट पर वही जल भरते हैं जो एक परमतत्त्व के रूप में है।

दीनदुखियों के लिये करुणा का सागर- दीनदुखियों एवं तथाकथित अस्पृश्य वन्धुओं के लिये उनके हृदय में असीम करुणा थी। किसी भी प्रकार उनका दुःख दूर हो, यही प्रयास श्रीरामकृष्ण परमहंस का रहता था। काशी तीर्थयात्रा पर जाते समय देवघर के निकट भूय से व्यथित लोगों को देखकर श्री मथुराबाबू को उन्होंने कहा पहले इन सभी को पेट भर भोजन तथा कपड़ा दो तभी आगे बढ़ेंगे। श्री मथुराबाबू ने कहा फिर तो काशी की यात्रा नहीं हो सकेगी। ठाकुर (श्रीरामकृष्ण परमहंस) ने कहा कोई बात नहीं वापस चले जाएंगे। कलकत्ता में कपड़े मंगवाये, सभी को दिलवाये सब ठाकुर आगे बढ़े। उन्हीं गरीबों के मध्य जाकर ठाकुर स्वयं बैठ जाते थे।

दीन दुखियों की सेवा हेतु सन्यासियों की टोली बन गयी- अध्यात्म के शिखर पर पहुँचे एवं ईश्वर साक्षात्कार करने वाले ठाकुर, दीन-दुखियों की सेवा में

व्याकुल थे। दीन दुखियों की सेवा के लिये वे संन्यासियों की टोली तैयार कर रहे थे। मार्क्सवादी प्रेम तथा समन्वय का मन्देश लेकर ये लोग देश भर में, निकल जायें यही उनका लक्ष्य था। इन शिष्य संन्यासियों में प्रमुख थे- लाटू (अद्भुतानन्द); राखाल चन्द्र घोष (स्वामी ब्रह्मानन्द); गोपाल घोष (स्वामी अद्वैतानन्द); नरेन्द्रनाथ दत्त (स्वामी विवेकानन्द); तारक नाथ घोषाल (स्वामी शिवानन्द); बाबूगाम घोष (स्वामी प्रेमानन्द); योगीन्द्र नाथ राय चौधुरी (स्वामी योगानन्द); शरन् चन्द्र चक्रवर्ती (स्वामी सारदानन्द); शशि भूषण चक्रवर्ती (स्वामी रामकृष्णानन्द); हरिनाथ चटर्जी (स्वामी तुरीयानन्द); गंगाधर घटक (स्वामी अखण्डानन्द); हरिप्रसन्न चटर्जी (स्वामी विज्ञानानन्द); काली प्रसाद चन्द्र (स्वामी अभेदानन्द); सुबोध चन्द्र घोष (स्वामी सुबोधानन्द); सारदा प्रसाद मिश्र (स्वामी त्रिगुणातीतानन्द); निरंजन घोष (स्वामी निरंजनानन्द)।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस जी के निर्देशानुसार स्वामी अखण्डानन्द जी ने सेवा कार्य प्रारंभ कर दिये। स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने इन सभी संन्यासियों का दायित्व स्वामी विवेकानन्द के कंधे पर डाल रखा था। भारत के दीन-दुखियों के उत्थान के लिये जीवन-पर्यन्त सेवा करने का संकल्प लेकर स्वामी विवेकानन्द इस कार्य में लग गये।

ठाकुर के हृदय में इन अस्पृश्य लोगों के प्रति करुणा का भाव कैसा था कि देर रात्रि में जब सब सो जाते थे तब वे झाड़ू लेकर अछूतों की बस्ती की सफाई करने जाते थे तथा अपने सिर के बालों से हरिजनों के दरवाजे साफ करते थे। प्रातः होने के पूर्व श्रीरामकृष्ण वापस आ जाते थे। वे स्वयं कहते हैं- “जाति-पाँति का भाव मेरे लिये विलकुल निरर्थक हो गया। एक तथाकथित नीच जाति के आदमी ने अपनी स्त्री द्वारा पकायी सब्जी मुझे भेजी, उसे मैंने बड़े आनन्द से खाया।” श्रीरामकृष्ण का सारा व्यवहार एक ही सिद्धान्त पर आधारित है वह है- अद्वैत। अर्थात् सभी जीवों में वही परमेश्वर है। “सच्ची सेवा प्रभु की सच्ची आराधना है।” उन्होंने कहा- “दीनों पर दया, दया नहीं, सेवा-सेवा। वे तो स्वयं नारायण के जीते जागते स्वरूप हैं तुम्हें केवल उनकी सेवा करने का अधिकार है।” वे कहते हैं कि ‘नरसेवा ही नारायण सेवा है।’

\* **स्वामी विवेकानन्द**-(वि.सं.1920-1959; ई.सन्.1863-1902)

स्वामी विवेकानन्द विगत वर्षों में एक ऐसे संन्यासी हैं जो दरिद्र, अस्पृश्य, अशिक्षित एवं रोगी बन्धुओं की वेदना से दुखी होकर हिन्दू समाज का आह्वान

करते हैं कि इनकी समस्याएं, कौन दूर करेगा ? इनकी इस स्थिति के लिये कौन जिम्मेदार है ? केरल की भयावह जाति व्यवस्था को देखकर उन्होंने कहा ‘Kerala is the lunatic asylum of India’ अर्थात्, ‘केरल तो एक पागलघाना हो गया है।’ वे ऐसे संन्यासी थे जिनकी आँखों से, इस दुष्ट को देखकर, अश्रुधारा बहती थी और उन्होंने हिन्दू समाज को एक तेजस्वी आह्वान किया। स्वामी जी ने हिन्दू समाज की मुत्त-भ्रान्ताओं को जगाया। उन्होंने कहा - “मत भूल कि नीच, अज्ञानी, दरिद्र, अपढ़, चमार, मेहतर सब तेरे रक्त माँस के हैं, वे सब तेरे भाई हैं। बोल ! अज्ञानी भारतवासी, दरिद्र भारतवासी, पीड़ित भारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी सभी मेरे भाई हैं। सभी ईश्वर के रूप हैं, समझ ले, दरिद्र जो तेरे दरवाजे पर आया है नारायण का स्वरूप है, बीमार-नारायण है, भूषा-नारायण है। सभी ईश्वर के ही रूप हैं।”

तुम कब हिन्दू कहला सकते हो ? - स्वामी विवेकानन्द ने मानवीय सेवा को नया आयाम दिया। स्वामी जी ने कहा कि- “सेवा करके तुम किस पर उपकार कर रहे हो ? यह तो तुम्हारा भाग्य है कि तुमको सेवा का अवसर मिल रहा है। उस ईश्वर को प्रणाम करो जिसने तुम्हें यह सुअवसर प्रदान किया है। गरीब और दुखी लोग हमारी ही मुक्ति के लिये हैं ताकि हम रोगी, पागल, कोढ़ी के रूप में अपने सामने आने वाले प्रभु की सेवा कर सकें। प्रत्येक हिन्दू के साथ भाई जैसा व्यवहार करो। यह केवल शब्दों की बात नहीं है। ध्यान रखो हिन्दू समाज के अन्य बन्धुओं के साथ तुम्हारा व्यवहार कैसा है ? हिन्दू तो उन ऋषि-मुनियों की सन्तान हैं जिन्होंने दूसरों के हित के लिये सर्वस्वार्पण कर दिया।”

साहौर के भाषण में हिन्दू समाज में आपस का प्रेम और समरसता की भावना कैसी हो इसकी सर्वश्रेष्ठ परिभाषा करते हुये स्वामी जी कहते हैं - “मेरी बात पर ध्यान दो ! तुम कब हिन्दू कहलाने के योग्य हो ? तभी और केवल तब ही तुम हिन्दू कहलाने के अधिकारी हो, जब इस नाम को सुनते ही तुम्हारी रगों में शक्ति की विद्युत तरंग दौड़ जाए।”

“Mark me, then and then alone you are a Hindu when the very name sends through you a galvanic shock of strength.”

“तभी और केवल तब ही तुम हिन्दू कहलाने के अधिकारी हो जब इस नाम की धारण करने वाला प्रत्येक व्यक्ति वह चाहे किसी भी देश का हो, वह चाहे हमारी भाषा बोलता हो अथवा कोई अन्य भाषा बोलता हो, प्रथम मिलन में ही तुम्हारा सगे से सगा तथा प्रिय से प्रिय बन जाता है।”

"Then and then alone you are a Hindu when every man who bears the name, from any country, speaking our language or any other language, becomes at once the nearest and the dearest to you."

"नभी और केवल तब ही तुम हिन्दू कहवाने के अधिकारी हो जब इस नाम को धारण करने वाले किसी भी व्यक्ति का दुःख-दर्द तुम्हारे हृदय को इस प्रकार व्याकुल कर दे मानो तुम्हारा अपना पुत्र मर चुका हो।"

"Then and then alone you are a Hindu when the distress of anyone bearing that name comes to your heart and makes you feel as if your own son were in distress."

(Lectures from Colombo to Almora. Page-323)

हिन्दू समाज की दुःखपूर्ण स्थिति को देखकर उन्होंने लाखों युवकों को मानभूमि की सेवा हेतु आगे आने के लिये आह्वान किया। हजारों युवक आगे आये तथा इन की सहायता से उन्होंने दीन-दुखियों की सेवा तथा शिक्षा आदि कार्यों के लिये रामकृष्ण मिशन की स्थापना की।

स्वामी विवेकानन्द ने संन्यासियों को कहा- "देखो, ये दीन-हीन-निरक्षर जन कितने सरल हृदय हैं। क्या तुम उनका कष्ट कुछ भी कम न कर सकोगे? तब हमारे गरुआ वस्त्र धारण करने का प्रयोजन क्या होगा? कभी-कभी मेरा मन कहता है, मठ आदि निर्माण करके क्या होगा? इन्हें बेच-वाच कर कुल गणि दरिद्रनारायण को अर्पित कर दो। हम वृक्ष की छाँह में बसेरा करने वालों को घर-द्वार की चिन्ता क्यों हो? हाय! हमारे देशवासी जब रोटी कपड़े को तरस रहे हों तब क्या हम अपने मुख में ग्रास देने लज्जित नहीं होते? माँ, क्या उनकी निष्कृति नहीं है? तुम जानते हो पश्चिम में धर्म प्रचार करने जाने का मेरा एक उद्देश्य अपने देशवासियों के भरण-पोषण के लिये साधन खोजना था। उनका दुःख-दैन्य देखकर कभी-कभी मैं सोचता हूँ, फेंक दो यह सब पूजा-पाठ का आडम्बर, शंख फूँकना, घंटी बजाना और दीप लेकर आरती उतारना बंद कर दो। निजी मुक्ति की साधना का, शास्त्र के ज्ञान का घमण्ड छोड़ दो। गाँव-गाँव में घूमकर दरिद्र नारायण और दलितों की सेवा में जीवन अर्पित कर दो। अपने चरित्रबल से, आध्यात्मिक शक्ति से, पवित्र जीवन से सम्पन्न महानुभावों को समाज के प्रति उनके अनेक कर्तव्य का दोध्र कराओ, धन व साधन संग्रह करो जिससे दीन दुखी की सेवा हो सके। देखो कैसे हिन्दुओं की महानुभूति-शून्यता के कारण मद्रास प्रदेश में महश्वी अछूत, ईसाई मत ग्रहण करने जा रहे हैं। यह मत समझो कि वे भूख के मारे ही धर्म परिवर्तन को तैयार हुए हैं। वे ईसाई इसलिये हुए हैं क्योंकि तुम अपनी संवेदना उन्हें दे नहीं सके। तुम निरन्तर उनसे कहते रहे हो, छुओ मत। यह मत छुओ, वह मत छुओ। यह स्पष्ट समझ लो कि

जब तक ये जन नहीं उठेंगे, भारतमाना का उद्धार नहीं होगा। यदि हम उनके वस्त्र-अन्न भी जुटा पायें तो हम काम के जाओ, मंत्र मिलकर चेष्टा करके उनके आँखों पर मे अज्ञान का पर्दा हटा दो।"

■ स्वामी प्रणवानन्द :- (वि.सं. 1953-1998; ई.सन्. 1896-1941)

बंगाल के फरीदपुर (अब बांग्लादेश) जिले में स्वामी प्रणवानन्द जी का जन्म हुआ था। वत्सन्त का नाम विनोद था, जो मंत्र्यास ग्रहण करने तक रहा। गवह वर्ष की आयु में उन्होंने गोरगपुर के गम्भीरानन्द जी से दीक्षा ली। सन् 1919 के चक्रवात में स्वामी जी ने 'पूर्व बंगाल सहायता समिति' की स्थापना की जिसके द्वारा सभी शिष्यों को लेकर स्वामी जी सहायता कार्य में जुटे रहे। स्थान-स्थान पर सेवाश्रम खुलने लगे। स्वामी जी ने किसी भी प्रकार का जातिगत भेदभाव नहीं माना। भारत सेवाश्रम संघ की स्थापना करके सेवाकार्य को बढ़ाने का अवसर मिला। सन् 1923 की विकराल बाढ़ के समय भारत सेवाश्रम संघ के नौकड़ों युवा संन्यासी सहायता कार्यों में लग गये। सन् 1924 में प्रयाग कुम्भ के अवसर पर उन्होंने स्वामी गम्भीरानन्द गिरि से संन्यास ग्रहण किया।

धार्मिक-स्थलों पर व्यवस्था - गया में पण्डों द्वारा लूट का दृश्य देखकर सन् 1924 में वहाँ एक आश्रम स्थापित कर तीर्थयात्रियों द्वारा पिण्डदान तथा रोगियों की चिकित्सा की पूरी व्यवस्था की। तीर्थयात्रियों की सुविधा आदि के लिये काशी, पुरी, वृन्दावन, हरिद्वार, प्रयाग आदि तीर्थस्थलों पर भी आश्रम की स्थापना हो गयी।

सभी हमारे बन्धु हैं - स्वामी जी का मानना था कि मनुष्य-मनुष्य के मध्य भेद मिथ्या है। जातिगत भेदभाव करना तथा कुछ लोगों को अस्पृश्य मानना अमानवीय है। किसी के साथ भोजन करने से जाति में क्यों निकाल दिया जाता है ?

नमशूद्र के घर भोजन - स्वामी जी पूर्व बंगाल में नमशूद्र के घर गये, गांगकर भोजन किया, उन्हें दीक्षा दी तो वहाँ के लोग भावुक होकर रोने लगे। उनका सम्मान तो कभी किसी ने नहीं दिया। गोपालगंज में शूद्रों के गाँव में मिलन-भान्दिर स्थापित किया, उनके वस्त्रों की शिक्षा की व्यवस्था की। सुन्दरवन में गमकारों की बस्ती में गये तथा उन्हें समझाया कि वे शराब पीना छोड़ दें, बुरी आदतें छोड़ें, लोगों ने उनकी बातें मान लीं। मघ की ओर से वहाँ विद्यालय स्थापित किया गया। हिन्दुओं को उन्होंने कहा कि - "मभी भेदभाव दूर करके और गठित होकर हिन्दू के रूप में रहो। अस्पृश्य बन्धुओं के घरों में जाओ, उनको अपने घरों में लाओ, साथ-साथ बैठकर भोजन करो। सभी हिन्दुओं की एक ही भाति है।" स्वामी जी ने गाँव-गाँव जाकर समस्त हिन्दू समाज को संगठित करने

के कार्य में संन्यामियों को लगाया। Hindu Society Unity Movement नाम से कार्यक्रम चलाया।

**हिन्दू मिलन मन्दिर** - स्वामी जी ने स्थान-स्थान पर हिन्दू मिलन मन्दिरों की स्थापना की। इन मन्दिरों में सभी हिन्दू, जातिगत भेदभाव छोड़कर, प्रार्थना करने एकत्रित होते थे। सभी को हिन्दू धर्मशास्त्रों की शिक्षा दी जाती थी। संघ के संन्यासी समय-समय पर जाकर इनकी व्यवस्था देखते थे। मिलन मन्दिर में एक प्रार्थना कक्ष, एक पुस्तकालय, अतिथिगृह, निःशुल्क औषधि वितरण केंद्र तथा महिलाओं के उत्थान हेतु योजनाएं आदि रहती थीं।

**हिन्दू रक्षादल** - उनका प्रयास था कि हिन्दू तरुण युवक, जातिगत भेदभाव भूलकर हिन्दू समाज की रक्षा का संकल्प लें, व्यापाम कर शक्ति अर्जित करें, शस्त्र संचालन का अभ्यास करें। सभी हिन्दू श्रीगुरु गोविन्द सिंह की तरह हिन्दू समाज की रक्षा का व्रत लें तथा शक्ति की आराधना करें। स्वामीजी ने ऐसे हजारों कार्यकर्त्ता खड़े किये जो हिन्दू समाज की रक्षा के लिए सन्तुष्ट रहते थे। उनका संकल्प था कि- 'मैं ऐसा सशक्त-स्वावलम्बी-संगठित हिन्दू समाज बनाना चाहता हूँ जिसमें प्रत्येक पुरुष-महिला सम्मान और शान्ति के साथ रह सके।' इसके लिए उन्होंने जातिगत भेदभाव को दूर कर सैकड़ों हिन्दू मिलन मंदिरों की स्थापना की तथा लाखों हिन्दू रक्षी दल के सदस्य खड़े किये।

॥ ॐ ॥

## प्राण्योत्तिष्ठ क्षेत्र की भक्ति और समरसता

उत्तर पूर्वांचल का प्राचीन नाम प्राण्योत्तिष्ठ है। भगवान् शिव, राम, परशुराम, कृष्ण एवं पाण्डवों के जीवन प्रसङ्गों को अपने में समेटे यह क्षेत्र अपनी विविधताओं और प्रसिद्ध है। मैकड़ी जनजातियाँ, अनेक भाषाएं तथा विविध परंपराओं वाले गाँवों को एक सूत्र में आवद्ध करने का कार्य भक्तों एवं संतों ने कुशलता से यहाँ पर किया। पन्द्रहवीं शताब्दी में, कृष्णभक्त श्रीमंत शंकरदेव जी अत्यन्त प्रतिभावान् जनतारी पुरुष के रूप में असम में प्रगट हो गए। आपने जातिगत भेदभाव, अत्याध्वर एवं पूजापाठ के अनावश्यक हो गए अतिरेक को समाप्त कर दिया। रामद्वैतभाव को आधार मानकर निर्मल कृष्णभक्ति का संदेश दिया। भक्ति के आधार पर विकसित हुए सामाजिक समरसता के इस विलक्षण आन्दोलन को अनेक शिष्य, भक्त माधवदेव जी ने कुशलता के साथ आगे बढ़ाया। देखते ही देखते जागों नामधरों के विकास के साथ ही भागवत के श्रीकृष्ण की जयजयकार गाँव-गाँव में होने लगी। अस्पृश्य कही जानेवाली अनेक जातियों को निर्मल-कृष्णभक्ति का वरगवर का अधिकार देकर एक अनौखा युग ही प्रारम्भ कर दिया। सामाजिक अस्पृश्यता की अवधारणा यहाँ समाप्त हो गई।

सोलहवीं शताब्दी में चैतन्य महाप्रभु के भक्त सगुणभक्ति का पावन संदेश फैलकर असम, मणिपुर एवं नागा भूमि की पहाड़ियों में आ पहुँचे। लाखों लोगों ने गणव-भक्ति के इस सगुण स्वरूप को हृदय से स्वीकार कर लिया। घर-घर में भगवन और कृष्णमन्दिर बन गए। मणिपुर जैसे दूरस्थ कहे जाने वाले क्षेत्र में सामाजिक समरसता का यह एक सुन्दर अध्याय था। अब वहाँ अस्पृश्य या शूद्र नाम का निम्न समझा जाने वाला कोई समाज नहीं था। श्रीचैतन्य महाप्रभु के शिष्यों के पास एक मूल मंत्र था- 'जेई भजे सेई बड़ो, अभक्त हीनछार। कृष्ण भजने नहीं जात कुल विचार।'।

उन्नीसवीं शताब्दी में उत्तर पूर्वांचल के सभी प्रान्तों में वहाँ के धार्मिक एवं सांस्कृतिक लोग खड़े होते गए जिन्होंने स्थानीय संस्कृति और परंपराओं की रक्षा हेतु कार्य किया तथा अपनी सांस्कृतिक विरासत को देश के अंग के रूप में ही देखा। इन गाँवपुरुषों के संदेश में सभी मनुष्यों की समानता पर बल दिया गया था। इनमें असम की शिजोभुधन फुंगलोसा, मेघालय के श्रीतीरथसिंह, मिजोरम की रानी रोपुइलियानी,

नागाराज्य की रानी माँ गाड्डिल्यू, अरुणाचल प्रदेश के नालोम रुकबो, मेघालय के श्री जीवन राय एवं त्रिपुरा के स्वामी स्वरूपानन्द आदि के नाम स्मरणीय हैं।

#### \* माधव कंदली रामायण- (ई.सन्. 14वीं शताब्दी)

भक्त माधव कंदली जी ने जयंतपुर के काछारी राजा महामाणिक्य के आदेश से चौदहवीं शताब्दी में लोकभाषा असमिया में रामायण की रचना की। यह ग्रंथ असमिया लोगों का अनन्यतम ग्रंथ बन गया। माधवकंदली कृत रामायण के 'आदिकाण्ड' तथा 'उत्तरकाण्ड' इतिहास के उथलपुथल में नष्ट हो गए। उनके सौ वर्ष पश्चात् जन्मे संत शंकरदेव जी ने स्वयं 'उत्तरकाण्ड' तथा अपने शिष्य माधवदेव से 'आदिकाण्ड' की रचना करवायी। वर्तमान में माधव कंदली रामायण मात्र काण्डों में 7480 पदों में लोकविख्यात है। माधव कंदली तथा अन्य असमिया रामायणों में राम के लिए कृष्ण, हरि आदि शब्द भी प्रयुक्त किये हैं। संपूर्ण असमिया समाज इसको विगत 600 वर्षों से भक्तिभाव से गाता आ रहा है। सामाजिक समरसता हेतु यह एक अद्वितीय ग्रंथ सिद्ध हुआ।

\* भगवद्भक्त श्रीशंकरदेव-(वि.सं.1506-1625; ई.सन् 1449-1568)-असम  
श्रीमत शंकरदेव का जन्म भूइयां (कायस्थ) परिवार में नौगांव जिला असम में हुआ था। ये लोग बंगाल से वहाँ जाकर बसे थे। ई.सन् 1481 में वे देशभर में तीर्थयात्रा के लिये निकल पड़े और काशी में आकर संत कबीर के विचार से प्रभावित हुए।

असम की स्थिति - श्रीशंकरदेव ई.सन् 1493 में असम वापस आये तब असम में शाक्तमत के पुजारियों तथा बौद्ध तान्त्रिकों का बोलबाला था। बलिप्रथा, कर्मकाण्ड, तन्त्र-मन्त्र आदि के प्रचलन के कारण सारी जनता त्रस्त थी। शाक्तमत तथा बौद्धमत अपनी अनेक विकृतियों के साथ चरम स्थिति में था। बौद्ध मत के तान्त्रिक स्वरूप तथा सनातनी तान्त्रिक हिन्दुओं का भी केन्द्र कामरूप-कामाख्या में बन गया था। बाह्याचार का विरोध - श्राद्ध-पिण्डदान जैसे कर्मकाण्डों में सामान्य जनता की खुलकर नूट होती थी। श्रीशंकरदेव ने यह सब बन्द करा दिया। ब्राह्मण पुजारियों ने अहोम राजाओं से शिकायत की तो राजा ने श्रीशंकरदेव को तो छोड़ दिया किन्तु इनके शिष्य श्री माधवदेव को छह माह का कारावास हुआ।

कृष्णभक्ति की धारा - श्रीशंकरदेव ने 'एक शरण नाम धर्म' का प्रचार किया। कृष्ण के प्रति भक्ति करने का आग्रह किया। राम, हरि, वासुदेव, जनार्दन तथा हजारों नाम उसी के हैं। इसके अलावा अन्य देवी-देवताओं तथा पूजा पद्धतियों को उन्होंने त्याग दिया। पूजा के स्थान पर नाम संकीर्तन प्रचलन किया।

वैष्णव भक्ति को नया स्वरूप - श्रीशंकरदेव ने असम में वैष्णवभक्ति को नया परिचरित शुद्ध स्वरूप देने का प्रयास किया। उन्होंने मूर्तिपूजा को स्वीकार नहीं किया किन्तु वे उसके घण्टन के प्रयास में नहीं लगे। चार आधार धारों को मान्य किया- गुरु, देव, नाम और भक्त। श्रीमद्भागवत को अपने धार्मिक विचार का आधार माना तथा भक्ति का ही प्रचार किया और दास्यभक्ति को मान्य किया।

सभी के अन्दर एक आत्मा - भागवत का सिद्धान्त है कि सभी प्राणियों में एक ही ब्रह्म-ईश्वर-आत्मा के दर्शन करें। श्रीशंकरदेव कहते हैं -

“कुम्कुर, चाण्डाल, गर्दभरो आत्मा राम।  
जानीया सबको परि करिबा प्रणाम् ॥”

(महापुरुष श्रीमत शंकरदेव, पृ० 58)  
अर्थात् - कुत्ता, चाण्डाल, गधा सभी के अन्दर एक ही आत्मा अर्थात् ईश्वर का वास है। वही राम है। इसको जानकर सभी को प्रणाम करो।

गोस्वामी तुलसीदास भी यही कहते हैं -

“सीयराम मय सब जग-जानी, करऊँ प्रणाम जोरि जुग पानी ॥”

भगवान् श्रीकृष्ण गीता में वही कहते हैं - “आत्मवत् सर्वभूतेषु जातिभेद को कोई स्थान नहीं - श्रीशंकरदेव ने जातिगत भाव को कहीं कोई स्थान नहीं दिया। उनके अनुयायियों में प्रमुख-श्रीमाधवदेव (कायस्थ), श्रीदामोदरदेव (ब्राह्मण), श्रीगोविन्द (गारो), श्रीजयराम (भूटिया), श्रीपरमानन्द (मिशिंग), श्रीनरहरि (अहोम), श्रीमुरंगी तथा श्रीचिंलारी (कोच), श्रीचान्दवान (मुस्लिम) थे। श्रीशंकरदेव के शिष्यों के माध्यम में अनेक जनजातियों के लोगों लोग वैष्णव मत के अनुयायी बन गये। श्रीशंकरदेव कहते हैं कि ईश्वरभक्ति रूपी वेदमार्ग पर चलने का सबको अधिकार है और इसके द्वार सभी के लिए खुले हुए हैं -

“किरात कछारी खासी गारो मिरि,  
यवन कंक गोवाल असम मुलुक रजक तुरुक,  
कोवाच मलेच्छ चांडाल।

आनो यत नर कृष्ण सेव कर संगत पवित्र हय।  
भक्ति लभिया संसार तरिया बैकुण्ठे सुखे चल्य।”

(वही, पृ० 49)

अर्थात्, किरात, कछारी, खासी, गारो, मिरि, यवन, कंक, खाल, असम मुलुक (अहोम राज्य) के लोग, रजक, तुर्क, कोवाच(कोच), मलेच्छ, चांडाल आदि

जिन लोगों को समाज में नीच या दलित माना जाता है, वे भी कृष्ण - सेवक की मंगति से पवित्र हो जाते हैं। वे भी भगवद्भक्ति प्राप्त कर इस संसार में तर कर वैकुण्ठ गमन करते हैं।<sup>1</sup> अनेक स्थान पर मुसलमान भी उनके शिष्य बने। श्रीशंकरदेव जानते थे कि काशी में रामानन्द ने भी मुसलमानों को वैष्णव बनाने की शिक्षा दी है- “भलेच्छास्ते वैष्णवाश्चासन् रामानन्द प्रभावतः।” रामानन्द तो मुसलमानों को शुद्ध करके वैष्णव बनाने के लिये “राम तारक मन्त्र” दिया करते थे। श्रीशंकरदेव भी उस बात से प्रभावित हुये और असम क्षेत्र में इसी को प्रारम्भ कर दिये।

नामघरों की स्थापना - मँहगे तथा खर्चीले मन्दिर बनवाने के स्थान पर गाँव के लोगों की सहायता से ही बिना दीवार का बाँस के सहारे, फूस आदि से छाया नामघर ही ग्राम की सभी धार्मिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया। इस नामघर में किसी भूमि की स्थापना नहीं थी। ऐसे हजारों नामघर आज भी असम में हैं।

सत्र स्थापना - भक्त की तरह जीवन यापन करने वाले व्यक्ति को सत्राधिकारी बनाने का चलन उन्होंने चलाया। सत्राधिकारी सरल, कर्मठ, जीवन जीते थे तथा सभी जातियों से आते थे।

स्थानीय भाषा में ग्रन्थ लेखन - रामायण तथा भागवत-पुराण का स्थानीय (असमिया) भाषा में अनुवाद करके प्रचलित किया। धार्मिक कथानकों पर आधारित स्थानीय भाषा में नाटक लेखन तथा मंचन का कार्य श्रीशंकरदेव ने किया। उनके लिखे नाटकों-में कालिया दमन, रुक्मिणी-हरण, पारिजात हरण, राम-विजय आदि प्रमुख हैं। श्रीशंकरदेव ने 564 श्लोकों का संस्कृत में एक ग्रन्थ ‘भक्ति रत्नाकर’ भी लिखा। इस ग्रन्थ को लिखने में उन्होंने 20 ग्रन्थों का सहारा लिया।

\* भगवद्भक्त श्रीमाधवदेव (वि.सं. 1546-1653; ई.सन्. 1489-1596)-असम

विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न असम के सन्त श्रीमाधवदेव वैष्णव भक्तिमार्ग के सन्त हैं। आपने श्रीशंकरदेव को गुरु माना और एकशरण (दीक्षा) ले ली। भक्ति आन्दोलन का एक वैशिष्ट्य यह भी है कि उसने सभी के लिये भक्ति का द्वार खोल दिया। श्रीमाधवदेव के भगवान् श्रीकृष्ण की घोषणा है-

“आह्वार निर्मल भक्तित्त दुराचारी तरे कोन चित्र,

आह्माक भजिया चाण्डालो तरे संसार।

स्त्री शूद्र वैश्य आदि यत विषयत मात्र सदा रत,

मोक भजि सुखे इसबो हो वे उद्धार॥”

(माधवदेव व्यक्तित्व और कृतित्व, घोषा-610, पृ 224)

अर्थात्- ‘निर्मलभक्ति करनेवाले दुर्गचारी, चाण्डाल आदि सभी तर जाते हैं। स्त्री, शूद्र, वैश्य आदि जो विषयों में रत हैं फिर भी मेरे को भजने से इन सभी का उद्धार हो जाना है।’ श्रीमाधवदेव जी ने प्रभु की भक्ति के लिए कोई भी नियम या बन्धन की आवश्यकता अनुभव नहीं की-

“हरि-नामे नाहिके नियम अधिकारी। राम बुलि तरे मिरि आसाम कछारी॥”

“गारो भोट यवने हरिर नाम लय। नैनय नामक केने सज्जने निन्दय॥”

(वही, घोषा-510, 482, पृ 224)

अर्थात्, ‘हरि नाम लेने के लिये कोई नियम-अधिकार आदि नहीं है। राम का नाम बोलने से मिशिंग, अहोम, कछारी सभी तर जाते हैं। गारो, भोट, यवन आदि सभी हरी का नाम जपें तो कौन सज्जन ऐसा है जो इस बात की निन्दा करेगा।’

यह बात स्मरण में रहना आवश्यक है कि श्री माधवदेव के समय तक असम की अनेक वनवासी जातियाँ हिन्दू धर्म के कर्मकाण्ड आदि से त्यक्त थीं। श्री माधवदेव ने उन्हीं जातियों के नाम गिनाकर उनके लिये भी वैष्णव भक्ति के द्वार को उन्मुक्त बनाया है। नाम कीर्तन के लिये किसी प्रकार का नियम कर्म आवश्यक नहीं, यही धर्म का सार है। वर्णाश्रम व्यवस्था के कारण बहुत से विधि-विधान बन गये थे, लोगों के अधिकार भी बँट गये थे किन्तु श्रीमाधवदेव कहते हैं कि भगवान् के कीर्तन के लिये कोई नियम और अधिकार नहीं है-

“हरिनाम कीर्तनत नाहिके नियम एको एतेकेसे धर्म माने सार॥”

(वही, घोषा-119, पृ. 224)

उन दिनों असम में इतने प्रकार का कर्मकाण्ड फैला हुआ था कि सामान्य जन तो धीरे-धीरे धर्म से दूर ही होता जा रहा था। श्रीमाधवदेव ने कहा हरिनाम कीर्तन करना सभी प्राणियों का अधिकार है। श्रीमाधवदेव कहते हैं कि हरिनाम सभी धर्मों का राजा है-

“परम निर्मल धर्म हरिनाम-कीर्तनत समस्त प्राणीर अधिकार।

एतेकेसे हरिताम समस्ते धर्मर राजा, एहिसार शास्त्रर विचार॥”

(वही, घोषा-129, पृ 224)

\* राजर्षि भाग्यचन्द्र (ई.सन् 18 वीं शताब्दी)-मणिपुर

मणिपुर के ऋषितुल्य राजा श्री भाग्यचन्द्र एक सर्वजन प्रिय राजा के रूप में स्थापित हैं। उनका शासन काल (वि.सं. 1820-1855; ई.सन् 1763-1798) मणिपुर समाज के लिए धार्मिक तथा सामाजिक समन्वय वाला काल था।

आज मणिपुर समाज में वर्गहीन समाज व्यवस्था है नरः ढूँच-नीच, मृषुण्य-अमृषुण्य आदि का कैसा भी भेदभाव कहीं भी दियाई नद्दी देना। सभी एकमात्र मंदिर में पूजा-अर्चना करने है तथा एकमात्र पंगन में बैठकर भोजन करने हैं। इसका श्रेय श्रीचैतन्य महाप्रभु के शिष्यों तथा राजकृष्णि भाग्यचन्द्र जी को जाता है।

राजकृष्णि भाग्यचन्द्र जी ने भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा से कटहल का वृक्ष कटवाकर उसमें श्रीकृष्ण के विग्रह बनवाए तथा अनेक मन्दिरों की स्थापना करवाई। मणिपुर की ही स्थानीय वस्तुओं का भोग चढ़ाने की परंपरा विकसित हुई। उन्होंने प्रथम रामनृत्य का आयोजन किया जिसमें उनकी पुत्री विम्बावती मंजुरी ने रात्रा की भूमिका सुन्दर ढंग से निर्वह की।

राजकुमारी विम्बावती मंजुरी आजन्म कुमारी रहीं तथा जीवन के अन्तिम काल में श्रीचैतन्य महाप्रभु के जन्मस्थान नवद्वीप जाकर रहने लगीं। वहीं उनकी मृत्यु भी हुई। मणिपुर में उन्हें सिजा लाइरोइबी के नाम से जाना जाता है, जिसका अर्थ होता है राजकुमारी जो देवी बन गई या वह राजकुमारी जो भगवान् की सेवा में ही समर्पित हो गई। वे मणिपुर की मीरा थीं।

सिजलाइरोइबी ने मणिपुर में श्रीकृष्ण के जीवन प्रसङ्गों पर रामनृत्य का आरंभ किया जो निरंतर विकसित होता गया और मणिपुर के नृत्यगुरुओं ने अपनी विलक्षण कला प्रतिभा से इसको नए-नए आयाम प्रदान किये। मणिपुर की श्रीकृष्ण-रात्रा भक्ति-परंपरा ने सभी प्रकार के भेदभावों को समाप्त कर एक समरस समाज जीवन का निर्माण कर दिया।

\* बाबू जीवन राय माईरोम (वि.सं. 1895-1960; ई.सन् 1838-1903)-मेघालय

बाबू जीवन राय का जन्म विश्व में अधिकतम वर्षा के लिए विख्यात क्षेत्र चैरापूँजी में हुआ था। यद्यपि उस समय की परिस्थितियों के कारण आपकी शिक्षा उचित प्रकार से नहीं हुई किन्तु उन्होंने परिश्रमपूर्वक हिन्दी, अंग्रेजी तथा संस्कृत का अध्ययन कर लिया।

खासी समाज में सरकारी नौकरी करने वाले वे प्रथम व्यक्ति थे। अपनी विलक्षण प्रतिभा के सहारे वे 'अतिरिक्त सहायक आयुक्त' के बड़े पद तक पहुँच गए। उन दिनों भी उन्होंने अंग्रेजों की ईसाई बनाने की नीयत को पहचान कर अपना स्वतंत्र हाईस्कूल स्थापित किया। खासी वच्चों में अपनी संस्कृति के संस्कार पड़े इस दृष्टि से उन्होंने परिश्रम पूर्वक रामायण, गीता, हितोपदेश, बुद्ध चरित्र, चैतन्य चरित्र आदि पुस्तकों का अनुवाद खासी भाषा में किया। मिशनरी स्कूल से खासी लड़कियों को बचाने के लिए प्रथम प्राइमरी स्कूल प्रारम्भ किया। खासी लोगों की

आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए, नरह-नरह के व्यापार भी उन्होंने वहाँ प्रारम्भ कराए। ईसाई लोगों ने उनके मार्ग में डेगें कठिनाइयाँ खड़ी कर दी किन्तु उन्होंने हार नहीं मानी।

श्री जीवन राय ने यह समझ लिया कि अपनी प्राचीन संस्कृति को नष्ट करने का कार्य ये ईसाई लोग कर रहे हैं। अतः खासी समाज को ईसाई पादरियों के चंगुल से बचाने के लिए उन्होंने 'का सेंग खासी' नामक धार्मिक एवं सांस्कृतिक संगठन की स्थापना की। मेघालय के खासी मण्डल में एक नवजागृति लाने वाला चमत्कारी कार्य प्रारम्भ कर दिया। बाबू जीवन राय ने स्वीकार किया कि खासी संस्कृति भारतीय संस्कृति का ही एक अभिन्न अंग है।

खासी स्वाभिमान का आन्दोलन आज नैजी से मेघालय में बढ़ता जा रहा है। श्रीमान बाबू अण्डरसन ने उसी मार्ग पर चलते हुए बड़ी मात्रा में खासी समाज को ईसाई बनाने से बचा लिया। सेंग खासी आन्दोलन के वार्षिक सम्मेलन में अब तीस हजार से भी अधिक लोग आते हैं तथा मेघालय का खासी समाज सांस्कृतिक रूप से सम्पूर्ण भारत के साथ जुड़ा होने में गौरवान्वित अनुभव करता है।

\* स्वामी स्वरूपानन्द परमहंस देव (वि.सं. 1954-2041; ई.सन् 1897-1984)-त्रिपुरा

स्वामी स्वरूपानन्द जी का जन्म कोमिल्ला जिला (आज बांग्लादेश) के चन्दपुर नामक ग्राम में हुआ था। अपनी शिक्षा हेतु वे ढाका तथा कलकत्ता गए तथा शिक्षा पूर्ण होते ही स्वतंत्रता हेतु संघर्ष में जुट गए। वे जेलगए तथा बाहर आकर समाज सुधार के कार्य में लग गए।

स्वभाव एवं वृत्ति से संन्यस्थ स्वामी स्वरूपानन्द जी ने अपना संपूर्ण जीवन गरीब, पिछड़े, अशिक्षित लोगों के उत्थान हेतु लगा दिया। उन्होंने भारतीय वाङ्मय का व्यापक अध्ययन किया तथा समाजोपयोगी व्यापक साहित्य का सृजन किया। मानव-मानव में भेद करने वाली सभी मान्यताओं को नकार कर प्राचीन भारत की श्रेष्ठ बातों के प्रचार-प्रसार में वे लगे रहे। सामान्य व्यक्ति का चरित्र अच्छा हो तथा वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर सम्पूर्ण समाज का चिन्तन करे यही उनकी शिक्षा का मूलमंत्र था। उनकी रचनाओं में जातिगत भेदभाव को समाप्त करने के आह्वान के साथ-साथ गौराक्षा, उन्नत कृषि, जीवन में अनुशासन, जीवनमूल्य, देशभक्ति, संस्कृत अध्ययन, सामाजिक संगठन, तथा श्रम के महत्व जैसे विषयों पर आग्रह रहता था। उनका उद्देश्य था कि चरित्रवान, कर्मठ, समाज प्रेमी तथा देशभक्त समाज ही देश को सर्वांग सुन्दर बना सकता है। गाँव

के गरीब वर्गों के लिए विद्यालय तथा गाँव में यानायन एवं चिकित्सा के माधनों की व्यवस्था उन्होंने की।

आज भी अमम, पश्चिम बंगाल, बिहार, त्रिपुरा तथा उत्तर प्रदेश में फैले उनके हजारों अनुयायी श्रद्धा के साथ उनका स्मरण करने हैं, तथा आध्यात्मिक साधना के साथ ही सामाजिक समरसता एवं समाज उन्नयन हेतु किए गए उनके प्रयासों से प्रेरणा पाते हैं।

#### \* रानी रोपुइलियानी:- (ई०सन् 19 वीं शताब्दी)-मिजोरम

इनका जन्म मिजोरम के प्रमुख राजा लाल मंगूरा के यहाँ हुआ था। इनके पिताजी ने इस पहाड़ी क्षेत्र में ई० सन् 1796 से लेकर 1842 तक शासन किया तथा इनका विवाह दक्षिण मिजोरम के राजा बांडूला के साथ कर दिया।

अंग्रेज लोग धीरे-धीरे राज्य हथिया रहे थे तथा वहाँ की प्राचीन संस्कृति तथा परंपराओं को नष्ट करने का भी योजनाबद्ध प्रयास कर रहे थे। रानी रोपुइलियानी को यह बात समझ में आ गई थी कि प्राचीन संस्कृति तथा मिजो धर्म नष्ट हुआ तो सर्वसमन्वयवादी भारतीय दर्शन तथा विचार भी यहाँ से समाप्त हो जाएगा। रानी ने अंग्रेजों के सभी प्रस्तावों को ठुकरा दिया। राजा बांडूला यद्यपि अस्वस्थ थे किन्तु उन्होंने अंग्रेजी सेनाओं को अपने यहाँ प्रवेश की अनुमति नहीं दी। राजा बांडूला की मृत्यु के पश्चात् ई०सन् 1893 में अंग्रेजों ने सेना लेकर आक्रमण कर दिया रानी रोपुइलियानी ने अपने सामर्थ्य से युद्ध तो किया किन्तु उनकी सेना पराजित हो गई। अंग्रेजों ने संधि का प्रस्ताव रखा किन्तु रानी ने अस्वीकार कर दिया और कहा कि मिजोरम की धरती मेरी माँ है तथा मैं माँ का सौदा नहीं कर सकती। इसके पश्चात् उन्हें बंदी बनाया गया तथा चटरगाँव जेल में उन्हें अनेक यातनाएं दी गईं और वहीं उनकी ई०सन् 1895 की मृत्यु हो गई। मिजोरम में ईसाई न बनने वाले सांसारिक मिजो लोगों के मन में उनकी प्रतिष्ठा देवी की तरह है तथा वे राष्ट्र की सांस्कृतिक एकता की प्रतीक मानी जाती हैं।

\* रानी माँ गाइडिल्यू (वि.सं. 1972-2050; ई.सन्. 1915-1993)-नागाभूमि  
रानी माँ के नाम से प्रसिद्ध हो गई गाइडिल्यू माँ का जन्म नागालैण्ड के ग्राम लांगकाओ में हुआ था, यह स्थान आजकल मणिपुर के तामेंगलांग जिले में है। तेरह वर्ष की आयु से ही रानी माँ अपने भाई जादोनांग के साथ देश की स्वतंत्रता की लड़ाई में कूद पड़ी। नागा पहाड़ियों पर अंग्रेजों के विरुद्ध यह लड़ाई जादोनांग के नेतृत्व में ही लड़ी जा रही थी। 31 अगस्त, 1931, में जादोनांग को अंग्रेजों ने फाँसी

दे दी और रानी गाइडिल्यू ने लड़ाई का नेतृत्व अपने हाथों में ले लिया। रानी माँ को पकड़ने के लिए अंग्रेजों ने पुरस्कार की घोषणा कर दी। सन् 1932 में अचानक रानी माँ पकड़ी गई और आजीवन कारावास की सजा हो गई। 14 वर्ष जेल में रह कर आजादी के समय ही रानी माँ जेल से छूटी। सन् 1937 में नेहरू जी असम के दौरे पर आए थे तब उनको गाइडिल्यू माँ के बारे में पता चला और उन्होंने सम्मानपूर्वक कहा-“वे तो नागा जाति की ‘रानी’ हैं।” तभी से उनका नाम ‘रानी माँ’ प्रसिद्ध हो गया।

नागा पहाड़ियों में रहने वाली नागा उप-जन-जातियों को धार्मिक एवं सांस्कृतिक रूप से एकजुट करने के लिए एक सांस्कृतिक आन्दोलन उन्होंने चलाया। इसके लिये तीन उप-जनजातियों को मिलाकर नागा लोगों को संगठित किया। जेमी+लियांगमई+रोंगमई=जीलियांग रोंग नागा। (Jemi + Liangmai + Rongmai = Jeliang Rong Naga) इस प्रकार वे अपने पुराने धर्म को ईसाई पादरियों की कुटिल चालों से बचाने के प्रयास करती रहीं। उनका मानना था कि ईसाई सम्प्रदाय बाहरी है और यह हमारी सर्वसमन्वयवादी संस्कृति को नष्ट कर देगा। इस दृष्टि से उन्होंने ऐसी सभी जनजातियों को जोड़कर ‘हरक्का’ नाम से एक आंदोलन भी चलाया। आज नागालैण्ड तथा मणिपुर में ईसाइयों के कड़े विरोध के बावजूद ‘जीलियांग’ समूह की गतिविधियाँ बढ़ती जा रही हैं तथा हरक्का समुदाय के लोग सम्पूर्ण भारत की जनजातियों तथा अन्य लोगों के मध्य स्वभावगत समरसता की अनुभूति करते हैं।

\* श्री तालोम र्कबो (वि.सं. 1995-2058; ई.सन्. 1938-2001)-अरुणाचल प्रदेश  
अरुणाचल प्रदेश के पासीघाट जिले में जन्मे श्री तालोम र्कबो ने वहाँ की जन-जातियों के अन्दर धार्मिक रूप से एक अनेकबी जागृति ला दी। अरुणाचल की जन-जातियाँ सैकड़ों वर्ष से हिन्दू धर्मावलम्बियों की तरह ही सूर्य, चन्द्र की उपासना करती थीं किन्तु मन्दिर, पूजा पद्धति आदि का कोई व्यवस्थित स्वरूप नहीं था। इस कारण ईसाई लोग उनको बहला-फुसलाकर ईसाई बनाने के कार्य में लग गए। तालोम र्कबो ने इस खतरे को भली प्रकार भाँप लिया। उन्होंने अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं को महत्व देते हुए सबको मिलकर अपने सांस्कृतिक त्यौहार मनाने का आह्वान किया और कहा कि इसी से एकता और संगठन को बल मिलेगा। अरुणाचल प्रदेश के प्रसिद्ध सोलुंग त्यौहार को सरकारी गजट में लाने तथा सार्वजनिक अवकाश घोषित करने का श्रेय भी श्री र्कबो जी को ही जाता है।

श्री रक्तबो जी ने हमेशा अपने धर्म को महत्व दिया एवं पुराने लोकगीतों, कथाओं आदि का परंपरागत रूप में पालन करवाया। बहों की जनजाति के लोग 'देवी-पोलो' (अर्थात् मूर्त्य, चन्द्र) की पूजा करने थे इसके लिए सामाजिक पूजा पद्धति विकसित की। प्रार्थनास्थलों का निर्माण कराया एवं पूजागृहों को सुन्दर स्वरूप देना प्रारम्भ हो गया। अब अरुणाचल में विविध जनजातियों के अपने-अपने पूजागृह बन रहे हैं, पूजा पद्धतियों का विकास हो रहा है। जनजातीय समाज अपनी सांस्कृतिक विरासतों के साथ संगठित हो रहा है। अरुणाचल प्रदेश में इस धार्मिक जागरण के कारण सामाजिक एकता का निर्माण हुआ है तथा तीन सौ से अधिक पूजागृह बन चुके हैं। श्री रक्तबो ने अपने आत्मबल से समाज में आध्यात्मिक चेतना जागृत की, जनजातियों की परम्पराओं को नया आयाम दिया। 30 दिसम्बर, 2001 को श्रीतालोम रक्तबो धर्म साधना में लीन होकर परमधाम को चले गए किन्तु उनके द्वारा चलाया गया यह धार्मिक एवं सांस्कृतिक आन्दोलन अरुणाचल प्रदेश में सामाजिक समरमना एवं एकता की दृष्टि से अमूल्यतः जैसा बन गया।

॥ ३० ॥

## ओड़िशा की भक्त एवं अंत परंपरा

ओड़िशा का नाम लेते ही भगवान् जगन्नाथ जी का स्मरण हो उठता तो बड़ा स्वाभाविक ही है। जगन्नाथ का भात न पूछो जात-पाँत, अर्थात्, कोई भी जाति का व्यक्ति किसीके भी निकट बैठकर अपना भोजन (प्रसाद) ग्रहण करता है। चारों धर्मों में 'पूरी धाम' की महिमा सुई गई है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने तो अपने जीवन का उत्तरार्ध यहीं जगन्नाथ जी की भक्ति में ही व्यतीत कर दिया। उन्होंने अपने जीवन में जानिगत भेदभाव को दूर करने के भक्तिक प्रयास किये।

भक्तकवि जयदेव ने भक्ति को सरल संस्कृत में उतार कर भक्तों का स्वरूप दे दिया। गाँव-गाँव के लोग जो संस्कृत नहीं पढ़ सकते थे वे भी जयदेव जी के भक्तों को गाने लगे। जयदेव के इन भक्तों ने सामाजिक दूरियों को दूर कर दिया। नाथ मंत्रदाय के योगियों (जोगियों) ने जानिगत भेदभाव को कोई मान्यता नहीं दी और अपना स्वतंत्र निरंजनी सम्प्रदाय चला दिया। दासिया बाउरी हरिजन थे किन्तु उनकी भक्तिमाधना ने पूरे ओड़िशा के लिए भक्तिक्षेत्र में एक नया संदेश दिया।

पंचमथा परम्परा के भक्त सर्वश्री अच्युतानंददास, अतलदास, यशोवल्लदास, बलरामदास तथा अतिबड़ि जगन्नाथदास ने मिलकर समाज के पिछड़े लोगों को भक्तिमार्ग का दर्शन दिया और सभी को साथ लेकर चलने के अनुकरणीय प्रयास किये। जगन्नाथदास के 'दाह्यान्या भक्ति' ग्रन्थ ने गाँव-गाँव में सरल और भक्तिपूर्ण जीवन का आग्रह किया वहीं संत भीम भोई ने लोगों वनवासियों के अन्दर एक नई चेतना जगा दी। संत भीमभोई जन्मान्ध थे तथा मथुरा के कृष्णभक्त सूरदास की तरह ही व्यापक माहित्य की रचना उन्होंने की। वे किमी विद्यालय में नहीं गए किन्तु उन्होंने अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों को अति सरल ओड़िआ भाषा में लोगों के सम्मुख रखा। महान कवि उपेन्द्र भज ने ओड़िआ में राम का चरित्र गाया जो आगे चलकर अपनी विशिष्ट शैली के कारण व्यापक रूप में लोकप्रिय हो गया। आगे के पृष्ठों में हम इन्हीं संतों के सामाजिक दृष्टिकोण की चर्चा करेंगे।

\* सन्त जयदेव - (जन्म-वि.सं. 1227; ई.सन्. 1170)

संत जयदेव का जन्म ओड़िशा के पूर्वी जिलान्तर्गत केन्दुविल्व (केन्दुलि) ग्राम में हुआ था। संत जयदेव जानिगत भेदभाव में ऊपर रहकर भक्तिभाव से पूर्ण थे। भक्तिभाव वाले प्राचीन ग्रंथ गीतगोविन्द की रचना इन्होंने की। रसना राघव

नथा चन्द्रालोक भी इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। स्वामी विवेकानन्द ने इनकी प्रशंसा की है। श्रीगुरु ग्रन्थसाहिब में इनके 2 पद संग्रहित हैं। उन पदों में रामभक्ति की महिमा है।

मन्त जयदेव, महाराजा लक्ष्मण मैन के दरबार में भक्ति के श्रेष्ठ कवि थे। उनके द्वारा भक्ति एवं श्रृंगार के समन्वय वाला सुन्दर ग्रन्थ 'गीतगोविन्द', भारतीय जनमानस के हृदय पर अमिट छाप बना गया। 'गीतगोविन्द' के पद इनकी सरल संस्कृत में लिखे गये थे कि ग्राम-ग्राम में पुरुष-महिलाएँ एकत्रित होकर इनको लोकगीत की तरह गाने लगे। यह कितनी विलक्षण वान थी कि सभी जाति, वर्ग के लोग मिलकर संस्कृत के गीतों का पाठ, भक्तिभाव एवं सामूहिक रूप से कर रहे थे। संस्कृत लोकगीतों में आ गई और अब यह केवल उच्चवर्ग के लोगों की भाषा नहीं थी। भगवान् कृष्ण के उपवन का सुन्दर वर्णन करने वाला एक सरल पद देखिये-

“ललितलवंगलता परिसीलन कोमल मलय समीरे।”

मधुकर निकर करमुवित कोकिल कूजित कुंज कुटीरे।।”

(Cultural Leaders of India. Composers, page.2)

‘गीतगोविन्द’, संस्कृत में बारह सर्गों का एक छोटा सा किन्तु बहुत सुन्दर-मनोहारी भक्तिकाव्य है। इसके अन्दर विभिन्न रागों की चौबीस अष्टपदियाँ हैं। श्रृंगार का इतना मधुर वर्णन सन्तकाव्य में दुर्लभ है। श्रृंगार के साथ-साथ संत जयदेव जी ने दुविधा दृष्टि छोड़कर ब्रह्म निर्वाण में लीन होने का वर्णन किया है। आगे चलकर मन्दिरों में तथा परिवारों में संगीत के साथ प्रभुभक्ति के भजन गाने की परम्परा प्रारम्भ हुई इसका उद्गम गीतगोविन्द में दिखता है। गीतगोविन्द की भाषा अत्यन्त सरल गेय संस्कृत होने के कारण इन गीतों को सामान्य जन भी गा रहे थे। जगन्नाथ जी के मंदिर में शयन पूर्व आज भी गीतगोविन्द के पदों का गायन होता है। ओड़िशा एवं बिहार के गाँव-गाँव में गायन की यह परम्परा अभी भी विद्यमान है।

\* निरंजनी संप्रदाय- (विक्रम संवत् 16वीं शताब्दी)

निरंजनी सम्प्रदाय का मूलस्रोत नाथपंथ ही माना जाता है। माधना परम्परा के अन्तर्गत यह सम्प्रदाय नाथपंथ तथा संतमत की मध्यवर्ती कड़ी कहा जाता है। ओड़िशा क्षेत्र में यह परंपरा किसी न किमी रूप में आज भी जीवित है। इस मत का प्रचार ओड़िशा से ही प्रारम्भ हुआ माना गया है।

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी निरंजन जी थे जो ब्रह्म के निर्गुण रूप के उपामक थे। निरंजनी सम्प्रदाय के प्रचारकों में 12 भक्त अत्यधिक प्रसिद्धि पाये।

1. गणकार की उपामना के कारण ये लोग निरंजनी कहलाए। इस सम्प्रदाय के लोगों का जतिगत भेदभाव तथा व्यर्थ के बाह्याडम्बर को स्वीकार नहीं किया।

\* परम भक्त दासिया बाउरी

भक्तप्रवर दासिया की जगन्नाथ जी का अत्यन्त श्रेष्ठ भक्त माना गया है। अमृत्यु माने जाने वाले दासिया का एक सुन्दर प्रसंग आज भी अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति के साथ ओड़िशा में गाया जाता है। जगन्नाथ जी के परम-भक्त रहे दासिया बाउरी एक हरिजन परिवार में जन्मे थे ~~इस~~ कारण अनेक ब्राह्मण लोग इनका विरोध भी करते थे।

एकवार, एक ब्राह्मण, जगन्नाथ जी के दर्शन करने जा रहा था। मार्ग में अमृत्युय कहे जाने वाले दासिया ने ब्राह्मण को एक नारियल देकर कहा कि यह नारियल वावा जगन्नाथ जी को दिखलाना कि दासिया ने भेजा है। यदि जगन्नाथ जी स्वयं स्वीकार करें तो उचित अन्यथा नारियल वापस ले आना। कहते हैं कि ब्राह्मण ने जगन्नाथ जी को दूर से ही नारियल दिखलाया तो एक लम्बी भुजा वनकर भगवान् जगन्नाथ जी उस नारियल को स्वीकार कर लिये। भक्त दासिया के इस प्रसंग की स्मृति में आज भी रथयात्रा के समय हजारों लोग जगन्नाथ जी को नारियल समर्पित करते हैं। दासिया के जन्म स्थान पर लोग पवित्र भक्ति-भाव से जाते हैं। किसी के भी घर में नारियल वृक्ष फलता है तो प्रथम नारियल फल दासिया बाउरी की स्मृति में भगवान् जगन्नाथ जी को भेजा जाता है।

\* ओड़िशा के पंचसखा भक्तों का सामाजिक पुनरुत्थान आन्दोलन (ई.सन् 15 वीं एवं 16 वीं शताब्दी)

पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दी में ओड़िशा की धरती पर पाँच वैष्णव-भक्तों का एक ऐसा आन्दोलन प्रारम्भ हो गया जिसकी तुलना उ०प्र० के सन्त कबीरदास एवं भक्त रैदास के द्वारा समाज जागरण अथवा महाराष्ट्र के वारकरी सन्तों के भक्ति-आन्दोलन के साथ की जा सकती है। पंचसखा के इन सन्तों ने प्राचीन काल में चली आ रही भगवान् जगन्नाथ जी की आराधना को ही अपनी भक्ति का आधार माना।

प्रथमतः इन सन्तों ने संस्कृत में लिखित भागवत, रामायण, हरिवंश आदि धार्मिक ग्रन्थों का ओड़िआ भाषा में अनुवाद करने का निर्णय किया, जिसके कारण इन धर्म-ग्रन्थों का ज्ञान सामान्य जन तक सुविधा से पहुँच सके। ‘जगमोहन रामायण’ में भक्त बलरामदास कहते हैं-

“संसार निमन्ते मुहिं घोसाइ पुनि पुनि  
तुंभे मोते दया कर देब सुलपानी।

### सातकाण्ड रामायण करिते मोर मन नीलगिरि नाथ मोते होइब प्रसन्न ॥”

(Orissa Review, page. 49)

अर्थात् ‘ओ भगवान् जगन्नाथ, कृपा करके मेरे ऊपर प्रसन्न होइये जिसमें मैं इस रामायण को सात भागों में पूर्ण कर सकूँ।’

संस्कृत ग्रन्थों को ओड़िया भाषा में अनुवाद करने की भूमिका विद्वान भक्त शारदादास ने महाभारत का अनुवाद करके तैयार कर दी थी। भक्त शारदादास द्वारा प्रारम्भ की गई यह प्रक्रिया पंचसखा सन्तों द्वारा आगे बढ़ाई गई। भक्त बलरामदास ने रामायण तथा गीता का अनुवाद किया, भक्त जगन्नाथ दास ने भागवत का तथा भक्त अच्युतानंद दास ने हरिवंश का ओड़िया भाषा में अनुवाद करके लाखों लोगों के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। जनभाषा में अनुवाद करने समय पंचसखा भक्तों ने उस समय की स्थानीय सामाजिक परिस्थितियों को भी ध्यान में रखा। भक्त जगन्नाथ दास ने भगवान् जगन्नाथ को ही भागवत का कृष्ण मानकर ऐसा सुन्दर चित्र खींचा कि यह ग्रन्थ ओड़िया भाषी लोगों के हृदय में गहराई तक बैठ गया।

द्वितीयतः पंचसखा परंपरा के इन भक्तों ने जाति-वर्ण आदि सभी भेदों को दूर कर ज्ञान प्राप्त करने तथा भक्ति का अधिकार सभी के लिए स्वीकार किया। भक्त बलराम दास ने उस समय के विद्वानों के साथ बैठकर इस विषय पर गम्भीर शास्त्रार्थ भी किया। उन्होंने कहा कि ईश्वर के बारे में अधिकतम ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार सभी को है। यह केवल कुछ लोगों का एकाधिकार नहीं हो सकता। पंचसखा भक्तों ने चातुर्वर्ण्य के श्रेष्ठता मूलक विभाजन को अस्वीकार कर दिया। भक्त अच्युतानंद दास ने अपनी ‘गुप्त गीता’ में चातुर्वर्ण्य की परिभाषा को कुछ इस प्रकार परिभाषित किया-

“वैश्य तो नयन अताइ क्षत्रिय श्रबनकु कहि

ब्राह्मण नसारा पवन शूद्रे जे मुखरे प्रमान

एमंतो चारिजाति कहि ज्योतिमाध्यारू जन्म होई।”

(ibid, page. 50)

अर्थात् ‘यह जो समाजरूपी ईश्वर है उसमें वैश्य आँख स्वरूप हैं, क्षत्रिय उनके कान हैं, ब्राह्मण श्वाँस हैं तथा शूद्र उसका मुँह है। सभी उस दैवीय प्रकाश में से ही उत्पन्न हैं।’

पंचसखा के ये भक्त समाज में सभी को सम्मान दिलाने के संकल्प के साथ खड़े हो गए। इन्होंने अपने आपको भी निम्न कही जाने वाली जातियों के साथ रखा।

भक्त बलराम दास ग्वाना समुदाय (दूध का कारोबार करने वाले) परिवार से सम्बन्धित थे अतः वे इस मण्डली के गुरु रूप कहलाए। भक्त अच्युतानंद दास गहलुआगों के अधिक निकट थे तथा उन्होंने गहलुआगों के लिए ‘कैबर्त गीता’ की रचना की।

तृतीयतः पंचसखा के भक्तों ने मिलकर ओड़िशा के सामाजिक जीवन में एक प्रान्ति लाने का प्रयास किया। भक्त जगन्नाथ दास को छोड़कर पंचसखा परम्परा में अन्य चार भक्त अब्राह्मण थे। इन सभ्य भक्तों ने अपने मूल जातिगत बोध वाले नामों को त्याग दिया। उदाहरण स्वरूप भक्त जगन्नाथ दास ने ‘मिश्र’ नाम छोड़ दिया, भक्त बलराम दास ने ‘महापात्र’ को, भक्त यशोवन्त ने ‘मलिक’ तथा भक्त अच्युतानंद ने अपना ‘बूटी’ जातिवाचक नाम त्याग दिया। सभी ने अपने आप को ईश्वर का ‘दास’ कहलाना पसन्द किया। वे स्वयं को शूद्र कहलाने में प्रसन्न थे। भक्त बलराम दास तो ‘शूद्रमुनि’ के नाम से विख्यात हो गए। पंचसखा भक्तों का मानना था कि भगवद्भक्ति के लिए ‘शूद्र’ मानसिकता ही सर्वोत्तम है। भक्त अच्युतानंद दास लिखते हैं- “एक क्षत्रिय को अपने संघर्षशील स्वभाव के कारण सच्चा भक्त होने में कठिनाई है, ब्राह्मण के मन में बैठा श्रेष्ठता का भाव उसे सच्चा ईश्वरभक्त नहीं बनने देता तथा वैश्य के मन में सदैव व्यापारी वृत्ति होने के कारण वह भी ईश्वर की भक्ति आसानी से नहीं कर सकता। ईश्वर की कृपा से सभी की सेवा करने के कारण शूद्र के अन्दर स्वभाव से ही इतनी विनम्रता तथा शालीनता आ गई है कि वह ईश्वरभक्ति के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है तथा शूद्र के मन में किसी प्रकार का अहंभाव भी तो नहीं है।” (ibid, page. 52)

भक्त अच्युतानंद कहते हैं कि ‘हमने शूद्र कहलाना इसलिए भी उपयुक्त समझा कि हम नहीं चाहते कि हमारे साथी लोगों में कुछ उच्च तथा कुछ निम्नभाव का अनुभव करें।’

इस प्रकार हम देखते हैं कि पंचसखा भक्त केवल साधू या भक्त मात्र ही नहीं थे, वरन् वे सच्चे समाज सुधारक थे। धार्मिक ज्ञान को उन्होंने समान्य लोगों तक पहुँचाने के प्रयास किये। सभी को समान समझा तथा समाज में सबसे निम्न स्तर पर खड़े व्यक्ति के साथ वे स्वयं खड़े हो गए। शूद्र कहलाने वाले लोगों के मन में आशा और आत्मविश्वास का संचार किया तथा ओड़िशा के जनमानस में एक अभूतपूर्व चेतना का जागरण हुआ।

## \* भक्त बलराम दास

भक्त बलराम दास तथाकथित शूद्रवर्ण के थे तथा इन्होंने भक्तिभाव वाले अनेक ग्रन्थों की रचना की। उनके द्वारा रचित लक्ष्मी पुराण आज ओड़िशा के घर-घर में प्रसिद्ध है। इस पुराण का कथानक इस प्रकार है कि एक हरिजन (चाण्डाल) परिवार में एक दिन माँ लक्ष्मीदेवी जी गई इस कारण जगन्नाथ जी तथा बलराम जी श्रीमन्दिर से लक्ष्मी जी को निकाल देते हैं। लक्ष्मी जी अब चाण्डाल के घर में ही निवास करती हैं। बाद में जगन्नाथ जी तथा बलराम जी को भोजन नहीं मिलता। घर-घर जाकर भिक्षा माँगकर जाते हैं, खाना पकाने की कोशिश करते हैं किन्तु खाना पकता नहीं। अन्ततोगत्वा उसी चाण्डाल परिवार में जाकर दोनों भाई खाना खाते हैं। उस दिन के पश्चात् ऐसी परम्परा पड़ी कि श्रीमन्दिर में सभी जाति के लोग साथ-साथ भोजन करते हैं। भक्त बलराम दास की दाह्यात्या भक्ति गाँव-गाँव में प्रसिद्ध है। इस प्रसंग की स्मृति में मार्गशीर्ष मास के सभी गुरुवारों के दिन परिवारों में उत्सव जैसा मनाया जाता है तथा माँ लक्ष्मी अपने घर आएँगी ऐसी मान्यता प्रचलित है। भक्त बलराम दास द्वारा रचित जगमोहन रामायण अत्यधिक प्रसिद्ध है।

\* अतिबड़ि जगन्नाथ दास (वि.सं. 1547-11607; ई.सन्. 1490-1550)

ओड़िशा की पंचसखा परम्परा में अतिबड़ि जगन्नाथ दास एक प्रसिद्ध सन्त थे। इन्होंने लोकभाषा में अत्यन्त सरल तथा बोधगम्य गेय शैली का प्रयोग करते हुए भक्तिग्रन्थों की रचना की। श्री जगन्नाथ दास जी ने 'दाह्यात्या भक्ति' ग्रन्थ में अपने सरल और सादगी-पूर्ण जीवन के स्वरूप हेतु मार्गदर्शन किया है। इस ग्रन्थ को गाँव-गाँव में पढ़कर सुनाया जाता है तथा इसके आधार पर समाज का संरक्षण तथा संवर्धन हुआ। उनका दूसरा ग्रन्थ 'भागवत' है जो सरल भाषा में लिखा गया है। इसको पढ़ने के लिए पूरे उत्कल प्रान्त में सभी गाँवों में 'भागवत दुंगी' हुआ करती थी। आज भी अनेक गाँवों में यह भागवत दुंगी होती है तथा सायंकाल सभी जातियों के लोग भक्तिभाव से एकत्रित होते हैं।

\* भक्त श्रीउपेन्द्र भंज कृत् वैदेहीश बिलास- (वि.सं. 1742-1782; ई.सन्. 1685-1725)

ओड़िशा के भक्तिकाव्य साहित्य क्षेत्र में श्री उपेन्द्र भंज (ई.सन् 1685 से 1725) के वैदेहीश-बिलास का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। सर्वसामान्य लोगों के लिए

गगनान् गम के अनुकरणीय चरित्र की उपेन्द्र भंज ने अत्यन्त सुंदर ढंग में प्रस्तुत किया है। यह लोकजीवन का एक श्रेष्ठ महाकाव्य माना जाता है। वैदेहीश-बिलास श्रीरामचन्द्र जी की लीला का सांगोपांग वर्णन किया गया है। नामकरण बड़ा ही शायद्वपूर्ण है। ओड़िआ वर्णमाला में ब और व दोनों अक्षर हैं परंतु भाषा में बाल व का ही व्यवहार उपेन्द्र जी ने किया है। इस काव्य में प्रत्येक पाद के आग्राक्षर को व से आरंभ किया है। प्रत्येक छंद के पदों की संख्या भी व आद्यक ही है जैसे- वाईस, बत्तीस, बयालीस, बावन, बासठ, बहत्तर आदि। कुल छंदों की गणना बावन भी व आद्यक है। भारतीय साहित्य में यह अनुपम उदाहरण है। श्रीउपेन्द्रजी ने प्रत्येक छंद की रचना भगवान् श्रीरामचंद्र जी का स्मरण करते हुए गमाप्त की है। सरल, रूचिकर, गेय साहित्य होने के कारण ओड़िशा के ग्राम-ग्राम में प्रभु रामभक्ति का संदेश घर-घर पहुँच गया। इस प्रकार वैदेहीश बिलास ने सामाजिक समरमता हेतु महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

\* सन्त शारलादास (18वीं शताब्दी)

मुस्लिम आक्रमणों के संकटकाल में हिन्दू समाज को भक्तिभाव के सहारे गुरुशल वचाण, रवने के लिए ओड़िआ भाषा में सन्त शारलादास ने महत्वपूर्ण प्रयास किये हैं। सन्त शारलादाम स्वयं तथाकथित शूद्र कुल में उत्पन्न हुए थे किन्तु भक्ति जागरण में उन्होंने अग्रणी भूमिका निर्वह की। इन्होंने जनभाषा में 'महाभारत' ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ जनप्रिय हो गया तथा घर-घर पढ़ा जाता है। जिस समय बंगाल के नवाब द्वारा ओड़िशा पर बार-बार आक्रमण हो रहा था तब इन सन्तों के भक्ति-जागरण ने ओड़िशा को बचाए रखा तथा सामाजिक एकता और समरसता के निर्माण में सुन्दर भूमिका का निर्वाह भी किया।

\* संत भीम भोई - (वि.सं. 1850-1895; ई.सन्. 1793-1848)

ओड़िआ भाषा के विख्यात सन्त भीम भोई का जन्म ओड़िशा के रेहाम्बोल नामक स्थान पर हुआ था। हिन्दू समाज में व्याप्त कुमस्कार, कुरीतियाँ तथा पिछड़ापन देखकर उनका मन दुःखी हो उठा। इस परिस्थिति को बदलने के लिए उन्होंने जीवनभर संघर्ष किया। विविध प्रकार के ढोंग तथा बाह्याचारों में फंसा गरीब हिन्दू समाज अपनी स्थिति को सुधारने के सम्बन्ध में विचार ही नहीं करता था। जन्मान्ध संत भीमभोई, कंध नामक जनजाति के थे। यद्यपि उन्होंने अक्षर ज्ञान प्राप्त नहीं किया किन्तु साहित्य रचना की दृष्टि से उनके प्रयास व्यापक थे।

समाज जागरण तथा समाज प्रबोधन की दृष्टि से उन्होंने व्यापक साहित्य रचना की। इस साहित्य रचना का मुख्य आधार भक्तिभाव तथा ईश्वर के प्रति श्रद्धा को बनाए रखना था। उनकी विशाल साहित्य रचना में- स्तुति चिन्तामणि, चऊतिसा, मधुचक्र, श्रुति निषेध गीता, निर्वेद माधना, आदि-अन्त गीता, अष्टक विहार गीता, ब्रह्म निरूपण गीता, भजन माला, पद्मकल्प, ब्रह्म चालक, महिमा कीर्ति कल्प, कल्प संहिता, भीम भोई मालिका, अनादि संहिता, पूर्ण संहिता, शून्य राहास, मनसभा मण्डल, महिमा विनोद, ब्रह्म संयुक्त गीता, ब्रह्म संयत्, नवीन विहार गीता, अहिंसा धर्म, ब्रह्म गीता और कलियुग गीता आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं।

अलेख महिमा धर्म नाम से एक विशेष पंथ चलाते हुए लोक-जागरण तथा लोक-प्रशिक्षण की धार्मिक व्यवस्था निर्माण करने का सफल प्रयास उन्होंने किया। मानवीय दुःख को देखकर संत भीम भोई कहते हैं-

“प्राणीक आरत दुःख अप्रमित। देखु देखु किबा सहु।

मो जीवन पछे नर्क पड़िथाड। जगत उद्धार हेड, हे महाबाहु।”

अर्थात्, ‘प्राणी जब अधिक दुःख के कारण आर्तनाद करता है तब उसको देखकर हम शान्त कैसे बैठ सकते हैं। इसलिए मेरा जीवन भले ही नरक में चला जाए किन्तु, हे महाबाहु जगत का उद्धार होना चाहिए।’ इस भजन में उनके मन की व्यथा का पता चलता है। इस प्रकार समाज सुधारक संत भीम भोई जीवन भर दीन-दुःखी एवं पिछड़े लोगों के दुःख को दूर करने तथा समाज में उनके सम्मान हेतु संघर्ष करते रहे। समाज के चरित्र उत्थान की दृष्टि से उन्होंने व्यापक प्रयास किये तथा असंख्य भजनों की रचना की।

#### \* भक्त सालवेग

भक्त सालवेग एक मुसलमान पिता तथा हिन्दू माँ के पुत्र थे। जगन्नाथ जी के परम-भक्त सालवेग ने भक्तिभाव वाले सैकड़ों भजनों की रचना की। सालवेग को कुछ रोग हो गया। हिन्दू समाज तो पहले भी इनको स्वीकारता नहीं था किन्तु कुछ होने के कारण तो दूरियाँ और बढ़ गईं। भजन गाते-गाते सालवेग स्वस्थ हो गए। लोगों ने उन्हें स्वीकार किया। जगन्नाथ जी की रथयात्रा में सम्मिलित होने के लिए उनके पास विशेष निमंत्रण जाता था। एकबार उनको विलम्ब होने के कारण जगन्नाथ जी की रथ यात्रा उनके आने तक रुकी रही। मृत्यु के पश्चात् उनकी

जगन्नाथ जी के मंदिर में ही स्थापित की गई है। उनके द्वारा लिखे गए भजनों का गायन भी श्रद्धा के साथ मंदिर में किया जाता है। भक्ति में तो ऐसा अभिमत सामर्थ्य था कि सालवेग जैसे सैकड़ों मुसलमान श्रीचैतन्य महाप्रभु के भाग्य बनकर ओड़िशा आ गए और विराट् हिन्दू समाज में विलीन हो गए।

॥ ॐ ॥

## आन्ध्र प्रदेश के साधू-संन्यासियों द्वारा समरसता के प्रयास

भारत के दक्षिण-पूर्वी भाग में समुद्र तट पर विनाल प्रान्त है 'आन्ध्र प्रदेश'। इस पवित्र भूमि पर महान योगी, साधू तथा संन्यासियों की एक बड़ी संख्या ऐसी हुई है जो अपनी धार्मिक तथा आध्यात्मिक साधना के माध्य ही देश तथा समाज के प्रति भी उसी श्रद्धा से समर्पित रहे। वे परिव्राजक की तरह भ्रमणशील थे किन्तु जातिगत भेदभाव से ऊपर उठकर सम्पूर्ण मानव समाज को उसके श्रेष्ठ जीवनमूल्यों के प्रति प्रेरित करते रहे। इनमें से कुछ लोगों ने स्वतंत्रता आन्दोलन में भी अपनी भूमिका का निर्वहन किया तथा ग्रामवासी एवं वनवासी लोगों को प्रेम-भाव से संगठित कर अंग्रेजों के विरुद्ध खड़ा कर दिया। सामाजिक समरसता, सम्मानपूर्ण जीवन तथा सामाजिक न्याय हेतु वे जीवन भर संघर्ष करते रहे।

१३वीं शताब्दी के श्रीकृष्णमाचार्य ने भक्ति-साहित्य को सर्वजन सुलभ बनाने के लिये संकीर्तन साहित्य की रचना तेलुगु भाषा में प्रारम्भ की। इस कारण वे तेलुगु भाषा के आदिकवि कहे जाते हैं। इन्होंने ही भक्त नम्मालवार (शठकोप) के 'द्राविड़वेद' (तिरुवायमोली) का अनुवाद तेलुगु में किया। श्रीकृष्णमाचार्यलु के पश्चात् तेलुगु में वैष्णवभक्ति साहित्य के निर्माताओं में श्रीअन्नमाचार्य अत्यधिक प्रसिद्धि पाये। भक्ति के भाववेश में डूबे श्रीअन्नमाचार्य तेलुगुभाषा में विपुल साहित्य लिखकर भक्ति को घर-घर पहुँचा दिया। भक्ति के भजन अब तेलुगु क्षेत्र में घर-घर गाने लगे। भक्तिभाव जागरण से सामाजिक एकता के नानेवाने को सुदृढ़ करने वालों में आन्ध्र के कबीर कहे जाने वाले संत वेमना, महान कवयित्री रामभक्त मोल्ला, वीर ब्रह्मेन्द्र स्वामी, कोंड्याचार्य स्वामी, काव्यकण्ठ वशिष्ठ गणपति मुनि, श्रीमलयाल स्वामी, अल्लूरी सीताराम राजू तथा वीरेश लिंगम पन्तुलू आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सभी ने अपने भक्ति के स्वरो से समाज के अन्तर्निहित मौलिक साम्य को मुखरित किया।

\* भक्त श्रीअन्नमाचार्यलु (वि.सं. 1465-1560; ई.सन्. 1408-1503)  
भक्त श्रीअन्नमाचार्यलु का जन्म आन्ध्र प्रदेश के कडप्पा नामक जिले में हुआ था। भक्त श्रीअन्नमाचार्यलु छोटी आयु में ही पैदल यात्रा करते हुए तिरुपति आ गए

11. फिर वहीं बस गये। भक्तिभाव से कविता लिखने की विलक्षण क्षमता तथा 12. स्वर देने की अदभुत कला भी आपके पास थी। जिस प्रकार उत्तर भारत में 13. भक्ति के कवि महान्मा सूरदास एवं मीरबाई प्रसिद्ध हो गए हैं उसी प्रकार आन्ध्र 14. प्रदेश में श्रीअन्नमाचार्य का स्थान बना है। वे अपने कीर्तनों में प्रभु के अनेक स्वरूपों 15. का वर्णन करते हैं। भक्त अन्नमाचार्य ने भगवान् विष्णु के स्वरूप तिरुपति 16. चालाजी के उपर ब्रह्मर्षि कीर्तन लिखे हैं। तिरुपति के प्रभु को वे बालाजी, श्रीनिवास 17. जी, व्यंकटेश स्वामी आदि विविध नामों से पुकारते हैं।" अन्नमाचार्य ने कहा कि 18. प्रभुभक्ति के कीर्तन आदि तेलुगु भाषा में रहेंगे तो यह सामान्य जन के लिए भी 19. सुलभ होंगे। इस कारण उन्होंने सामान्य जन की भाषा को स्वीकार किया।

भक्त श्रीअन्नमाचार्यलु ने 34 हजार कीर्तन लिखे किन्तु वर्तमान में केवल 14 हजार ही उपलब्ध हैं। सभी जीव-जन्तु तथा प्राकृतिक विविधताएं उस प्रभु की असीमश्रीला के ही स्वरूप हैं, ऐसा मानकर वे अपनी भक्ति रचनाएं करते हैं। ईश्वर के सम्मुख सभी समान हैं। गरीब-अमीर, राजा या रंक, विद्वान या विना पढ़े लिखे, ब्राह्मण या शूद्र आदि सभी को इसी मिट्टी में मिलना है। अतः आपस के भेदभाव निरर्थक हैं तथा सभी मनुष्य एक ही ब्रह्म के विविध स्वरूप हैं।

भक्त अन्नमाचार्य कहते हैं कि जातिगत भेदभाव निरर्थक है। देखो, राजा-सेवक, ब्राह्मण-चाण्डाल आदि सभी के अन्दर एक ही ब्रह्म है। वे लिखते हैं-

“ ब्रह्म मुकटे परब्रह्म मुकटे  
निन्दारा राजु निदिंचु निद्रयु नोकटे  
अंडने बंटु निद्र आदियु नोकटे  
मेडैना ब्राह्मणुडु मेडु भूमि योकटे  
छंडालु डुंडेटी सरिभूमि योकटे।”

अर्थात्, 'जैसी गहन निद्रा में राजा शयन करता है, वैसी ही निद्रा एक सेवक भी लेता है। एक ब्राह्मण मृत्यु के पश्चात् जिस भूमि (पंचतत्व) में मिल जाता है उसी भूमि में चाण्डाल भी तो मृत्यु पश्चात् मिलता है। जो ब्रह्म है वही परब्रह्म है। अतः आपस में भेदभाव क्यों करते हो।'

\* महान कवयित्री मोल्ला (वि.सं. 1377-1457; ई.सन्. 1320-1400)

लोकभाषा तेलुगु में रामकाव्य की रचना करने वाली आतुकूरी मोल्ला तेलुगु साहित्य की प्रथम कवयित्री कही जाती हैं। मोल्ला का जीवनकाल अनुमानतः ई0 सन् 1320 से 1400 माना जाता है। वह आजीवन ब्रह्मचारिणी रहीं तथा जाति से

कुम्हारिण थी। ध्वनिपूर्ण ठेठ तेलुगु शब्दों में उनकी काव्य रचना मन को मोह लेती है। आन्ध्र प्रदेश के लोक-जीवन में श्रीरामचंद्र में बहुरंग इष्टदेव कोई और नहीं है। श्रीराम प्रभु ने वनवास के 14 वर्षों का अधिकतम समय दण्डकारण्य और गोदावरी के किनारे पर ही बिताया। तेलुगु भाषा में रामकाव्य की जितनी बहुलता है उतनी अन्य भाषाओं में नहीं। तेलुगु भाषा में रंगनाथ रामायण, भास्कर रामायण, मोल्ला रामायण, रामाभ्युदयमु, रघुनाथ रामायण, एकोजी रामायण, गोपीनाथ रामायण आदि प्रसिद्ध हैं। आन्ध्र प्रदेश में महिला कृत चार रामायण प्रसिद्ध हैं। मोल्ला रामायण, मधुरवाणीकृत रघुनाथ रामायण शूरमु सुभद्रमास्वाकृत सुभद्रा रामायण, चैत्रोलु सरस्वतीकृत रामायण और आधुनिक युग में विश्वनाथ सत्यनारायण कृत श्रीरामायण कल्पवृक्षमु हैं। दीर्घकाव्यों में रंगनाथ और मंक्षेप काव्यों में मोल्ला रामायण का बहुत प्रचार है। अत्यन्त पिछड़ी कुम्हार जाति में जन्मी मोल्ला द्वारा रचित यह रामायण हिंदू समाज की स्वाभाविक अन्तः एकता को दर्शाती है।

★ संत वेमना-आन्ध्र का कबीर-(ई.सन्. 15वीं शताब्दी)

संत वेमना के काल के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के मत हैं किन्तु उनकी विलक्षण प्रतिभा के बारे में सभी एक मत हैं। कुछ लोग उन्हें शूद्र तो कुछ उन्हें ब्राह्मण बतलाते हैं। जीवन के प्रारम्भ के वर्ष तो उन्होंने वैभव सम्पन्नता में व्यतीत किये किन्तु बाद में सभी कुछ छोड़कर के विरक्त हो गए तथा निर्वस्त्र होकर जंगल में रहते थे। 'योगी वेमना का शतक' नामक पुस्तक अत्यन्त सरल भाषा में लिखी गई है। अपने पदों को समाप्त करते समय वे लिखते हैं- 'विश्वदाभिराम विनुरवेम'। अर्थात् विश्व को सदैव आनंद प्रदान करने वाले विश्वनियंता श्रीराम को स्मरण करके वेमना कहता है।

संत वेमना ने अपने जीवन भर जातिगत भेदभाव के विरुद्ध संघर्ष किया। वे समाज की बुराइयों तथा कुरीतियों को दूर करने के लिये संघर्ष करते हैं। समाज में सदगुणों का विकास हो तथा लोग नीति पर चले इस दृष्टि से वेमना ने सैकड़ों पद लिखे हैं। संत वेमना दूध तथा पुष्प के उदाहरण से मनुष्य के अन्तःकरण में निवास करने वाले परमेश्वर के समभाव को समझाते हैं-

“पसुला बन्ने वेरु पालेला ओक्कटे।

पुष्पजाति वेरु पूजा ओक्कटे।

दर्शन बुलारु दैवंबु ओक्कटे।

विश्वदाभिराम विनुरवेमा ॥”

अर्थात्, 'विश्व को आनंद देने वाले भगवान् राम का स्मरण करने हुए वेमना कहता है कि जानवरों के विविध तरह के रंग रहने पर भी उनका दूध तो केवल सफेद रंग का ही होता है। फूल भी तरह-तरह के रंग के होते हैं लेकिन पूजा करने के विधान में तो सभी फूलों का उपयोग एक ही प्रकार में होता है। उसी प्रकार विविध तरह के मानव होते हैं किन्तु उनके मन में एक ही परमेश्वर रहता है। अतः सभी मानव एक हैं ऐसा ही मानना चाहिए।'

★ पोतुल्लूरी वीर ब्रह्मेन्द्र स्वामी-(क्रि.सं. 1663-1750; ई.सन्. 1606-1693)

वीर ब्रह्मेन्द्र स्वामी का जन्म कर्नूल जिले के बंगानपल्ली नामक स्थान पर हुआ था। वीर ब्रह्मेन्द्र स्वामी पारिवारिक दृष्टि से बड़ई जाति के थे। प्रारम्भ के दिनों में संस्कृत न जानने के कारण मंदिर में पूजा-पाठ करने में कुछ लोग विरोध करते एवं अपमानित भी करते थे।

स्वामी वीर ब्रह्मेन्द्र के जन्म के समय, आन्ध्र प्रदेश में, मुसलमानों के आतंक के साथ ही हिन्दू समाज के जातिगत भेदभाव ने भी सामाजिक दूरियों को बढ़ा रखा था। बाह्याडम्बर तथा अनेक कुरीतियाँ समाज में घर कर गई थी। उस समय वीर ब्रह्मेन्द्र स्वामी ने अपने प्रवचनों में स्पष्ट किया कि यह जाति-व्यवस्था मनुष्य द्वारा निर्मित है। भगवान् के सम्मुख सभी समान हैं तथा जो योग्य हैं उनका सम्मान होना चाहिए। किसी जाति विशेष में जन्म लेने मात्र से ही कोई सम्मान अथवा अपमान का पात्र नहीं हो जाता है। इस दुरावस्था की जड़ में कहीं हमारी स्वार्थ भावना तथा अपनी जाति का अहंकार ही प्रमुख है। उनके लेखों उपदेशों तथा श्रेष्ठ जीवन को देखकर लोगों को सत्य की अनुभूति हुई तथा उनके शिष्यों में सभी जातियों के लोग सम्मिलित होते चले गये। इनमें अन्नय्या (ब्राह्मण), सिद्धय्या (मुस्लिम), काक्कय्या (दलित) आदि प्रमुख थे। वे सभी जाति के लोगों को एक साथ प्रसाद तथा भोजन देते थे।

उन दिनों बाल-विवाह की परम्परा चल पड़ी थी किन्तु उन्होंने बड़ी आयु की गोविन्दम्मा के साथ विवाह किया। आन्ध्र में नवबों का शासन था। अनेक मुस्लिम शासक भी उनके शिष्य हो गये जिनमें मोहम्मद बेग खान (बनगानपल्ली), अब्दुल्ला कुतुबशाह (हैदराबाद), मोहम्मद मीर जुमला तथा मोहम्मद रजा अली (सिद्धवटम) तथा अब्दुल वहाबखान, अब्दुल अजीज सिद्दी मसूदखान (कर्नूल) आदि लोग उनकी साधना तथा असाधारण गुणों से प्रभावित होकर उनका आशीर्वाद लेने आया करते थे। इन लोगों ने स्वामीजी के बंगानपल्ली तथा कन्दिमल्लया

पत्नी मठों के लिए जमीन और धन दान में दिया।

स्वामीजी के प्रयासों से एक ओर हिन्दू समाज की आपसी जातिगत दूरियाँ कम हुईं वहीं इस्लाम की आक्रमकता को भी उन्होंने कम करने में सफलता प्राप्त की। वीर ब्रह्मेन्द्र स्वामी के आचरण और व्यवहार से प्रभावित होकर इस्लाम मानने वाले सैकड़ों लोग हिन्दू धर्म की ओर आकर्षित होने लगे।

\* श्री कोंडयाचार्य स्वामी (वि.सं. 1891-1996; ई.सन्. 1834-1939)

श्री कोंडयाचार्य स्वामी ने उपेक्षित तथा वंचित वन्द्युओं के सम्मान के लिए अनेक प्रयास किए। तीर्थयात्रा करने हुए एक बार जब स्वामी जी आदिलाबाद जिले के बीव्रा नामक ग्राम में गए तो वहाँ पर उन्होंने देखा कि वीरशैव मत को मानने वाले लोग छोटी जाति के लोगों को गाँव से बाहर निकाल रहे हैं। स्वामीजी ने वीरशैव लोगों को समझाया कि सभी के अन्दर वही एक परमात्मा निवास करता है अतः किसी के भी साथ ऐसा भेदभाव करना उचित नहीं। स्वामी जी को सफलता मिली और छोटी या अस्पृश्य कही जाने वाली जातियाँ भी सम्मान पूर्वक रहने लगीं।

स्वामीजी अस्पृश्य या शूद्र कहे जाने वाले परिवारों में जाते थे, वहाँ प्रवचन करते तथा भोजन भी उसी परिवार में करते थे। इस बात का लोगों के मन पर व्यापक परिणाम होता था। एक बार स्वामीजी बापू नामक जूता बनाने वाले चर्मकार के घर में अचानक पहुँच गए। बापू तो आश्चर्यचकित हो गया। बापू धार्मिक व्यक्ति था। स्वामीजी ने कहा मैं तुम्हारी झोपड़ी में ही निवास करूँगा तथा जो भी भोजन घर में बनेगा वही करूँगा। बापू तो संकोच के कारण भोजन के लिए कुछ दे ही नहीं रहा था किंतु स्वामीजी ने घर के अंदर जाकर स्वयं ही खाने का सामान निकालकर भोजन करना प्रारम्भ कर दिया। बापू तथा उसके परिवार के लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ। स्वामीजी ने बापू के परिवारियों को तथा वस्ती के सभी लोगों को बुलाकर आशीर्वाद दिया और अपने मठ को चल दिए। स्वामी जी के जीवन में इस प्रकार के सैकड़ों प्रसंग हैं। सामाजिक समरसता के लिए उन्होंने अनुकरणीय उदाहरण रखा। छोटी या अस्पृश्य कही जाने वाली जातियों को उन्होंने सम्मान दिलाया। इस प्रकार स्वामी जी जीवनभर जातिगत भेदभाव के विरुद्ध संघर्ष करते रहे।

\* काव्यकण्ठ वशिष्ठ गणपति मुनि- (वि.सं. 1935-1993; ई.सन्. 1878-1936)

स्वतंत्रता हेतु संघर्ष में भाग लेने वाले वशिष्ठ गणपति मुनि एक धार्मिक संत पुरुष थे। यद्यपि वे अपनी आध्यात्मिक साधना में ही रत रहते थे किंतु सामाजिक

गणपतियों के प्रति भी जागरूक थे। विगत शताब्दी में जातिगत भेदभाव दूर करने तथा समाज सुधार के अनेक कार्यक्रमों की दृष्टि से वशिष्ठ गणपति मुनि अपना भिन्न स्थान रखते हैं। श्रीगणपति मुनि ने कांग्रेस के सन् 1923 के काकीनाडा अधिवेशन के समय प्रभावी भाषण देते हुए समाज की बुराइयों को दूर करने का आह्वान किया। वैदिकमंत्रों का उदाहरण देते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि महिलाएं भी यज्ञोपवीत धारण कर सकती हैं तथा यज्ञ, श्राद्ध आदि कार्यक्रम भी सम्पन्न करा सकती हैं। आलामपुर के अधिवेशन में उन्होंने समाज में से अस्पृश्यता दूर करने के लिये आगे आने को कहा। सन् 1924 में दक्षिणी प्रान्तों के कांग्रेस के अध्यक्ष रहते हुए, बलगाँव में छुआछूत समाप्त करने हेतु उन्होंने व्यापक योजना लोगों के सम्मुख रखी। अगले दिन उन्होंने संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाने के ऊपर अपना विचार प्रस्तुत किया। इस विषय पर गांधी जी के साथ कुछ मत भिन्नता होने के कारण उन्होंने राजनीति में संन्यास ले लिया और समाज सुधार के कार्यों में लग गये। आगे चलकर सुब्रह्मण्यम् अय्यर ने एक गुरुकुल प्रारम्भ किया तो गणपति मुनि ने एक तथाकथित दलित वर्ग के व्यक्ति (रसोइया) को भोजन निर्माण हेतु गुरुकुल में रखाया यद्यपि इस बात से कुछ लोग नाराज भी हुए। इस प्रकार इस शताब्दी के सामाजिक सुधारों हेतु वे जीवन भर संघर्ष करते रहे।

\* सद्गुरु श्री मलयाल स्वामी - (वि.सं. 1942-2019; ई.सन्. 1885-1962)

सद्गुरु श्रीमलयाल स्वामी केरल क्षेत्र के निवासी तथा श्रीनारायण गुरु के शिष्य थे। श्रीमलयाल स्वामी, तिरुपति में बालाजी वेंकटेश्वर के दर्शन करने ई0 1913 में आए और फिर वहीं रह गए। गोगर्थम् में बारह वर्ष साधना की और ई0 1926 में एपेंड में श्री व्यामाश्रम नाम में आश्रम बनाकर रहने लगे।

उन्होंने गाँव-गाँव भ्रमण कर सभी जाति, वर्णों के लोगों को बताया कि संन्यास लेने तथा तपस्या करने का अधिकार सभी को है। महिलाओं को भी मंत्रोपदेश देने का कार्य किया। संन्यासियों के प्रशिक्षण के लिए एपेंड में संस्कृत विद्यालय तथा ब्रह्मविद्या पाठशाला प्रारम्भ की। यथार्थ भारतीय नामक पत्रिका प्रारंभ की तथा सभी प्रकार के जातिगत भेदभाव से ऊपर उठने हुए सनातन वेदान्त सभा के माध्यम से प्रतिवर्ष बड़े-बड़े आध्यात्मिक सम्मेलन सम्पन्न किए आज भी ऐसे सम्मेलन वहाँ आयोजित होते हैं।

गलियों में घूमने वाले बच्चों के लिए भोजन, आवाम तथा उनके अध्ययन की व्यवस्था भी स्वामी जी करते थे। उन्होंने गरीब बच्चों को स्वयं संस्कृत पढ़ाना

प्रारम्भ किया। सन् 1935 में सभी जाति की लड़कियों के लिए आर्याभारतीय विद्यालय प्रारम्भ कर के एक मुन्दर उदाहरण रखा।

“उच्च कार उपमत्ता” की परम्परा प्रारम्भ कर सभी जातियों के लोगों को इसमें जोड़ा। श्रीमलयाल स्वामी जी ने कहा कि वेदों का अध्ययन तथा मंत्रास ग्रहण करने का अधिकार सभी जातियों के लोगों को है।

श्रीमलयाल स्वामी जी के कारण आन्ध्रप्रदेश में निम्न कही जाने वाली जानियों में धार्मिक भाव का जागरण हुआ तथा उन सभी को स्वाभिमान - सम्मान की अनुभूति हुई। केरल के श्रीनारायण गुरु के उदाहरण की तरह ही सामाजिक उत्थान तथा समरसता का वातावरण आन्ध्र में भी बन सका।

\* अल्लूरी सीताराम राजू - (वि.सं. 1954-1981; ई० सन्. 1897-1924)

वीनी शताब्दी में अल्लूरी सीताराम राजू, आन्ध्र प्रदेश की धरती पर उत्पन्न हुए धार्मिक महापुरुषों में एक महान देशभक्त थे। अपनी शिक्षा के समय ही सीताराम राजू का सम्बन्ध आस-पास के वनवासी लोगों से आने लगा। सम्पूर्ण देश की यात्रा के पश्चात् उनके मन में गरीब तथा पिछड़े लोगों के सम्मान तथा देश की स्वतंत्रता का प्रश्न सर्वापरि था। सन्यासी बनकर इसी कार्य हेतु अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित करने का मन बन गया। उन्होंने कृष्णादेवी पेठ के नीलकण्ठेश्वर मंदिर में अपना डेरा लगाया। वहीं पर कठोर साधना प्रारम्भ हो गई। अल्लूरी सीताराम राजू ने धीरे-धीरे वहाँ के वनवासियों (कोया व चैन्नु जातियों) का संगठन बनाया। वनवासियों के अन्दर पतन रही बुराइयों जैसे नरबलि देना, अत्यधिक शराब पीना तथा अनावश्यक होंग-आदि को प्रेमपूर्वक समाप्त किया। लाखों वनवासी अब राजू के भक्त हो गए। श्री सीताराम राजू ने किसी भी प्रकार के जातिगत भेदभाव को प्रश्रय नहीं दिया।

अंग्रेजों द्वारा हो रहे अमानुषिक शोषण के विरुद्ध श्री सीताराम राजू ने संघर्ष का शंखनाद कर दिया। हजारों लोग धनुष-बाण, लाठी, भाले लेकर अंग्रेज सेना का मुकाबला करते थे। अनेक अंग्रेज सैनिक तथा अधिकारी मारे गये। आन्ध्र प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में सीताराम राजू का अधिकार हो गया। वनवासियों की पंचायतें गठित हो गई तथा उनके मुकदमे अब अंग्रेजों के पास नहीं जाते थे। सभी प्रकार के सरकारी कर आदि भी लोगों ने अंग्रेजी शासन को देने से मना कर दिया।

अल्लूरी सीताराम राजू ने एक अद्भुत सामाजिक एकता का निर्माण किया। उनके अनुयायी किसी भी प्रकार का जातिगत भेदभाव नहीं मानते थे। अंग्रेज सरकार से संघर्ष भी बढ़ता जा रहा था। स्थान-स्थान पर राजू के लोगों ने अंग्रेजों

1. शस्त्रागार लूट लिये। अंग्रेजों ने बड़ी सेना मंगा ली। वनवासी लोग इतनी बड़ी सेना का मुकाबला तो नहीं कर सकते थे। लोगों के आगे तीर क्रमान कर तक लगे। अन्ननोरागन्वा निर्दोष नगरिकों की स्थिति विगड़नी देख कर श्री सीताराम राजू ने आत्मसमर्पण कर दिया। अंग्रेज अधिकारियों ने अल्लूरी सीताराम राजू को पाल में बाँधकर गोली मार दी। 8 मई, 1924 को सीताराम राजू का अन्तिम सकार कर दिया गया।

अल्लूरी सीताराम राजू एक संन्यासी थे तथा ईश्वरभक्त के साथ ही वे भगवद्भक्त तथा राष्ट्रभक्त भी थे। सामाजिक समरसता, कुरीति-निवारण एवं आजादी की लड़ाई हेतु समर्पित उनका धर्मप्राण जीवन लाखों लोगों को प्रेरित करना रहेगा।

\* कन्दकूर वीरेश लिंगम पन्तुलु - (ई० सन्. 19वीं शताब्दी)

कन्दकूर वीरेश लिंगम पन्तुलु का जन्म राजमुन्दरी में हुआ था। वे प्रसिद्ध साहित्यकार हो गए हैं। सारा जीवन समाज में नवजागरण के लिए समर्पित था। नेतृगु साहित्य में सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विषयों पर पन्तुलु ने पर्याप्त लिखा है। समाज परिवर्तन की दृष्टि से उन्होंने राजशेखर चरित्रम् नामक श्रेष्ठ उपन्यास लिखा। साहित्य रचना के द्वारा उन्होंने सामाजिक भेदभाव, अस्पृश्यता, बाल विवाह, शिक्षा आदि के सम्बन्ध में समाज को जागृत करने का स्तुत्य प्रयास किया। स्त्री शिक्षा तथा तथाकथित अस्पृश्य वस्तुओं की शिक्षा हेतु विद्यालय भी खोला जिसमें प्रथम विद्यार्थी इनकी पत्नी ही थी। इस प्रकार विविध रीति से समाज के अन्दर धार्मिक भाव जगाने हुए उन्होंने समाज का नवजागरण किया एवं स्त्री शिक्षा को भी प्रोत्साहित किया।

नामक ग्रन्थ में इन निर्गुण नायन्मार भक्तों का विस्तृत विवरण है। नायन्मार शिवभक्ति में रहकर माधना करते थे तथा व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य भाव को इन्होंने कोई स्थान नहीं दिया। इन सन्तों में अनेक ऐसे भी थे जो शक्ति-निम्न जातियों में आये थे तथा वहीं कुछ सन्तों की जानि किमी को पना नहीं चली। इन नायन्मारों में तिरुमूलर ग्वाल के रूप में रहे, अम्पैयार (पुनीतवती) वैष्णव परिवार की थीं, कण्णप्पर व्याघ्र थे, अप्पर कृपक थे एवं नन्दनार, ये लेकिन शैवभक्तों ने उन सभी को व्यापक सम्मान दिया है। कुछ नायन्मार सन्तों की चर्चा हम यहाँ करने हैं—

#### \* भक्त तिरुमूलर

छठी शताब्दी में पैदा हुए तिरुमूलर की जाति के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती है। शैवसन्तों में इनका नाम प्रथम आता है। इन्होंने उच्च कोटि के आध्यात्मिक ग्रन्थ 'तिरुमन्दिरम्' की रचना की। शिवभक्त तिरुमूलर तमिल प्रदेश के आदि गुरु माने जाते हैं। 'तिरुमन्दिरम्' ग्रन्थ अनेक सन्तों के लिए मार्गदर्शक बना। एक विशेष घटना के कारण शिवभक्त तिरुमूलर ने अपने जीवन का बड़ा भाग ग्वाल के रूप में व्यतीत किया।

#### \* भक्त कारिकाल अम्पैयार (पुनीतवती)

इनका वास्तविक नाम तो पुनीतवती था किन्तु भक्तगण इनको आदर से 'कारिकाल अम्पैयार' कहने लगे। पुनीतवती शिव की अत्यन्त भक्त थीं। 'पेरिय पुराणम्' में इनके पवित्र चरित्र का उल्लेख किया गया है। नायन्मार सन्तों में पुनीतवती प्रथम महिला सन्त के रूप में विख्यात हैं। इनका जन्म कारिकाल नामक स्थान पर एक वैष्णव परिवार में हुआ था। इन्होंने तीन श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना की है जिनमें उनकी भक्ति-भावना का परिचय मिलता है।

#### \* भक्त कण्णप्पर

इनका मूल नाम तृणप्पर था। इनका जन्म एक व्याघ्र-कुल में हुआ था, जिसका काम जंगली पशु-पक्षी का शिकार करना ही होता है। किमी विद्यालय में शिक्षा पाने का अवसर इन्हें नहीं मिल सका। जंगल के ही पुष्प आदि में वे शिव की अर्चना करते थे। कहते हैं कि इन्होंने अपनी दोनों आँखें शिव को अर्पित कर दीं। शिव के प्रति अपनी अपार भक्ति के कारण ही आप प्रसिद्ध हो गए। अनेक सन्तों ने शिवभक्त कण्णप्पर की वन्दना की है।

## तमिलनाडु में भक्ति का उत्थान 'भक्ति द्वाविड़ ऊपजी'

विगत दो हजार वर्ष का इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि 'भक्ति' की उद्गमस्थली तमिलनाडु की पवित्र भूमि ही रही है। तमिलनाडु में प्रारम्भ होकर 'भक्ति' का यह प्रवाह उत्तर भारत की ओर चल पड़ा? दक्षिण के नायन्मारों तथा आलवारों ने भक्ति, प्रेम तथा समरसता की निर्मल त्रिवेणी प्रवाहित कर दी। वैष्णव-भक्त आलवारों की इस अनमोल विरासत को लेकर श्रीगामानुज सम्पूर्ण देश की यात्रा पर निकल पड़े। उनकी व्यापक शिष्य परम्परा में कुछ पीढ़ियों पश्चात् काशी के स्वामी रामानन्द सामने आ गए जिन्होंने अपने विलक्षण क्षमतावान तेजस्वी शिष्यों के माध्यम से उत्तर-भारत के ग्राम-ग्राम में इस भक्ति और दिव्यप्रेम को प्रसारित कर दिया। देखते ही देखते सम्पूर्ण भारत 'भक्ति' के आलौकिक प्रकाश से आलोकित होने लगा तथा एक सार गर्भित उक्ति सम्पूर्ण देश में प्रसिद्ध हो गई—

“भक्ति द्वाविड़ ऊपजी लाए रामानन्द।”

भारतभूमि के इस दक्षिणी क्षेत्र में हजारों वर्ष में भगवद्भक्ति की सुन्दर परम्परा चली आ रही है। भक्तगण भगवान् की स्तुति में लीन रहते हैं और इसी में जीवन की धन्यता भी मानते हैं। ऐसे हजारों भगवद्भक्तों ने जीवन में शुचिता-पवित्रता तथा परोपकार का भावसन्देश समाज को दिया और इसी के साथ-साथ आध्यात्मिक ऊँचाई को प्राप्त करने का मार्ग भी प्रशस्त किया। इन भक्तों की शृंखला में तिरुवल्लुवर, ओवैयार, तिरिसुठ शैवभक्त नायन्मार, बारह वैष्णवभक्त आलवार, कम्बान् ऋषि, अनेक सिद्ध तथा नाथभक्त, भक्त अवैय्यार, सन्त नन्दनार, त्यागराज एवं महर्षि रमण आदि के नाम प्रमुख हैं। इन सभी ने मनुष्य-मनुष्य के अन्दर भेदभाव को मान्यता नहीं दी। इन भक्तों में अनेक निम्न जाति जाने वाली जातियों में से भी आये थे किन्तु अपने जीवन की श्रेष्ठता के कारण इन सभी को समाज में अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त हुआ। इनमें से कुछ के बारे में हम चर्चा करेंगे।

#### \* नायन्मार सन्तगण-(वि. सं. तीसरी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक)

तमिलनाडु में शैवसन्तों की एक सुंदर मालिका प्रसिद्ध है जिन्हें तमिल भाषा में नायन्मार कहते हैं। वहाँ के धार्मिक जीवन में इनका बड़ा महत्व है। तिरुण्डोर

### \* भक्त तिरुजान सम्बन्ध

तमिलनाडु के श्रेष्ठ मन्त्रों में भक्त सम्बन्धर की गणना होती है। आपने 16 वर्ष की आयु तक सभी जैवनीयों की तीनवार यात्रा कर ली थी। वे जहाँ भी जाते थे वहाँ देवता की स्तुति के पद बनाते तथा गाते थे। उनके भक्तिपदों को निरूपनिकम कहा जाता है। इनकी संख्या कई हजार है तथा कई राग-रगिनियों में ये गाये जाते हैं। उनके भजनों के सात ग्रन्थ हैं तथा आद्य शंकराचार्य ने इन्हें 'द्राविड़ शिशु' कहकर गौरवान्वित किया है। यद्यपि उनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था किंतु भक्त सम्बन्धर ने कहा है कि- ॐ नमः शिवाय मन्त्र जो भी जपता है, चाहे वह शूद्र हो या राजा, वह देवतुल्य बन जाता है। यह मन्त्र प्रेम में द्रवीभूत होकर, अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ गाया जाने वाला महामन्त्र है जो भक्तों का उद्धार करता है।

### \* भक्त अप्पर (मरुणीक्कियार)

सन्त सम्बन्धर के समय ही अप्पर नामक सन्त हो गए हैं। इनका नाम मरुणीक्कियार था। इनका जन्म एक कृपक परिवार में हुआ था। इनकी शिवभक्ति देखकर पल्लव राजा महेंद्र बहुत प्रभावित हुआ तथा वह जैन मत छोड़कर शिवभक्त हो गया। सन्त सम्बन्धर, मरुणीक्कियार से बहुत छोटे थे। मरुणीक्कियार को सम्बन्धर श्रद्धा और प्रेम से अप्पर (पिता) कहकर पुकारते थे। बस तभी से ये भक्त अप्पर नाम से प्रसिद्ध हो गए। भक्त अप्पर ने कन्याकुमारी से कैलाश तक की पैदल यात्रा की थी। वे चिदम्बरम्, काँचीपुरम् तथा वारणसी भी गए।

### \* पत्त किरियार

जैवभक्तों में पत्तकिरियार सम्पूर्ण मानव-जाति के बंधुत्व के पक्षपाती थे। उनके अनुगार मनुष्य की जाति और ईश्वर एक ही है। वे कहते हैं-

“जाति-प्रथा की यंत्रणाओं से मुक्त, हमारी जाति कब एक विशाल बिरादरी बन पाएगी, इस यंत्रणा को कपिल ने सहा था और सिखाया था कि कभी मनुष्य केवल मनुष्य था।”

(भारत की संस्कृति और कला, पृ. 284)

इस प्रकार तमिलनाडु की धरती पर उत्पन्न हुई 63 नायन्मार जैवभक्तों की महान परम्परा ने अपनी माधना के बल पर दक्षिण भारत की धरती को भक्तिमय बना दिया। ये मन्त्र सभी जानियों से आये थे। इनमें ब्राह्मण, व्याध, किसान, वैश्य, महिला, खाला, शूद्र आदि सभी थे। जानिगत भेदभाव को इस भक्ति माधना में कोई स्थान नहीं था। तमिलनाडु की जनता ने इतनी सारी की अगाध स्नेह तथा सम्मान दिया

था आज भी उनकी यशकीर्ति की छाप वहाँ दिखलाई पड़ती है।

### \* आलवारों का सुधारवादी भक्ति आन्दोलन

तमिलनाडु के बारह वैष्णव भक्तगणों की एक मालिका 'आलवार' नाम से प्रसिद्ध है। दक्षिण भारत में, पाँचवीं-छठी शताब्दियों की धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति कोलाहल पूर्ण थी। अनैतिकता, अराजकता एवं सामाजिक भेदभाव का बोलबाला था। बौद्ध, जैन तथा वैदिक कर्मकाण्डों के अतिरेक के कारण सामान्य जनता अमहाय जैसी बूझ गई थी। इस बात की माँग थी कि विविध पूजा पद्धतियों की बुराइयों को समझकर धर्म के श्रेष्ठ आचरण तथा ज्ञान का नेतृत्व संभाल लिया जाए। ऐसे समय में इन आलवार भक्तों ने अध्यात्म भक्तगणों ने अपने श्रेष्ठ भक्तिपूर्ण जीवन तथा कालजयी साहित्य का सृजन करके भक्ति की ऐसी सुरमरिता प्रवाहित की जिसमें समस्त दक्षिण भारत अवगाहन कर विलक्षण शांति का अनुभव करने लगा। आगे चलकर भक्ति की यही उत्साल तरंगें, उत्तर भारत की ओर बढ़ने लगीं तथा शनैः-शनैः सम्पूर्ण भारत भक्ति के महासागर के साथ आत्मसात् हो गया।

भक्ति-आन्दोलन व्यापक जन-आन्दोलन के स्वरूप में- पाँचवीं-छठी शताब्दी में आलवारों और नायन्मारों ने भक्ति का जो तीव्र आन्दोलन चलाया वह इतना लोकग्राही क्यों हो गया, इसके कुछ मूलभूत कारण हैं।

- (1) उस दिनों समाज में बड़े बड़े नास्तिक विचारों का सामना करने हेतु उन भक्तों द्वारा मच्चरी भक्ति-भावना जगाना।
- (2) लोकभाषा तमिल में भक्तिभावना वाला साहित्य तैयार करना।
- (3) कर्मकाण्ड तथा ज्ञानमार्ग की कठिनाइयों की तुलना में वैदिक भक्ति के स्वरूप को सुधार कर सभी के लिए सुलभ कर देना।
- (4) ईश्वरभक्ति में जानिगत भेदभाव को कोई स्थान न देना।

वैष्णवभक्त आलवारों ने, वेद, उपनिषद् और गीता के गूढ़ तत्त्वज्ञान को भक्ति के सरलतम स्वरूप के साथ जनसामान्य के लिए प्रस्तुत किया। क्लिष्ट कर्मकाण्ड के स्थान पर, भजन, कीर्तन, नामस्मरण आदि को वैष्णव-भक्ति का आधार बना दिया गया, जो युगानुकूल था। आलवार भक्तों ने भक्ति-मार्ग को ही सर्वोपरि स्वीकार किया। वैष्णव दर्शन में इसी को शरणगति या प्रपत्ति कहा। अर्थात्, भगवान् की शरण में अपने आपको पूर्णरूप से समर्पित कर देने से ही प्रभु का अनुग्रह प्राप्त हो सकता है।

आलवार भक्तों ने भक्तिमार्ग के व्यापक प्रसार हेतु लोकभाषा का ही सहारा लिया। वैदिक साहित्य संस्कृत में होने के कारण से जन-समाज का बड़ा वर्ग उससे दूर ही था। इन सन्तों द्वारा निर्मित साहित्य तमिल भाषा में होने के कारण, ममस्त जनता, भक्ति के इन विचारों के साथ परिचित हो गई तथा भक्ति के इन काव्यों का व्यापक प्रचार हो सका। इस प्रकार भक्ति का यह आन्दोलन जन-आन्दोलन में बदलता चला गया। अब भक्ति का अधिकार सामान्य जन को भी प्राप्त था। डा0 एस0 कृष्णस्वामी आयरंगार लिखते हैं-

“Alvars are the first people who gave a new shape to Bhakti school, making simple, designed not for serving the purpose of worship by the elite, but subserve the similar ends for the quite ordinary folk.” (History of Tirupati, vol 1, page 73-74)

संस्कृत में वेदों को जो प्रतिष्ठा प्राप्त थी वही प्रतिष्ठा आलवारों के भक्ति गीतों को भी तमिल प्रदेश में प्राप्त हो गई। भक्त नम्मालवार, जो स्वयं तथाकथित शूद्र वर्ग के थे, द्वारा रचित तिरुवायमोली को तमिल वेद कहा जाता है। आलवारों तथा नायन्यारों का भक्ति-परक साहित्य, पूर्ण रूप से गाया जाने वाला था इस कारण इसने जन मानस के हृदय को बहुत प्रभावित किया। ये भक्त स्वयं गायक थे तथा भिन्न-भिन्न स्थानों पर जाकर भक्ति के पद गाते थे तथा अन्य लोग भी इनके साथ भाव-विभोर हो जाते थे। आलवारों तथा नायन्यारों ने लोकगीत की स्थानीय प्रचलित शैली को ही अपनाया जिसके कारण तत्कालीन जनमानस आकर्षित होता चला गया। इसी प्रकार के लोकगीत पहले से ही वहाँ विविध पर्वों पर गाये जाते थे। इस भक्ति-आन्दोलन को व्यापक जन-आन्दोलन का स्वरूप इस कारण ही मिल सका क्योंकि इन सन्तों ने जाति-पाँति तथा ऊँच-नीच के भेदभाव को मिटाकर सभी को भक्ति-मार्ग का समान अधिकारी घोषित कर दिया था। आलवारों तथा नायन्यारों ने भक्ति के द्वार सभी के लिए खोल दिए थे। शूद्रों के साथ-साथ महिलाओं को भी भक्ति-पंथ में पर्याप्त सम्मानपूर्ण स्थान दिया गया। विष्णुभक्त नम्मालवार, जो वैष्णव जगत में देवतुल्य माने गये, शूद्र वर्ग के थे। इनके शिष्य मधुरकवि आलवार ब्राह्मण थे तथा इनसे आयु में भी बहुत बड़े थे। भक्त तिरुमंगै एवं तिरुमलिसई आलवार स्वयं व्याघ्र जाति के थे। भक्त तिरुप्पान आलवार चाण्डाल वर्ग के थे। आलवारों में कुछ ब्राह्मण भी थे वहीं कुछ ऐसे भी थे जिनकी जाति किसी को पता ही नहीं चल सकी। इन सभी भक्तों ने घोषणा की कि भगवान् की शरण सभी के लिए है। भक्ति-आन्दोलन के इन प्रणेताओं ने ऊँच-

नीची-पुष्ट आदि के भेदों को समाप्त कर समवेत स्वर में सभी को समान भावना की घोषणा कर दी। भारतीय समाज जीवन के लिए यह एक क्रांतिकारी गान बन था।

वैष्णवभक्त आलवार तथा शिवभक्त नायन्यार स्वयं भ्रमणशील थे तथा विविध मन्दिरों के दर्शन करने जाते थे। मन्दिरों में जाकर भक्तिभाव से भजन गाकर वे सभी को भाव-विभोर कर देते थे। इनके साथ ही बड़ी संख्या में इनके गाय-गण भी विविध स्थानों पर जाकर भक्ति के प्रचार कार्य में लग गए। निरन्तर भ्रमणशील भक्त आलवारों के रूप में प्रेम, भक्ति, गीता, उपनिषद्, मन्दिर तथा भजनों आदि की कैसी आध्यात्मिक स्वर्णिम सरिता का दर्शन होता था, इसका पूर्ण स्वामी शुद्धानन्द जी करते हैं-

“An Alvar is a golden river of love and ecstasy which finds its dynamic place in the boundless ocean of Sachidanand. An Alvar is a living Gita, breathing Upanishad, a moving temple, a hymning torrent of divine rapture.” (वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन, पृ0 101)

वैष्णव-भक्त आलवारों ने अपने भजनों में 108 मन्दिरों का वर्णन किया है ये सभी मन्दिर वैष्णव समाज के लिए तीर्थस्थल बन गए। आज देश के विख्यात मन्दिर तथा श्रीरंगम मन्दिरों को इस प्रतिष्ठा तक पहुँचाने में आलवार सन्तों का बड़ा भारी योगदान है। इन मन्दिरों में सभी से आज तक आलवारों के भजन गाये जा रहे हैं। इन मन्दिरों में आलवारों की मूर्तियाँ भी स्थापित हो गई तथा आलवार सन्त, देवता सदृश्य पूज्य माने जाने लगे। मन्दिरों में आलवारों के भजन दैनिक पूजा के रूप में स्थापित हो गए। आलवारों में संस्कृत तथा तमिल दोनों के विद्वान थे। उन्होंने वेद, उपनिषद्, गीता तथा अन्य संस्कृत ग्रन्थों के सार तत्व को स्वीकार किया तथा लोकभाषा में इन बातों को सामान्य जन के लिए भजनों के माध्यम में तैयार किया। उन्होंने भक्ति को भावमूलक रूप दिया तथा वैष्णव-भक्ति-आन्दोलन का मफल नेतृत्व किया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आलवार समाज सुधारक थे, सन्त थे, भावुक कवि थे जिनको दक्षिण भारत की तत्कालीन परिस्थितियों ने उत्पन्न किया था।

**आलवार के शब्दार्थ-** ‘आलवार’ शब्द का एक अर्थ होता है मगन होना। अर्थात् ऐसे सन्त जो आध्यात्मिक सागर में डुबकी लगाते हैं। ‘आलवार’ शब्द का दूसरा अर्थ है शासन करने वाला। अर्थात् अपनी प्रभुभक्ति के सहारे वह भगवान् के ऊपर अपना प्रेमपूर्ण आधिपत्य स्थापित कर लेता है किन्तु अब यह शब्द तमिल

क्षेत्र के केवल बारह सन्तों के लिये ही उपयोग में लाया जाता है।

आलवारों के नाम- वेदान्त देशिकाचार्य ने जो आलवारों की सूची अपने साहित्य में दी है उसी को अधिकृत माना जाता है। वह निम्न प्रकार है-

#### तमिल नाम संस्कृत नाम

1. भक्त पोयगै आलवार (जाति अज्ञात)
2. भक्त भूततालवार (जाति अज्ञात)
3. भक्त पैयालवार (जाति अज्ञात)
4. भक्त तिरुमलिसई आलवार (व्याध)
5. भक्त नम्पालवार (शूद्र)
6. भक्त मधुरकवि आलवार (ब्राह्मण)
7. भक्त कुल शेखरालवार (धन्विय)
8. भक्त पेरियालवार (ब्राह्मण)
9. भक्तिन आंडाल (जाति अज्ञात)
10. भक्त तोंडरडीपोडी आलवार (ब्राह्मण)
11. भक्त तिरुण्ण आलवार (शूद्र)
12. भक्त तिरुमैगै आलवार (निम्न कुल व्याध)

आलवार-भक्त संस्कृत के विद्वान तथा तमिल भाषी थे। तमिल प्रदेश में ये अपने तमिल नामों से ही प्रसिद्धि पाये। तमिल उनकी मातृभाषा थी तथा उसमें उन्होंने व्यापक साहित्य रचना की।

**नालायिर दिव्य-प्रबन्धम्**- इन वैष्णव-भक्त आलवारों की रचनाएं इनके जीवनकाल के पश्चात् सैकड़ों वर्ष तक स्मृतियों के रूप में ही चलती रही। नौवीं शताब्दी में श्रीनाथमुनि ने इनके पदों का संकलन किया तभी से इन रचनाओं के समग्र संग्रह को **दिव्य-प्रबन्धम्** कहा जाता है। आगे चलकर श्रीरामानुज के शिष्य द्वारा आचार्य की स्तुति में रचे गए 100 पदों का समावेश भी इसी में कर दिया गया है। इस पूरे संग्रह में 4000 के लगभग पद हैं तथा इसी को **नालायिर दिव्य प्रबन्धम्** भी कहा गया है।

1. **भक्त पोयगै आलवार (सरोयोगी)**-इन्को तमिल का आदिकवि कहा जाता है। इनका जन्म कांचीपुरम् के एक तालाब में कमल पुष्प पर मानते हैं। गुरु परम्परा में इनका जन्म ई.पू. 420 माना गया है किन्तु कुछ लोग इन्हें चौथी या

पाचवीं शताब्दी का कहते हैं। कांचीपुरम् के देव-सरोवर में भक्त शिरोमणि पोयगै आलवार की मूर्ति ध्यान-निमीलित नेत्रों के साथ लेटी है। वेद-उपनिषदों का ज्ञान था तथा धूम-धूम कर वैष्णव-भक्ति का प्रचार करते रहे। सभी आलवारों की उनकी स्तुति की है। इनके 100 पद मुखल तिरुवतादि के नाम में मिलते हैं।

2. **भक्त भूततालवार (भूतयोगी)**- इनका जन्मस्थान महाबलीपुरम् माना जाता है। इन्हें विष्णु की गदा का अवतार मानते हैं। आप पोयगै के समकालीन थे तथा नम्पालवार ने आपकी बड़ी स्तुति गाई है। भूतन ने विष्णु के अनेक अवतारों का सुन्दर वर्णन किया है। इनकी रचना का प्रथम पद बहुत प्रचलित है। जिसमें वे कहते हैं- 'प्रेम के दीपक में अभिलाषा का घी डाल, स्निग्ध हृदय की बाती लगाकर, मोह द्रवित आत्मा के साथ मैंने नारायण के सम्मुख ज्ञान का दीप जलाया।'

3. **भक्त पैयालवार (महाद्योगी या भ्रान्त योगी)**- मद्रास के मैलापुर स्थान पर, कुँए के लाल कमल से इनकी उत्पत्ति मानी जाती है। इनको विष्णु के खड्ग का अवतार कहते हैं। भक्ति के आवेश में वे गते हैं, हँसते हैं, गाते हैं इस कारण लोग इनको पागल भी समझ लेते हैं इसी लिए इन्हें भक्त पैयालवार कहते हैं। ये सादा जीवन जीते हैं, निरंतर भ्रमण करते हुए लोगों को उपदेश करते हैं। इनकी धन-कीर्ति आदि का कोई मोह नहीं।

**भक्त मुनित्रय** - भक्त पोयगै आलवार, भक्त भूततालवार तथा भक्त पैयालवार को त्रिमूर्ति रूप से मुनित्रय भी कहते हैं। धार्मिक धारणाओं के अनुसार ये तीनों अयोनित्र थे तथा इनकी कोई जाति नहीं थी। तीनों समकालीन हैं तथा एक क्षेत्र में अपरिचित भी थे। आपस में परिचय कैसे हुआ इसकी भी एक रोचक कहानी है- 'एक दिन भक्त पोयगै आलवार भक्ति के प्रचार में तिरुकोडलूर गए थे कि रात्रि में गार्ड, वर्षा भी होने लगी। एक छोटी सी कुटिया के बरामदे में थोड़ा सा स्थान मिल गया, वहीं विश्राम करने लगे। थोड़ी देर पश्चात् भक्त भूतत आलवार भी स्थान पाना लगे वहीं आ पहुँचे और स्थान माँगा। भक्त पोयगै ने कहा यहाँ एक व्यक्ति लेट सकता है आप आ जाइये दो लोग बैठ सकते हैं। कुछ समय पश्चात् एक तीसरे व्यक्ति (पैयालवार) भी वहीं पहुँच गए और स्थान माँगा। भक्त पोयगै तथा भक्त भूतन ने कहा आइये यहाँ दो लोग बैठ सकते हैं किन्तु तीन लोग खड़े होकर भगवच्चर्चा कर सकते हैं आप भी आजाइये। तीनों भगवद्गुण गान करने लगे। कहते हैं कि तभी वहाँ इन तीनों को भगवद्दर्शन हुआ।' यह कथा इन लोगों के विनाल हृदय की ओर इंगित करती है।

4. भक्त तिरुमलिसाई आलवार (भक्तिमार) - इनका जन्म कांचीपुरम् के निकट तिरुमलिसाई नामक ग्राम में माना जाता है। वचन में ही एक व्याघ्र (नथाकथित निम्नकुल) के घर ही आपका पालन हुआ इन्हें महाभारत, रामायण, पुराण आदि ग्रन्थों का व्यापक ज्ञान था। ये संस्कृत तथा तमिल के विद्वान् थे। ये सिद्ध योगी भी थे। आपकी दो रचनाएँ प्रबन्धम् में संकलित हैं-

तानमुखन तिरुवत्तादि - इसमें 100 पद हैं तथा विष्णु की परमात्मा मानकर शिव और ब्रह्मा को उन्हीं की कृति माना गया है।

तिरु चन्दविरुत्तम - इसमें 120 पद हैं तथा दर्शन के गूढ़ तत्त्वों का व्यापक विवेचन किया गया है।

5. भक्त नम्मालवार (शठकोप) - ये शूद्र कुल में उत्पन्न थे किन्तु आलवारों की शृंखला में भक्त नम्मालवार का स्थान सर्वोपरि है। दक्षिण भारत के समस्त वैष्णव भक्तों में भक्त शिरोमणि नम्मालवार को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। इनको विष्णु के आभूषण का अवतार माना जाता है। गुरु परम्परा ग्रन्थों के अनुसार इनका जन्म कलियुग प्रारम्भ होने के 43 वें वर्ष में अर्थात् आज से 5000 वर्ष पूर्व हुआ था। आधुनिक विद्वान् इन्हें छठी शताब्दी का मानते हैं। भक्त नम्मालवार स्वयं शूद्र थे किन्तु आपकी विद्वत्ता तथा भक्ति को देखकर अनेक ब्राह्मण भी इनके शिष्य हो गए। ये अविवाहित रहे तथा सांसारिक वस्तुओं में इनका कोई आकर्षण नहीं था। भक्त नम्मालवार के निम्नलिखित चार ग्रन्थ दिव्यप्रबन्धम् में संग्रहित हैं -

1. तिरुविरुत्तम 2. तिरुवाचिरियम 3. पेरिय तिरुवत्तादि 4. तिरुवायमोली तिरुविरुत्तम - तिरुविरुत्तम को ऋग्वेद का सार कहा जाता है इसमें 100 पद हैं।

तिरुवायमोली - भक्त नम्मालवार का यह सबसे बड़ा ग्रन्थ है तथा दिव्य प्रबन्धम् का चौथा भाग बन गया है। इसमें 1102 पद हैं।

भक्त नम्मालवार को तमिल साहित्य में दिव्य कवि कहते हैं। कहा जाता है कि ऋषि कम्बर द्वारा रचित रामायणम् को भगवान् श्रीरंगनाथ ने तभी स्वीकार किया जब उन्होंने भक्तश्रेष्ठ नम्मालवार की प्रशंसा में शठकोपरस्तादि की रचना की। ये तमिल वेद प्रणेता तथा तमिल वेदव्यास नाम में भी प्रसिद्ध हो गए। भक्त नम्मालवार की रचनाएँ द्रविड़ वेद सागर के नाम से प्रसिद्ध हैं। श्रीरामानुजाचार्य ने भी ब्रह्मसूत्रों का भाष्य लिखते समय भक्त नम्मालवार की रचनाएँ देखकर अपना समाधान किया था। भक्त मधुरकवि आलवार ब्राह्मण कुलोत्पन्न थे तथा

अपनी आयु में बहुत छोटे भक्त नम्मालवार के शिष्य हो गये। भक्त नम्मालवार 35 वर्ष की आयु में ही अपना शरीर छोड़ दिया था।

6. भक्त मधुरकवि आलवार (मधुरकवि) - भक्त मधुरकवि का जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ था तथा आप विष्णु के वाहन गरुड़ के अवतार माने जाते हैं। इन्होंने वचन में ही वेद शास्त्रों का नियमवत् अध्ययन किया। संस्कृत तथा तमिल पर आपका पूर्णबुद्धि था। भक्त मधुरकवि बहुत सुन्दर गाते भी थे।

आयु में 137 वर्ष के वयोवृद्ध विद्वान् ब्राह्मण, भक्त मधुरकवि आलवार ने एक 16 वर्षीय शूद्र कुलोत्पन्न भक्त नम्मालवार का शिष्यत्व ग्रहण किया। यह एक प्रतिकारी घटना थी। ये 19 वर्ष तक गुरुसेवा में रत रहे। 171 वर्ष की दीर्घायु में गुरु का स्मरण करते हुए तिरुकोईलूर में उन्होंने अपनी इहलोक लीला समाप्त की।

(वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन, पृ० 124-125)

मधुरकवि आलवार की एकमात्र रचना कण्णिनुल चिरुत्तांबु को दिव्य प्रबन्धम् में संग्रहित किया गया है। इसमें 11 पद हैं जिनमें गुरु नम्मालवार की महिमा गाई गई है। गुरु को इन्होंने ईश्वरानुव्य समझकर उनका स्तुति की।

7. भक्त कुलशेखरालवार (कुलशेखर) - कुलशेखर आलवार को विष्णु के वक्षस्थल की कौस्तुभ मणि का अवतार माना जाता है। चेरवंशीय राजा कुलशेखर का नाम केरल के शासकों की वंशावली में दिया गया है। ये शासक पेरुमाल के नाम से प्रसिद्ध थे। ये राम तथा कृष्ण के भक्त थे। कृष्णस्वामी आर्यगार ने इनका काल मातृवी शताब्दी माना है। ये क्षत्रिय कुल के थे। इनके पद हृदय को द्रवित करने वाले हैं। एक पद में उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की है कि अगले जन्म में उन्हें वह सीढ़ी बना दें जिस पर चढ़कर भक्त भगवान् के दर्शन के लिए देवालय में प्रवेश करते हैं। आज भी वैष्णव मन्दिरों में सबसे ऊपर की सीढ़ी को कुलशेखर सोपान कहते हैं। आपकी 2 रचनाएँ प्रसिद्ध हैं -

पेरुमाल तिरुमोली - इसमें 105 पद हैं तथा राम-कृष्ण की लीलाओं का भावपूर्ण वर्णन तमिल भाषा में किया गया है।

मुकुन्दमाला - इसमें 40 श्लोक संस्कृत में हैं तथा विष्णु भगवान् की स्तुति की है।

8. भक्त पेरियालवार (विष्णुचित्त) - इनका वचन का नाम विष्णुचित्त था। ये ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे तथा इनका काल आठवीं शताब्दी माना जाता है। सभी आलवारों की तरह भक्त पेरियालवार ने भी सभी प्रकार के भेदभाव का

विरोध करने हुए भक्ति को ही प्रमुख माना। आलवारों ने मन्देश दिया कि- हे मनुष्यो, आप सब की एक ही जाति है। अपने भजनों में आलवारों ने यह बात बार-बार स्पष्ट की कि परमात्मा की कृपा सभी जीवों पर समान होती है। चाहे उनका जन्म किसी भी जाति में हुआ हो। नश्वर प्राणियों के प्रति ईश्वरीय अनुकम्पा का जितना ललित और सक्षम वर्णन भक्त पेरियालवार के भजन में हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। भजन का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है-

“ हे सागर श्यामवर्ण,

मैं तुम्हारे चरणों में आ गया हूँ  
हे सुन्दर कुंज सुशोभित श्रीरंगम स्वामी।  
पवन-पुत्र की तुमने, वानर जानकर  
अन्य जाति का मानकर अवहेलना नहीं की,  
बल्कि उससे प्रेम किया, जिससे  
उसकी प्रीति और चाह समुद्र से भी बढ़ गई,  
और बोले, जो कुछ मेरे लिये तुमने किया है  
उसका कोई प्रतिदान नहीं हो सकता;  
ओ निर्मल सत्यधर्मी, मैं तुम्हें गले लगाता हूँ!  
ऐसा उज्ज्वल वरदान मुझे मिले, इस लालसा से  
मैंने तुम्हारे चरणों की शरण ली है,  
हे सुन्दर कुंज सुशोभित श्रीरंगम स्वामी।”

“सुन्दर सरोवर में, सुगन्धित सुमनों से घिरा  
गजेन्द्र कमलों को तोड़ रहा था कि  
एक भारी ग्राह ने उसे पकड़ लिया,  
वह मरणासन्न हो चला तो उसने  
तुम्हारे चरणों में शरण लेने की सोची,  
तुमने ऐसा प्रचण्ड कोप दिखाया कि  
उस विकरालमुख पशु का प्राणान्त हो गया,  
तुम्हारे इस दास ने भी तुम्हारे चरणों की शरण ली है  
हे सुन्दर कुंज सुशोभित श्रीरंगम स्वामी।”

(हृपर के अनुवाद से) (भारत की संस्कृति और कला, पृ० 278-279)

भक्त पेरियालवार का अधिकांश समय मन्दिर में रहकर भगवद्भक्ति में ही

पतिन हो जाता था। वे दिनभर विष्णुमहत्स नाम का स्मरण करते थे। आपकी दो आत्माएं प्रसिद्ध हैं।

तिरुपल्लांडु - इसमें 12 पद हैं। पेरियालवार ने कामना की है कि भगवान् माँ दीर्घ करोड़ों वर्ष तक शाश्वत रहे।

पेरियालवार तिरुवायमोली - इसमें 461 पद हैं। कृष्ण की बाल-लीलाओं का बड़ा ही मनोरम दृश्य वर्णन किया है। सैकड़ों वर्ष से तमिल माताएं इन पदों को पढ़-धर गاتی हैं। ये दोनों रचनाएं दिव्य प्रबन्धम् में हैं।

9. भक्तिन आण्डाल - (8 वीं शताब्दी) - भक्ति परंपरा में आण्डाल का स्थान उत्तर भारत की मीरा एवं ऋषि परंपरा की अरुंधती जैसा है। आण्डाल का जन्म ई.सन् 716 में माना जाता है। आण्डाल की जानि अज्ञात ही रही। पेरियालवार को एक नन्ही नवजात कन्या वगीचे में फूलों के ऊपर लेटी हुई मिल गई थी। भक्त पेरियालवार ने इस बालिका का प्रेमपूर्वक पालन किया। यही आगे चलकर, आलवारों की भक्ति परंपरा में एक अकेली महिला सन्त रूप में अपना स्थान बनाने में सफल हो गई। 12 आलवार संतों की शृंखला में एकमात्र महिला संत आण्डाल है।

मदुरई के निकट श्रीविल्लिपुतुर ग्राम के भक्त पेरियालवार की कन्या का नाम भगवद्भक्ति के कारण ‘गोदा’ (फूलों का गुच्छा) रखा गया। श्रीरंगनाथजी को सुगन्धित माला बनाकर पहिनाने का कार्य ही ‘गोदा’ का था। यही आगे चलकर आण्डाल नाम से प्रसिद्ध हो गयी। इसने अपनी सभी सहेलियों तथा पड़ोमियों को भी भक्ति में सरोवर कर दिया। आण्डाल का अर्थ होता है भगवान् के प्रति उक्त-भाव प्रकट करने वाली। आण्डाल ने भक्ति में सभी को समान समझा। किसी के साथ छोटे-बड़े या उच्च-नीच का व्यवहार नहीं करने दिया। सभी उस परम कृपालु परमात्मा के पुत्र स्वरूप हैं फिर भेदभाव कैसा? आण्डाल ने श्रीरंगनाथजी को ही अपना पति स्वीकार कर लिया था। उसके आग्रह पर श्रीरंगनाथजी के साथ ही उसका विवाह सम्पन्न किया गया। आण्डाल ने कृष्ण को ही अपना पति स्वीकार किया। एक सुन्दर पद में वह अपने स्वप्न का वर्णन करती है कि किस प्रकार माधव आये थे-

“सखि, सुमधुर सपना देखा। मधुसूदन को आते देखा ॥

गज सहस्र वरसज सज आये। पुर मग तोरण से अति भाये ॥

वर-वर पट धर बहुजन आये। रथ गज सुन्दरतम बहु लाये ॥

प्रियतम हरि को आते देखा। सखि, सुमधुर सपना देखा ॥

शंख मृदंग व ढोल बजाये। मंगल पद मनमोहन गाये ॥  
सज्जित मण्डप में प्रिय आये। कर में कर ले, नेत्र मिलाये ॥  
मम प्रिय माधव को आते देखा। मुझ दासी को अपनाते देखा ॥”

(भावानुवाद) (वैष्णव भक्ति-आंदोलन का अध्ययन, पृ. 196)

आण्डाल के 2 ग्रन्थ- तरुणावै तथा नाचिचयार तिरुमोलि प्रसिद्ध हो गये हैं। इन ग्रन्थों के पद तमिल परिवारों में विवाह के अवसर पर अवश्य गाये जाते हैं।

10. भक्त तोंडरडीपोडी आलवार (भक्तांधिरेणु) - भक्त तोंडरडीपोडी आलवार का जन्म चोल राज्य में कावेरी के तट पर एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। आपको तमिल तथा संस्कृत का ज्ञान था। श्रीरंगम् मंदिर में नित्य फूलमाला अर्पित करना उनकी दैनिक दिनचर्या का अंग था। तोंडरडीपोडी आलवार का मानना था कि भागवतों की सेवा भगवत्सेवा से भी श्रेष्ठ है। वे मन्दिर में आने वाले समस्त भक्तों की चरणधूलि का सेवन कर भजन-कीर्तन में रत रहते थे। भगवत्सेवा के कारण लोग आपको भगवद्दासों की धूलि कहकर पुकारने लगे इसीलए, इनका नाम भक्तांधिरेणु पड़ गया।

तोंडरडीपोडी आलवार कहते हैं कि- ‘प्रभु के साम्राज्य में पद प्राप्त करने की कामना करने वाले तुम अपनी जाति के गर्व को त्याग दो। अपने ज्ञान की श्रेष्ठी बधारना बन्द कर दो। खंडनी जातिगर्व के कारण तुम क्यों उस जनसमूह से दूर जा बैठे हो ? अगर वे अपने करें पर पड़ी मनुष्य-निर्मित जाति की शृंखलाओं को तोड़कर आये तो तुम्हें क्या आपत्ति है ? क्या इतना पर्याप्त नहीं है कि वे भगवान् के सेवक हैं ? उनकी पूजा करो, उनकी सेवा करो। क्यों कि किसको पता है कि उनके पास भगवान् वास करते हों ?’ भक्त तोंडरडीपोडी आलवार की दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं।

तिरुमालै - यह 45 पदों का संग्रह है तथा प्रभुभक्ति में गीतांजलि स्वरूप है।

तिरुपल्ली एलुच्चि - इसमें प्रभु के प्रातः जागरण के समय के 10 पद हैं तथा प्रातः काल का मनोरम वर्णन है।

11. भक्त तिरुप्पान आलवार - भक्त शिरोमणि तिरुप्पान आलवार, पैरिया अथवा चाण्डाल वंश में जन्मे थे। भक्त तिरुप्पान सर्वदा वीणा बजाते तथा श्रीहरि का गुण कीर्तन करते थे। एकवार वे श्रीरंगनाथ मन्दिर के सम्मुख कावेरी के तीर्थ प्रदेश में संकीर्तन करते हुए भावविभोर थे तभी मन्दिर के लोकसारंग मुनि नामक पुजारी अभिषेक हेतु जल लेकर श्रीमन्दिर की ओर आ रहे थे। उन्होंने देखा मार्ग के

“” में कोई चाण्डाल वीणा बजाते-बजाते निद्रित हो गया है। तीन-चार बार ‘नमस्वर’ में पुकारने पर भी उनकी तन्हा नहीं टूटी तो एक पत्थर मार कर उन्हें मारा। चेतना लौटने ही वे मार्ग से दूर हट गये। मुनि जी मन्दिर आये तो देखा। लाट्ट अन्दर से बन्द है। मन्दिर के गर्भगृह में तो केवल रंगनाथ भगवान् का आल है फिर कपाट कैसे बन्द ? सबने पुकारा किन्तु कपाट न खुले। मुनि हाथ जोड़ कर खड़े हो गये और अश्रुधारा बहने लगी। कहने लगे प्रभो, दास को बतलाइये कि मैंने क्या अपराध हुआ है ? मुनि को लगा अन्दर से आवाज आ रही है कि आज मैंने मुझे पत्थर मारा, वे जो मन्दिर के बाहर वीणा बजा रहे थे, मेरे ही दूसरे। ग्रह हैं। यदि तुम उन्हें कन्धे पर बैठाकर मन्दिर की प्रदक्षिणा करोगे तभी मन्दिर का द्वार खुलेगा। मुनि ने भक्त तिरुप्पान आलवार को आदर्शपूर्ण कन्धे पर भठाया और उसी अवस्था में श्रीरंगनाथ मन्दिर की परिक्रमा की। तभी से भक्त तिरुप्पान आलवार का नाम मुनिवाहन हो गया।

भक्त तिरुप्पान आलवार की एक मात्र रचना आत्मनादिपिरान है। यह दस पदों वाली कविता है। प्रत्येक पद में विष्णु की विभिन्न लीलाओं का वर्णन किया है। दस पदों में दस अंगों का वर्णन है।

12. भक्त तिरुमंगै आलवार (परकाल) - आलवार परम्परा में भक्त तिरुमंगै आलवार अन्तिम आलवार माने जाते हैं। इनकी जाति का नाम कल्लर था। इस जाति के लोग जंगल में वाम करने वाले तथा लूटमार करके अपनी आजीविका चलाने वाले व्याध्र थे। इनके पिता चोल राजा के यहाँ मेनापति रहे। इनका काल आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध कहा जाता है। भक्त तिरुमंगै आलवार, संस्कृत तथा तमिल भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् थे एवं नृत्य, नाट्य, काव्य-कलाओं आदि में भी वे पारंगत थे। आलवार भक्तों में सर्वश्रेष्ठ साहित्य मर्मज्ञ आप ही हैं। श्रीरंगम् मन्दिर की तीमरी चहारदीवारी आपने ही बनवाई थी। नालायिर दिव्य प्रबन्धम् में संगृहीत पदों में सर्वाधिक पद तिरुमंगै आलवार के ही हैं।

भक्ति का महत्व सर्वोपरि - आलवार सन्तों ने समाज सुधार तथा मनुष्य के जीवन में नैतिक मूल्यों के विकास का माधन भक्ति को ही स्वीकार किया। आलवार भक्तों ने भक्तिमार्ग को इतना आगावादी और मुगम बना दिया कि लोगों ने इसको बड़ी ही सहजता के साथ स्वीकार कर लिया। ‘प्रबन्धम्’ में भक्ति की महत्ता सर्वत्र गाई गई है। सभी आलवारों ने भक्ति को ही मुक्ति का मार्ग बताया। जो भक्ति नहीं करता उसका जीवन ही व्यर्थ है।

भक्ति भेदभाव को समाप्त करती है - आलवारों ने यही प्रतिपादित किया

कि भक्ति में ऊँच-नीच के भेद को कोई स्थान नहीं है। वे तो ईश्वर के भक्त होने के कारण समान हैं। भक्त तोंडरडीपोड़ी आलवार कहते हैं कि - 'दोषरहित जीवन विनाकर भगवान् के ध्यान में सर्वदा लीन रहने वाले (भले ही नीच कुल के क्यों न हों) अगर शुद्ध भगवद्भक्त हैं तो उनकी पूजा करो, उनकी सेवा करो उनकी संगति करो क्यों कि वे भगवान् के समान स्तुत्य हैं' -

“इलि कुलत्तवर्कललुमु एण्ण्डियार्कलालिल  
तोलुमिन कोडुमिन कोणमिन एन्दु..।”

(वैष्णव भक्ति- आन्दोलन का अध्ययन, पृ 170)

#### \* प्रबन्धम् का सामाजिक जीवन पर प्रभाव

आलवार भक्तों की रचनाओं के संग्रह प्रबन्धम् ने दक्षिण भारत के धार्मिक तथा सामाजिक जीवन में अभूतपूर्व क्रान्ति ला दी। भक्त तिरुमोई आलवार ने भक्त नम्मालवार की तिरुवायमोली (प्रबन्धम् की रचना) को वेद के समकक्ष मानकर श्रीरंगम् मन्दिर में उसके गायन की व्यवस्था कर दी। जनता के धार्मिक जीवन में जो स्थान वेद को प्राप्त था वह प्रबन्धम् (नमिल वेद) को प्राप्त हो गया। जिन प्रसंगों पर वेद-मन्त्रों का पठन होता था अब उन सभी अवसरों पर प्रबन्धम् का गायन होने लगा था। मन्दिरों के सभी उत्सवों में तमिल वेद (प्रबन्धम्) का गायन प्रारम्भ हो गया। यही परम्परा आज तक चली आ रही है। मार्गशीर्ष महीने में शुक्ल पक्ष की एकादशी से 10 दिन तक तमिल वेद का पाठ होता है। भक्त नम्मालवार के 1000 पदों में से 100 पद प्रतिदिन गाये जाते हैं। नमिल वेद पाठ के अन्त में भक्त नम्मालवार का विग्रह धीरंगनाथ जी के चरणों में रखा जाता है। ऐसी मान्यता है कि भक्त नम्मालवार तथा भगवान् विष्णु एक रूप हो गए। इससे सुन्दर समरसता का दिव्य स्वरूप कोई और हो सकता है क्या?

#### \* भक्तिन औवैयार

तमिल भाषा की प्रसिद्ध कवयित्री तथा भक्तिन औवैयार, संतकवि तिरुवल्लुवर की वड़ी बहिन मानी जाती हैं। वे धर्म की सनातन मान्यता को ही स्वीकार करती हैं। उनका मानना है कि मनुष्य का जन्म मिलना आसान नहीं। विचारशक्ति और वाक्शक्ति दोनों मनुष्य की विशेषताएँ हैं। मुक्ति पाना ही मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य है। धर्म (अरम्), अर्थ (पोरुल), काम (इन्बम) तथा मोक्ष (वीडु) ये चारों पुरुषार्थ मनुष्य को मिद्ध हों। इसकी व्याख्या करने हुए वे कहती हैं -

“इतल अरम् तीवितै विट्टु ईट्टल पोरुलु  
कादलर इरुवर करुत्तोरुमिन्तु-आदरवु

पट्टटे इम्बम् परतै नितैन्नु इम्भून्नेयुम्  
विट्टटे पेरिम्ब विडु।”

(तिरुवल्लुवर, पृ 3)

अर्थान्-दान करना अरम् (धर्म) है, सन्मार्ग में धनसंग्रह करना पोरुल है, पति-पत्नी का परस्पर प्रेम व्यवहार (इन्बम) है। इन तीनों पुरुषार्थ की सिद्धि से वीडु (मोक्ष) मिलता है। इस कविता की व्याख्या विस्तार से तिरुवल्लुवर ने अपने ग्रन्थ तिरुक्कुरल में की है। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि औवैयार की धर्म-धारणा तथा मोक्ष-साधना में सभी जन समान हैं।

#### \* संत तिरुवल्लुवर

लगभग 2000 वर्ष पूर्व तमिलनाडु में चेन्नई (मद्रास) के निकट तिरुवल्लुवर पैदा हुए थे। 'तिरुवल्लुवर' के पिता का नाम भगवान् था। उन्होंने आदि नाम की निम्न जाति की स्त्री से विवाह किया था। इन्हीं के पुत्र का नाम तिरुवल्लुवर था। लगभग सभी लेखकों ने इस बात की ओर संकेत दिया है कि तिरुवल्लुवर समाज में निम्न कही जाने वाली जाति के व्यक्ति थे। वल्लुवन नामक जाति के अवशेष चिन्ह अभी भी वहाँ विद्यमान हैं। यह संभव है कि वे वल्लुवाकुडी नामक जाति के सदस्य रहे हों। इस जाति का कार्य राजा की घोषणा ढोल इत्यादि द्वारा करना था।

बचपने में ही वे माँ-बाप से बिछुड़े गये तथा एक जुलाहा (बुनकर) के घर ही उनका पालन पोषण हुआ। तमिल में वल्लुवर अर्थात् जुलाहा, तिरु आदरसूचक होने के कारण आपका नाम तिरुवल्लुवर प्रसिद्ध हो गया। अपनी आजीविका के लिए, कपड़े बुनने का कार्य वे करते रहे। इनकी पत्नी का नाम वामुकि था। संत तिरुवल्लुवर की कविताओं को कुरल कहते हैं। उनके ग्रन्थ को तिरुक्कुरल कहा गया।

सुधा में भी सुमधुर, दक्षिण भारत की अतिप्राचीन तमिल भाषा का ग्रन्थ तिरुक्कुरल, भारतीय साहित्य का श्रेष्ठ ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में धर्म, अर्थ तथा काम की इतनी सुन्दर सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्याख्या की गई है जो काल तथा स्थान की सीमाओं को पार करती हुई सर्वकालीन तथा सार्वभौमिक श्रेष्ठ आदर्शों की स्थापना करने में मश्रम सिद्ध हुई है। विष्णु भी अनेक भाषाओं में इसके मैकड़ों अनुवाद हो चुके हैं। संस्कृत, हिंदी, मराठी, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़, बंगाल तथा उर्दू के साथ-साथ फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेजी आदि भाषाओं में भी महान लेखकों ने इस ग्रन्थ का अनुवाद किया है। इस ग्रन्थ में दो-दो पंक्तियों के छंद (दोहे) हैं। इस दोहों का एक अध्याय तथा कुल 133 अध्याय इस ग्रन्थ में हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर 1330 दोहे हैं। संत

तिरुवल्लुवर ने अपने इस ग्रंथ में जैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध आदि विचारों में समान रूप में उपस्थित विजयशालिनी मानवता को मफल रूप में स्थापित किया है। इस ग्रंथ को तमिल साहित्य में वही स्थान प्राप्त है जो संस्कृत साहित्य में वैदिक वाङ्मय अथवा भगवद्गीता को प्राप्त है।

संत तिरुवल्लुवर के मन्देश में मानव की भलाई के लिये ही किया गया है। सभी मनुष्य समान हैं, कोई भेदभाव नहीं। कोई ऊँच-नीच नहीं, ईश्वर पर भक्ति रखो। श्रेष्ठ, आदर्श तथा ज्ञान सम्पन्न जीवन ही मुक्ति दिला सकता है। एक कुरुल में वे कहते हैं- “किमी की भी हानि न करने से ही हमारा जीवन शान्तिमय हो सकता है। हानि करने वालों की भी हानि न करें सभी की भलाई करें”-

“तन्नैतान काविकन शिनम कास्का कावाक्काल  
तन्नैये कोल्लुम शिनम।”

वे पिछड़ी जाति के थे किन्तु उन्होंने वहाँ के समाज जीवन में एक उच्च स्थान बनाया और लोगों के अन्दर ईश्वरभक्ति का भाव जगाया तथा उनमें अपने कर्तव्य के प्रति दायित्व की अनुभूति पैदा की। वे मच्चे ईश्वरभक्त थे। भक्तिभाव से वे कहते हैं - “भगवान् से एक ही वर हमें प्राप्त करना है। वह है जन्ममुक्ति का वर। पुनः-पुनः जन्म लेने से हम मुक्त होवें, ऐसा वर उनको प्राप्त होता है जो इच्छा रहित होते हैं”-

“पटुक पट्टान पट्टिनै अप्पट्टे पटुक पट्ट विडरकु।”

(वही, पृ० 16)

ईश्वर के बारे में संत तिरुवल्लुवर कहते हैं- “ईश्वर सर्वज्ञ तथा निष्काम है। वह सत्य-ज्ञान रूप है। उसके चरण अद्वितीय हैं। वह सर्वेश है। भक्तों के हृदय कमल में निवास करने वाला है। उसकी प्राप्ति का मार्ग सत्य का मार्ग है। वह अनुपम है, सृष्टि का आदि कारण भगवान् है। वह इन्द्रियों के बंधन से मुक्त है, तथा परम दयालु है।”

(तिरुवल्लुवर एवं कबीर का तुलनात्मक अध्ययन, कुरुल-2.6.7.8, पृ. 96)

संत तिरुवल्लुवर के अनुसार मनुष्य को यदि भवमागर पार करना है तो एक भी दिन नष्ट किए बिना, धर्म-कार्य करने रहना चाहिए। इसके लिए अरम्भ (धर्म) के नियमों का अनुसरण करना होगा। जैसे- ‘गृहस्थ को माधुः निर्धन और मृतकों की सहायता करनी चाहिए (कुरुल. 42)। धन संग्रह के समय पाप से निरंतर बचना एवं व्यय करते समय अन्य को खिलाकर जीवन व्यतीत करने वालों का

भी पतन नहीं होना (कुरुल. 44)। अन्य व्यक्तियों को धर्म-मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करना एवं स्वयं भी धर्मानुकूल आचरण करना गृहस्थ का कर्तव्य है (कुरुल. 48)। गृहस्थ जीवन को दोषों से मुक्त रखने का प्रयास करना चाहिए (कुरुल. 49)।” (वही पृ. 41)

संत तिरुवल्लुवर ने मनुष्य-मनुष्य के अंदर भेद करने वाली किसी भी व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया। व्यक्ति की श्रेष्ठता उसके गुणों से तथा धर्म पालन से होती है। इस प्रकार सभी प्रकार के भेदभाव से दूर, गुण सम्पन्न समाज निर्माण करने के लिए, संत तिरुवल्लुवर ने ऐसा प्रयास किया जो आज भी लाखों लोगों का मार्ग प्रशस्त करता है। वे स्वयं छोटी कही जाने वाली जाति से सम्बन्धित थे किन्तु उन्होंने अपने श्रेष्ठ जीवन से यह सिद्ध कर दिया है कि महानता में जाति का कोई स्थान नहीं। उनकी 133 फीट ऊँची भव्य प्रतिमा कन्याकुमारी के समुद्र में गिरा पर विराजमान है और एक सुन्दर सन्देश देती दिखलाई पड़ती है। श्री कन्हैयालाल मणिकलाल मुंशी उनके बारे में लिखते हैं-

“His humanness are sagacious and practical to the core. They cut across castes, creeds, clines and ages and have a freshness which makes one feel as if they are meant for the present time.”

(तिरुवल्लुवर, पृ० 24)

\* सन्त कम्बन् :- (ई.सन्. ग्यारहवीं शताब्दी)

कवि कंबन् (कंबर) के जीवनकाल के सम्बंध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार उनका समय नौवीं शताब्दी किन्तु कुछ लोग उन्हें ग्यारहवीं शताब्दी का मानते हैं। यह निश्चित ही लगता है कि कंबन् का काल आलवारों के पश्चात् ही आता है। कंबन् का जन्म वर्तमान तंजौर जिले में हुआ था। परिवार में बहुत गरीबी थी किन्तु कंबन् को अध्ययन की बहुत रुचि थी।

संत कवि कंबन् के पूर्व ही तमिलभाषा में रामभक्ति काव्यों की रचनाएं प्रारम्भ हो गई थीं किन्तु श्रीरामचन्द्र के आदर्श चरित्र को श्रेष्ठ ‘महामानव’ अथवा ‘पूर्णमानव’ के रूप में स्थापित करना ही संत कंबन् का उद्देश्य था। श्रीराम के चरित्र को तमिल भाषा में लिख कर प्रस्तुत करनेवाले ऋषि कम्बन् का योगदान महत्वपूर्ण है। तमिलनाडु की लोकभाषा में रामकथा को भक्तिभाव से दक्षिणवासी लोगों ने स्वीकार किया। संत कम्बन् ने अपने रामायण का नाम रामावतारम् रखा परंतु आज यह कम्बरामायण के नाम से विख्यात है। काव्य के शब्द प्रसादगुणपूर्ण, मधुरतायुक्त, श्रेष्ठ उद्बोधक हैं। ग्रंथ में कुल 10418 पद हैं।

मंत हृदय कंबुन् मय्याश्रयी है। सत्य ही श्रीराम हैं उस पर उनका विश्वास है। रामभक्त कम्बुन् जी ने श्रीराम को धर्ममूर्ति विग्रहवान् धर्म मान कर प्रशंग। की। आराध्यदेव श्रीराम के लिए ही उन्होंने रामावतारम् की भक्ति और श्रद्धा के साथ रचना की। ग्रंथ को निरुपेणैटनल्लूर में विद्वान् मण्डनी के मामले स्वीकार किया गया। इस ग्रंथ की श्रेष्ठता, महानता आदि में प्रभावित होकर विद्वानों और साधु-संतों ने उन्हें **काव्य चक्रवर्ती** की उपाधि से विभूषित किया। प्रथम बार मामान्यजन को अपनी भाषा में राम का गुणगान सुनने तथा पढ़ने का अवसर मिला। उनर भारन में तुलसीकृत श्रीरामचरितमानस में लगभग 400 वर्ष पूर्व कम्बुरामायण तमिलनाडु में लोकप्रिय हो गई थी। इस ग्रंथ के कारण प्रभुराम की भक्ति का काव्य तमिलनाडु की सभी जातियों के लिए गेय हो गया।

#### \* भक्तिन अवैय्यार - (ई.सन्. 13 वीं शताब्दी)

भक्तभाव में डूबी अवैय्यार, वाल्मीकि जाति (तमिलनाडु में वटेलिया जाति) की महिला सन्त थी। अवैय्यार, मूत्रहमण्यम् (शिवपुत्र-कार्तिकेय) की भक्तिन थी और उन्हीं की भक्ति में भजन रचना करना तथा भाव-विभोर होकर गाना ही उसका प्रमुख कार्य था। तमिल भाषा में उन्होंने सुन्दर भक्तिसाहित्य की रचना की है। अवैय्यार सभी की सेवा में ही लगी रहती थी तथा अपना जीवन स्वच्छ-निर्मल रहे ऐसी प्रेरणा सभी को देती थी। तमिलनाडु में आज भी उनका स्थान उच्चकोटि के भक्तों में गिना जाता है।

#### \* सन्त नन्दनार-(ई.सन्. पाँचवी-छठी शताब्दी)

सन्त नन्दनार, तमिलनाडु के 63 तायन्पार शिवभक्तों की मालिका के अन्यतः उज्ज्वल तेजस्वी नक्षत्र की तरह आज भी प्रकाशित हैं। यद्यपि उनका जन्म पाँचवीं शताब्दी के आसपास हुआ होगा किन्तु ऐसा लगता है कि संभवतया वे ऐसे पहले सन्त थे जो जानिगत भेदभाव के विरुद्ध भक्तिभाव के आधार पर खड़े हो गये। उनके वारे में जो भी अधिकृत जानकारी प्राप्त होती है वह **पेरियपुराणम्** ग्रन्थ में ही प्राप्त होती है जिसकी रचना 12वीं शताब्दी में हुई थी।

सन्त नन्दनार का जन्म नंजवुर जिले के आदनूर नामक स्थान पर हुआ था। नन्दनार दक्षिण भारत के परिया नाम की अनुसूचित जाति के थे। चिदम्बरम् को दक्षिण की काशी कहा जाता है। चिदम्बरम् के नटराज (भगवान् शिव) के प्रति उनकी भक्ति थी। शिवभक्त नन्दनार का मानना था कि भक्ति में जाति का कोई स्थान नहीं। ईश्वर ने भक्ति में कोई जाति नहीं देखी। ऊँची जाति और नीची जाति

मा विचार भक्ति में नहीं है। मन लगाकर भक्ति-भाव में जो प्रभु का हो गया प्रभु उसी के हैं। भक्ति जानि-पानि का भेद नहीं करनी।

एक दिन सन्त नन्दनार शिव का दर्शन करने के लिए निरुपुनकूर गये हुए थे। वहाँ वे शिव मंदिर के बाहर खड़े होकर शिव का दर्शन करना चाह रहे थे। शिव के सम्मुख नन्दी की विशाल प्रतिमा होने के कारण वे भगवान् के दर्शन नहीं कर पा रहे थे। उन्होंने नन्दी से प्रार्थना की कि हमको शिव का दर्शन नहीं होने दोगे क्या? ऐसा कहकर सन्त नन्दनार मंदिर के द्वार के बाहर खड़े भक्तिभाव से भजन गाने लगे। कहा जाता है कि नन्दी की प्रतिमा एक ओर सरक गई और सन्त नन्दनार को शिव के दर्शन होने लगे। आज भी उस मंदिर में नन्दी की प्रतिमा 15 फिट लम्बी, मात फिट चौड़ी तथा सात फिट ऊँची है। यह प्रतिमा दो फिट हट कर स्थित है तथा शिव के दर्शन वाहरी दरवाजे से भी सुलभ है। दर्शन करने के पश्चात् सन्त नन्दनार ने अपने अनिर्वचनीय आनन्द को अपने भजनों में व्यक्त किया है कि 'वह क्षण कितना शुभ था जिस समय मैं प्रभु के दर्शन कर रहा था। मुझको साक्षात् शिव ही दर्शन दे रहे थे।'

सन्त नन्दनार की ख्याति सर्वत्र फैल चुकी थी। सन्त नन्दनार का दूसरा लक्ष्य था कि वह चिदम्बरम् में जाकर नटराज शिव का दर्शन करें। चिदम्बरम् के शिव की बहुत प्रसिद्धि थी। सन्त नन्दनार कोल्लिदम् नदी पार कर चिदम्बरम् नामक नगर में पहुँच गए। मंदिर के निकट पहुँचने पर उन्हें मन्दिर की घंटियाँ तथा वेदमंत्रों की ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। सन्त नन्दनार आनन्द विभोर हो गए। उन्होंने दूर से ही मन्दिर को साष्टांग प्रणाम किया तथा भजन गाने लगे। कई दिन तक सन्त नन्दनार मन्दिर के चारों ओर भजन गाने घूमते रहे। वे आनन्द विभोर थे। आँवों से अश्रुधारा बहती रहनी थी। तथाकथित निम्नकुल में जन्म लेने के कारण उनको इस मन्दिर में प्रवेश की अनुमति नहीं थी। तभी एक दिन आश्चर्यजनक घटना घटी। भक्त शिगेमणि नन्दनार को स्वप्न आया कि स्वयं शिव उन्हें आदेश दे रहे हैं कि अग्निस्नान कर मन्दिर में आकर दर्शन करो। यही स्वप्न मन्दिर के पुजारी दीक्षितर ब्राह्मणों को भी आया कि- 'वाहर मेरा ही विग्रह दर्शन करने आया है उसका सम्मान करते हुए मन्दिर में ले आओ।' प्रातः होते ही तीन हजार दीक्षितर ब्राह्मण सन्त नन्दनार का स्वागत करने हेतु मन्दिर के बाहर पहुँच गए। सन्त नन्दनार तो स्वयं महायोगी थे। सभी के सम्मुख अग्निस्नान कर जैसे ही वे आगे बढ़े वैसे ही चारों ओर उनका जयजयकार होने लगा। तीन हजार ब्राह्मण

मन्त्र नन्दनार के सम्मुख हाथ जोड़कर विनतभाव से खड़े हो गए। भक्तश्रेष्ठ नन्दनार प्रभु-स्तुति में भजन गाते रहे। आज का दिन उनके लिये अत्यन्त आनन्द का दिन था। कहते हैं कि प्रभुस्मरण करने-करने मन्त्र नन्दनार शिव की प्रतिमा के साथ शिवरूप हो गए। इस प्रकार मन्त्र नन्दनार, ऋषि नन्दनार के रूप में स्थापित हुए। पूरे दक्षिण भारत में उनकी व्यति प्रतिष्ठित है। चिदम्बरम् मंदिर में प्रवेश हेतु सभी प्रकार का जातिगत भेदभाव समाप्त हो गया। जैव मतावलम्बियों में पूज्य 63 नायन्मारों में से एक संत नन्दनार भी हैं।

सन्त नन्दनार का जीवन, उस समय की परिस्थितियों में हार मानकर शांति से बैठने वाला नहीं था। सभी प्रकार के भेदभावों को समाप्त करने के दृढ़निश्चयी संत नन्दनार, भक्ति को आधार मानकर संघर्ष करते रहे। वे सभी बाधाओं तथा भेदभावों को दूर कर मन्दिरों में प्रवेश पाते हैं तथा प्रतिष्ठा के साथ समाज में अपना तथा सभी निम्न कही जाने वाली जातियों का स्थान भी बनाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दक्षिण भारत में भक्त नन्दनार ऐसे प्रथम सन्त हैं जो अस्पृश्यों के लिए मन्दिर प्रवेश हेतु भक्ति का आंदोलन चला रहे थे। महान कवि सुब्रमण्यम् भारती ने भक्त-प्रवर नन्दनार के संबंध में अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहा है -

“इस धरती पर कोई ब्रह्मण नन्दनार जैसा नहीं है।

जहाँ पवित्रता और श्रेष्ठता विराजती है,

वहाँ जाति तथा वर्ण यदि महत्त्वहीन हो जाते हैं।”

(Story of Eight Saint Reformers, page.43)

महात्मा गाँधी ने कहा- “नन्दनार, भारत के सत्याग्रहियों में देदीप्यमान नक्षत्र की तरह थे।”

भारत के पूर्व राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन ने अपने एक भाषण में नन्दनार के संबंध में कहा-

“Nanda, one of the sixty three Saiva devotees, though born an outcaste, by his intense devotion to the Supreme, became Nayanmar and is adored as a saint. The story of Nandanar illustrates that the distinctions of caste and outcaste are untenable for the authentically religious being.”

(abid, page. 43-44)

मन्त्र त्यागराज (वि.सं.1824-1904,ई०सन् 1767-1847)

दक्षिण भारत की संगीत परम्परा (कर्नाटक संगीत) के महान मंगीतज्ञ त्यागराज का जन्म तंजौर जिले के तिरुवारुर नामक ग्राम में हुआ था। यह ग्राम अत्यन्त धार्मिक महत्व का है। आगे चलकर कर महान संगीतज्ञ त्यागराज तिरुवारुर से तिरुवायुर आ गए। वचन में ही माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। उनके गुरु ने राममन्त्र का स्मरण करने को कहा तो इन्होंने 96 करोड़ बार इसका भरण किया। इसके पश्चात् वे पूरी तरह राम की सेवा में समर्पित हो गये। प्रतिदिन प्रभुगम की स्तुति में भजन को अधिकबढ़ करना उनकी नियमित साधना का अंग बन गया। संत त्यागराज ने अध्यात्म तथा दर्शन की ऊँचाई को प्राप्त कर गीत को एक नई विधा दी। तमिल, तेलुगु तथा कन्नड़ भाषाओं पर आपका समान अधिकार था। तेलुगु भाषा में उनकी भक्ति रचना प्रह्लाद भक्त विजय नाम से प्रसिद्ध है। इस काव्य के प्रथम भाग में देवता, गुरु स्तुति के संबंध में राम, गणेश और सरस्वती के बाद नारद, तुलसीदास, पुरन्दरदास तथा भद्राचल रामदास का भी स्मरण किया है। संत त्यागराज को राजा ने अपनी स्तुति में गाने को कहा तो मन्त्र त्यागराज ने मना कर दिया। राजा ने संत त्यागराज को जेल में डाल दिया तो उन्होंने वहाँ भी राम की स्तुति ही की-

“निधिचाल सुखमा रामुनि सन्निधि सेव सुखमा।”

अर्थात्, ‘धन से सुख नहीं मिलता। राम का सान्निध्य तथा उनकी सेवा ही सर्वाधिक सुख देने वाली है।’ दक्षिण भारत के समन्वित संगीत को कर्नाटक संगीत कहा गया है। कर्नाटक संगीत अर्थात् भक्ति-संगीत ही है। महान गायक त्यागराज, मन्त्र मुत्तुस्वामी दीक्षितर तथा महान संगीतज्ञ श्याम शास्त्री मिलकर त्रिमूर्ति कहलाते हैं। तिरुवैय्यार नामक ग्राम में संत त्यागराज के जन्मदिन पर हजारों संगीतकार एकत्रित आते हैं तथा कावेरी में स्नान कर गीले वस्त्रों से ही बैठकर पंचरत्न गीत माधिक (कोरस में) गाते हैं। संत त्यागराज तथा उनके साधियों ने जातिभेद को कभी कोई स्थान नहीं दिया। आज भी सभी जातियों के लोग मिलकर पूरे दक्षिण भारत में ऐसे कार्यक्रमों का आयोजन भक्तिभाव के साथ करते हैं।

\* सन्त रामलिंग स्वामीगल- (वि.सं.1880-1931,ई.सन्.1823-1874)

संत रामलिंग स्वामी जिनको प्रेम से लोग वल्लालर भी कहते थे, का जन्म तामिनाडु प्रान्त के आर्काट जिले में हुआ था। उस समय के समाज सुधारकों में उन्होंने अपना अच्छा स्थान बना लिया था। चिदम्बरम् के शिवमन्दिर में स्थित

नटराज शिव की प्रतिमा के वे अन्त्य उपामक थे। भक्तिभाव ने परिपूर्ण 5818 पदों की रचना उन्होंने की। इन सभी को संकलित करके एक ग्रन्थ बना है जिसका नाम है तिरुअरुत्तप। किमी भी प्राणी को दुःखी देखकर उनका हृदय दुःख में भर जाता था। मनुष्य-मनुष्य के प्रति किमी भी प्रकार के भेदभाव का उन्होंने विरोध किया तथा छुआछूत या ऊँचनीच की भावना के प्रति वे डटकर खड़े हो गए। उन्होंने समाज सुधार हेतु तीन संस्थाओं का निर्माण किया।

(i) समरस शुद्ध सत्य सन्मार्ग संगम- इसके माध्यम से समाज के लिए सत्य तथा पवित्र मार्ग कौन सा है इसका प्रबोधन उन्होंने किया।

(ii) सत्य धर्म सलाह- इस संस्था के द्वारा उन्होंने यह प्रयास किया कि गरीब लोगों को निःशुल्क भोजन मिल सके।

(iii) सत्य ज्ञान सभा- इस संस्था के मंच से विविध विषयों पर चर्चा, गोष्ठी आदि की व्यवस्था की गई थी। उनकी शिक्षाओं तथा उपदेशों को हम कुछ सूत्र में रब सकते हैं-

1. ईश्वर एक है तथा उसकी आराधना भक्ति के आधार पर ही हो सकती है।
2. ईश्वर के लिए वलि-प्रथा की कोई आवश्यकता नहीं है।
3. ईश्वर के सम्मुख सभी समान हैं।
4. जातिगत भेदभाव ऊँच-नीच की धारणा व्यर्थ है।
5. निर्धन लोगों की सभी भाँति सेवा करनी चाहिए।

इसी प्रकार भक्ति को आधार मान कर समाज में प्रेम, ममता, करुणा, समता तथा सेवा का भाव जगाने का कार्य उन्होंने किया। आज भी तामिनाडु में रामलिंग मिशन के सैकड़ों कार्यकर्ता उनके कार्यों को आगे बढ़ने हेतु प्रयत्नशील रहते हैं।

\* **महर्षि रमण** (वि.सं. 1936-2001; ई. सन्. 1879-1950)

महर्षि रमण स्वयं करुणा के सागर थे। इनके आश्रम में गाय, चिड़िया, बन्दर, गिलहरी आदि सभी इनके संगी साथी हो गये थे। लक्ष्मी नामक गाय के मरने पर महर्षि रमण घण्टों रोते रहे। महर्षि रमण के आश्रम में जाति, वर्ण आदि किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था। आश्रम के द्वार सभी के लिये खुले थे। दर्शनाथी किसी भी जाति का हो, उसे कोई भी बीमारी हो वह बेरोक-टोक आश्रम में आ जा सकता था। आश्रम में किसी का प्रवेश निषिद्ध नहीं था। महर्षि रमण के अनुसार सब लोग एक ही ईश्वर की सन्तान हैं। रमण महर्षि ने शंकराचार्य की पुस्तक विवेक चूड़ामणि का तमिल में अनुवाद किया तथा 40 कविताएं नाम से एक

नाम में अपनी सारी कविताएं लिखी हैं।

महर्षि रमण तो ईश्वर-भक्त थे तथा सभी निर्बल, निरन्न, मरण लोगों की भाँति ईश्वर सेवा के रूप में ही करने थे। इस प्रकार हजारों गरीब तथा बीमार लोग उनके पास आते थे। दूसरी ओर ईसाई पादरी जैसे भोले-भांले लोगों को ईसाई भाँति में लगे हुए थे। उनकी योजना में महर्षि रमण ही सबसे बड़े बाधक थे।

अर्काट जिले के पादरियों को भी लगने लगा कि अब लोग पहले की तरह भाई नहीं बन रहे हैं। अरुणाचल पर कोई संत आया है जिसे लोग ईश्वर का दूत मानते हैं उसके पास बहुत लोग जा रहे हैं। लोग कहते हैं कि वह प्रतिदिन ईश्वर का पास जाते हैं। पादरियों ने सोचा कि सच में कोई धूर्त व्यक्ति होगा। वे महर्षि रमण के पास गए और बोले- 'सुना है आपको ईश्वर का साक्षात्कार हो गया है और आप प्रतिदिन तीन घंटा उसके साथ एकांत में रहते हैं?' महर्षि रमण ने कहा 'आपने ठीक ही सुना है। आप प्रातः आइये आपको भी साथ ले चलूँगा।' अगले दिन प्रातः काल पादरी और उनके कुछ साथियों को लेकर महर्षि रमण दो मील पैदल चलकर जंगल में एक झोपड़ी में गए। लोगों ने देखा कि झोपड़ी के अन्दर एक चटाई पर एक कोढ़ी दम्पति पड़े थे। महर्षि ने उनके घावों की सफाई की, घावों पर तेल लगाया, पानी लाकर नहलाया, चूल्हा जलाकर बिचड़ी बनाई उन्हें खिलाई उन्हें प्रणाम कर कहा- 'प्रभो कल फिर आइँगा।' झोपड़ी के बाहर खड़े लोग यह दृश्य देख रहे थे। महर्षि ने कहा- 'ये ही मेरे ईश्वर हैं।' पादरियों की जवान सूख गई। उनकी आँखों से भी आनन्दाश्रु बह निकले। इस प्रकार महर्षि ने अपने हजारों भक्तों को मनुष्य की सेवा करने का 'कर्मयोग' सिखलाया। उनकी करुणा और ममता ने जातिगत भेदभाव का विचार भी नहीं किया। उनके आश्रम में सभी समान थे, ईश्वर स्वरूप थे। वे एक आदर्श संत के रूप में जिये तथा उन्होंने हिन्दू समाज के दुःख निवारण हेतु अपने आपको समर्पित कर दिया।

॥ ॐ ॥

त। अपने कन्ड वचन में वे कहते हैं-

“कहाँ आम का वृक्ष, कहाँ यह कोयल?

इन दोनों का क्या सम्बन्ध है,

यह सम्बन्ध कैसे हो गया?

पहाड़ पर होने वाला आँवला तथा समुद्र का नमक,

इनका आपस का क्या सम्बन्ध है?

ओ, गुरुदेव, आप इस गुफा के देवता हैं,

मेरा आपका क्या सम्बन्ध है?”

श्री अल्लम प्रभु उपर्युक्त वचन में कहते हैं कि-‘आम के वृक्ष तथा कोयल का आपस का सम्बन्ध कैसे हो गया? हम सभी जानते हैं कि कोयल आम के वृक्ष के साथ ही रहती है। आँवला और समुद्र का नमक कितनी दूरी पर हैं किन्तु जब दोनों मिल जाते हैं तो रुचिकर अचार बन जाता है, इसी प्रकार गुरुदेव आप तो गुफा में थे मैं दूर था फिर भी हमारा आपका यह सम्बन्ध कैसे हो गया?’

श्री अल्लम प्रभु का भाव यह है कि सृष्टि में दूर अथवा विरोधी दिखने वाली बातें भी जब आपस में मिल कर सामंजस्य बनाती हैं तो उसमें से अनेक अच्छी-मुन्दर बातों की सृष्टि होती है। अतः सभी के साथ सामंजस्य बिठा लेना तथा सभी में स्नेह करना ही मनुष्य की प्रकृति होनी चाहिए।

प्रसिद्ध विंगायन संत अल्लमप्रभु का मानना है कि ईश्वर एक है तथा वह सभी के अन्दर विद्यमान है। निर्विकार-निर्गुण ईश्वर सर्वत्र है। वे अपने वचनों में उसका वर्णन करते हैं- ‘वह शून्यलिङ्ग मूर्ति न साकार है न निर्गुण है, उसका न आदि है न अंत है। वह न यह है न पर है, न सुख है न दुःख है, न पुण्य है न पाप है, न प्रभु है न दास है, न कर्म है न कारण है, न धर्म है न कर्म है, न पूज्य है न पूजक है- वह इन दोनों से परे है। संत अल्लम प्रभु का मानना है कि सभी समान हैं, किसी भी प्रकार के भेदभाव को वे स्वीकार नहीं करते।

श्री अल्लम प्रभु ने अपनी विलक्षण प्रतिभा तथा शिवभक्ति के आधार पर समाज के अन्दर पुनर्जागरण का सन्देश दिया। तथा उस समय के समाज जीवन को उन्होंने दूर तक प्रभावित किया। उन दिनों दिखने वाले अनेक सन्त-महात्मा उनके आभामण्डल से आलोकित हो रहे थे। जिनमें- भक्त बसवण्णा, अक्कमहादेवी, तथा सिद्धराम सिद्ध योगी आदि ने अपनी अलग पहिचान भी बनाई। इन सभी महानुभावों ने जातिगत भेदभाव से दूर एक निर्मल समाज रचना खड़ी की।

## कर्नाटक के संतों द्वारा समाज जागरण

कन्ड में भक्ति-आन्दोलन का प्रादुर्भाव 12वीं शताब्दी से भी पूर्व का माना जाता है। विगत आठसौ वर्ष में कर्नाटक क्षेत्र की धरती पर प्रमुख रूप से दो भक्ति धाराएँ प्रभावी ढंग से आगे बढ़ती दिखती हैं। एक ओर वीरशैव संप्रदाय के लोग शिव-भक्ति के साथ समाज सुधार के प्रयास कर रहे थे वहीं दूसरी ओर वैष्णव संप्रदाय के अनुयायियों ने भक्ति आधारित समाज उन्नयन का कार्य जारी रखा।

श्रीमध्वाचार्य से भी पहले, श्रीरामानुजाचार्य चोल राजाओं का क्षेत्र (तमिलनाडु) छोड़कर कर्नाटक के होयसल राजाओं के पास आ गए थे। श्री रामानुजाचार्य ने मेलुकोट में अपना केन्द्र बनाकर धार्मिक जागरण तथा समाज सुधार के अभिनव प्रयास चलाए। कर्नाटक की भूमि पर वैष्णव संप्रदाय, आलवारों से प्रेरणा लेकर अपने नये स्वरूप में प्रकट हो रहा था। तभी शैव-भक्ति को लेकर चलने वालों में श्री अल्लम प्रभु, भक्त बसवेश्वर एवं अक्क महादेवी जैसे धार्मिक लोगों की विशाल परंपरा बढ़ चली तथा स्वामी विद्यारण्य ने अद्वैत का सहारा लेकर व्यापक भक्ति-जागरण कर सम्पूर्ण हिन्दू समाज को एकत्रित किया और आक्रामक मुस्लिम शासकों से अपना शासन पुनः प्राप्त करने में अतुलनीय योगदान किया। वहीं दूसरी ओर श्रीमध्वाचार्य, श्रीपादराय, श्रीव्यासराय, संत पुरन्दरदास, संत कनकदास आदि के साथ दासपन्थ भी भक्ति की अलग जगता हुआ सामाजिक भेदभाव तथा कुरीतियों को दूर करने में लगा रहा। कर्नाटक के मन्दिरों में सतत चलने वाले कीर्तन, नाट्य तथा हरिकथा-शिवकथा की जनप्रिय सर्वसमावेशी परंपराओं ने धार्मिक जागरण के साथ-साथ लोकजागरण तथा सामाजिक समरसता का प्रभावी स्वरूप खड़ा करने में भारी योगदान दिया।

\* श्री अल्लम प्रभु (ई.सन्. 12वीं शताब्दी)

कर्नाटक में, 12वीं शताब्दी में अत्यन्त प्रतिभाशाली सन्त कवि श्रीअल्लम प्रभु हो गए हैं। सामाजिक समरसता तथा ऐक्य-भाव निर्माण करने के उनके प्रयास आज भी प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय हैं।

श्री अल्लम प्रभु का मानना है कि सम्पूर्ण प्रकृति में सुन्दर एकता तथा सामंजस्य के दर्शन से ही आनन्द की अनुभूति होती है। ऊपर से भिन्न तथा दूर दिखने वाली वस्तुएँ भी जब निकट आती हैं तो सामंजस्य से सुख की सृष्टि होती

\* भक्ति-भण्डारी बसवेश्वर - (वि.सं. 1188-1224; ई.सन्. 1131-1167)

महान्या बसवेश्वर का जन्म कर्नाटक में हुआ था। अनेक विपत्तियों का अध्ययन करने के पश्चात् भक्त बसवेश्वर कल्याण के राजा विज्जल के यहाँ मन्त्री हो गये। उन्होंने उस समय सामाजिक समस्याओं के लिये अभिनन्दनीय प्रयास प्रारम्भ किये। अनुभव मण्डप नाम से एक लोकतान्त्रिक व्यवस्था वाला ग्रन्थ रचा। किमी भी जाति के व्यक्ति को इसमें प्रवेश था। महिलाएँ भी इसकी मददगार हो सकती थीं किन्तु सदस्यों का सचचिव होना आवश्यक था। अनुभवमण्डप का ऐसा नियम था कि व्यक्तियों को जितना आवश्यक है उतना ही धन वह ले और शेष धन सामाजिक कार्यों में लगायें। अक्कमहादेवी नामक एक योग्य सन्त कवयित्री भी अनुभव मण्डप में थी। अनुभव मण्डप के कुछ प्रसिद्ध सदस्यों में माचिदेव (धोबी), चान्दय्या (रस्सी बनाने वाला), मुहुय्या (कृपक), रम्मावी (चुनकर), कन्नय्या (तेली), बसप्पा (बढ़ई), कक्कय्या (रंगरेज), हरलया (चर्मकार) भी थे। इस प्रकार भक्त बसवेश्वर ने शारीरिक श्रम की महत्ता तथा जीवन निर्वाह हेतु विविध प्रकार के व्यवसाय करने पर जोर दिया। भक्त बसवेश्वर ने शारीरिक श्रम की महत्ता स्थापित की। इसी दृष्टि से “कायकवे कैलास”, अर्थात् ‘शारीरिक श्रम ही कैलास याने ईश्वर है। कर्म के कारण कोई नीच या श्रेष्ठ नहीं होता क्योंकि सभी कर्म ईश्वर समान हैं।’ उन्होंने जाति-पाँति के भेदभाव को समाप्त कर महिलाओं समेत सभी को सम्मान दिया। अनुभव मण्डप के सभी सदस्य आपस में भाई समझे जाते थे। मधुवर्सा (ब्राह्मण) ने अपनी लड़की का विवाह हरलया (चमार) के लड़के के साथ कर दिया। उस समय की जाति व्यवस्था के अनुसार यह बहुत आश्चर्यजनक घटना थी किन्तु इस विवाह को भक्त बसवेश्वर तथा अनुभव मण्डप के अन्य सदस्यों ने अपनी सहमति दी थी। वहाँ के राजा को यह सामाजिक रूप से उचित नहीं लगा और उसने मधुवर्सा तथा हरलया को मृत्युदण्ड दे दिया। भक्त बसवेश्वर बहुत डुम्बी हुए तथा कल्याण छोड़ कर चले गये। इस सबके पश्चात् भी भक्त बसवेश्वर निराश नहीं हुए। समाज के सभी प्रकार के भेदभावों को दूर करने के लिए वे प्रयास करते रहे। शरण बसवेश्वर कहते हैं कि-

“नेलवोन्दे होलेगेरि शिवालयक्के

जलवोन्दे शौचाचमनक्के।”

अर्थात्, ‘शूद्र बस्ती तथा शिवालय के लिए एक ही भूमि रहती है। उस भूमि में क्या अन्तर है ? वह तो एक जैसी ही है। शौच तथा आचमन हेतु जल तो एक

ही है। सभी मनुष्य समान हैं। भक्त बसवेश्वर कहते हैं कि-

“इवनारव इवनारव इवनारव ऐन्नदिरय्या

इवनेम्मव इवनेम्मव इवनेम्मव एन्देनिसय्या।”

अर्थात्, ‘किमी को भी यह कौन है ? यह कौन है ? यह कौन है ? ऐसा मन पूछो। सभी के वागे में यही विचार करो कि वह अपना है, अपना है, अपना ही है। महात्मा बसवेश्वर का मानना है कि व्यक्ति अहंकार भाव को छोड़कर अपने आप को सबसे छोटा तथा शिवभक्तों को ही श्रेष्ठ माने। अपने इस भाव को वे निम्नलिखित वचन में कहते हैं -

“एनगिन्त किरियारिल्ला

शिवभक्तरिगिन्त, हिरियारिल्ला।”

एक अन्य वचन में भक्त बसवेश्वर, जातिगत विचार करने वालों को समझाते हुए कहते हैं कि-

“जाति पिडिडु सूतकवनरसुवे,

ज्योति पिडिडु कत्तलेयनरसुवे।

इदेको मरुल मानव ?

जातियल्लि अधिकनेम्बे,

विप्र शत कोटिगलिदल्लि फलवेनु ?

भक्ति शिरोमणि एन्दुडु वचन।

नम्म कूडल संगम शरणर पाद परुषव नम्बु,

केडवेड मानवा।”

अर्थात्, ‘जाति को पकड़कर अपवित्रता को ढूँढ़ रहे हैं, प्रकाश को पकड़कर अन्धकार को ढूँढ़ रहे हैं। हे पागल मनुष्य, यह सब क्यों चाहिए ? जाति में क्या श्रेष्ठ है ? निर्मल भक्ति एवं विश्वास रहित अनाचारी ब्राह्मण, शत कोटि होते हुए भी क्या परिणाम है ? भक्ति ही श्रेष्ठ है ऐसा वचन-शास्त्र में कहा है। हमारे कूडल संगमदेव के भक्त के स्पर्शमणि जैसे चरणों में विश्वास करो। हे मनुष्य बगवाद न होओ। अनुभव मण्डप के सदस्यों के माध्यम से भक्त बसवेश्वर सम्पूर्ण समाज में नैतिक जीवन मूल्यों की पुनर्स्थापना पर बल देते हुए कहते हैं -

“देवलोक मर्त्यलोकवेंबुडु बेरिल्ला काणिरौ।

सत्यव नुडिवुदे देवलोक मिथ्यवनुडिवुदे मर्त्यलोक।”

अर्थात्, ‘देवलोक तथा मानवलोक अलग नहीं अर्थात् यहाँ ही हैं। सच बोलने

को ही देवलोक कहते हैं तथा अमृत्य बोलना मर्त्यलोक के समान है।

इस प्रकार भक्त बसवेश्वर ने वीरगैव मन का अनेक प्रकार से मार्गदर्शन किया। आज से लगभग 900 वर्ष पूर्व भक्त बसवेश्वर द्वारा सामाजिक समरमता के निये किये गये प्रयास आज भी आदर्श कहे जायेंगे।

#### \* वैराग्यनिधि-अक्कमहादेवी-(ई.सन्. 12वीं शताब्दी)

अक्कमहादेवी का जन्म उडुनडी के सामान्य परिवार में हुआ था। कन्नड़ भाषा में अक्क अर्थात् बड़ी बहिन अर्थात् दीदी। अक्कमहादेवी के माता-पिता शिवोपासक थे। अक्कमहादेवी ने विवाहित होते हुए भी ब्रह्मचरिणी रहकर शिवोपासना करने का निश्चय कर लिया। अक्कमहादेवी जी सन्त बसवेश्वर की शिष्या थी। उन्होंने कन्नड़ भाषा के सुन्दर शब्दों का प्रयोग अत्यन्त कुशलता के साथ किया है। दैनन्दिन जीवन के उदाहरण देकर उन्होंने श्रेष्ठ-समरस जीवन का सन्देश देने वाले 1000 सुभाषितों की रचना की। अक्कमहादेवी के इष्टदेव श्रीगैल के चैन्नमल्लिकार्जुन हैं। अपने प्रत्येक लेखन (गद्य या पद्य कोई भी हो) के अन्त में वे चैन्नमल्लिकार्जुन के नाम का उल्लेख करती हैं। उनके जीवन में समाज के सभी वर्ग के लोगों को साथ लेकर चलने का सुन्दर संकल्प दिखलाई देता है।

उनके महत्वपूर्ण तीन ग्रन्थ हैं-(1) योगांग त्रिविध, (2) शटीय वचन, (3) अक्कगल पीटिके (अक्का का चरित 'महादेवी अक्कन पुराण') है। श्रीगैल में चैन्नमल्लिकार्जुन की विशेष उपासना करते हुए 37 वर्ष की आयु में वे शिवरूप हो गयीं।

#### \* श्रीमध्वाचार्य- (वि.सं.1295-1374; ई.सन्. 1238-1317)

द्वैतमत के प्रतिष्ठापक श्रीमध्वाचार्य का जन्म मैसूर राज्य के प्रसिद्ध धार्मिक क्षेत्र उडुपि से आठ मील दूर पाजक ग्राम में हुआ था। इनका वचन का नाम वासुदेव था। आठ वर्ष की आयु में संन्यास ग्रहण किया और नाम मिला आनन्दतीर्थ।

उन दिनों देश के बड़े भाग पर जलालुद्दीन खिलजी का शासन था। एक प्रसंग पर श्रीमध्वाचार्य ने वादशाह को समझाया कि 'किसी भी भाषा में, किसी भी देश के व्यक्ति का भगवान् एक ही है। उसको सभी भाषाओं में अलग-अलग नाम से पुकारा जा सकता है, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।' श्रीमद्भगवद्गीता की समालोचना लिखते समय श्रीमध्वाचार्य ने एक कदम और आगे बढ़ कर कहा- 'जाति व्यवस्था का शरीर से कोई संबंध नहीं है। अध्यात्म के विषय में ज्ञान रखने वाले सभी व्यक्ति श्रेष्ठ हैं, जाति इसमें कोई महत्व नहीं रखती।'

श्रीमध्वाचार्य ने 40 ग्रंथों की रचना कर कठिन आध्यात्मिक विषयों को सभी के लिए सरल बना कर रखा। श्रीमद्भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र, 10 उपनिषद्, भागवत, महाभारत तथा ऋग्वेद के प्रथम तीन अध्यायों पर आपके भाष्य अत्यन्त प्रसिद्धि पाये। इन सभी ग्रंथों के माध्यम से श्रीमध्वाचार्य ने कर्नाटक तथा महाराष्ट्र में भक्ति का व्यापक प्रचार किया।

#### \* श्रीविद्यारण्य स्वामी (वि.सं.1325-1443; ई.सन्. 1268-1386)

श्रीविद्यारण्य स्वामी का प्रारम्भ का नाम माधवाचार्य था। इनके पिता अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति के विद्वान, मायनाचार्य थे। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा स्वामी शंकरानन्द जी के पास हुई तथा आगे अध्ययन हेतु स्वामी शंकरानन्द जी ने इन्हें कांची के गुरु विद्यातीर्थ जी के पास भेज दिया। उस समय उत्तर भारत मुस्लिम आक्रमणकारियों से आक्रान्त था। तभी अलाउद्दीन के सेनापति मलिक काफूर ने भारी सेना लेकर श्रीरंगम् मंदिर को लूटकर ध्वस्त कर दिया। मलिक काफूर ने रामेश्वरम् में अपना विजय स्तम्भ तथा मस्जिद का निर्माण भी करवाया। इस दुर्दशा के पश्चात् श्रीमाधवाचार्य श्रीरंगम् पहुँच गये। सारा विश्वास देखकर उनके मन को बहुत पीड़ा हुई।

इस्लाम के इस आक्रमण के विरुद्ध सम्पूर्ण समाज संगठित होकर खड़ा हो यही उनके जीवन का प्रमुख उद्देश्य बन गया। देश के प्रति प्रेम तथा अपने धर्म और संस्कृति के प्रति श्रद्धा को जागृत करने के लिए योग्य नेतृत्व की आवश्यकता थी। एक ऐसा नेतृत्व जो जनता में साहस तथा आत्मविश्वास पैदा कर सके। सम्पूर्ण दक्षिण प्रदेश पर आधिपत्य स्थापित करने वाली कर्नाटक की जनता को उसके पूर्वजों का गौरवपूर्ण इतिहास स्मरण कराना था। गंगा, राष्ट्रकूट, चालुक्य, कदम्ब तथा होयसल वंश के प्रतापी राज्यों का वीरता हुआ गौरव आँखों के सम्मुख था। एक दिन ऐसा लगा कि साक्षात् माँ भुवनेश्वरी का दिव्य स्वरूप सम्मुख खड़ा है। श्रीमाधवाचार्य ने हाथ जोड़कर कहा- 'माँ अपनी इस मातृभूमि का संरक्षण किस प्रकार होगा?' कहते हैं कि माँ ने कहा कि- 'इस जीवन में नहीं, अगला जन्म लो, तभी कुछ कर सकोगे।' श्रीमाधवाचार्य ने कहा- 'मैं अगले जन्म की प्रतीक्षा नहीं कर सकता।' 'नो फिर तुम्हें संन्यासी बनना होगा' माँ ने कहा। श्रीमाधवाचार्य ने श्रृंगेरी के भारती कृष्णतीर्थ से संन्यास की दीक्षा ग्रहण की। उनको नया नाम मिला- 'स्वामी विद्यारण्य'।

एक दिन प्रातःकाल हक्क और बुक्क नामक दो तरुण युवक घोड़े पर बैठकर स्वामी विद्यारण्य के पास आये तथा स्वामी जी से आशीर्वाद देने को कहा। इन्होंने

स्वामी जी की कथा कि कभी हम इस भूमि के शासक थे पर अब हम सबकुछ खोकर अपना आसरा ढूँढ़ रहे हैं। इनको मोहम्मद बिन तुगलक बंदी बनाकर ले गया था किन्तु वे किसी प्रकार बचकर निकल आये थे। इनका नाम हरिहर (हक्क) तथा वृक्क, राय (वृक्क) था।

नवीन सामाजिक संगठन निर्माण हुआ-स्वामी विद्यागण्य के मार्गदर्शन में हक्क और वृक्क ने जातिगत भेदभाव के विचार को समाप्त कर समस्त हिन्दू समाज के तन्त्रों को संगठित किया। देशभक्ति के भावों से प्रेरित तन्त्रों के इस दल ने आनेगौदी नामक किले पर कब्जा कर लिया। स्थान-स्थान में तन्त्रों के समूह, आक्रमणकारी इस्लाम की सत्ता को चुनौती देने के लिये स्वामी जी के पास आने लगे। सभी जानियों के लोग मिलकर संघर्ष कर रहे थे।

विजयनगर की स्थापना-विद्यागण्य स्वामी ने निरन्तर मिल रही विजय से उत्साहित होकर पन्था क्षेत्र में एक नवीन नगर की स्थापना की। अनेक चक्रवर्ती विजय नगर के नाम से प्रसिद्धि पाया। धीरे-धीरे विजयनगर साम्राज्य विस्तार पाकर, धन, वैभव, ज्ञान, विद्या, संगीत, कला, न्याय, दर्शन आदि अनेक क्षेत्रों में उन्नति करना चला गया।

स्वामी विद्यागण्य ने जातिगत भेदभाव भुलाकर, सभी जाति के लोगों को राज्य में उचित स्थान तथा सम्मान दिलवाया। जैन, वैष्णव, शैव आदि सभी विवादों को समाप्त कर, सर्व-समादर भाव वाला जीवन निर्माण किया। हजारों मुस्लिमों को शुद्ध करके उन्हें हिन्दू समाज में पुनः सम्मिलित कर दिया। मैकडों वर्प तक दक्षिण भारत में हिन्दू शक्ति के बड़े केन्द्र के रूप में विजयनगर साम्राज्य स्थापित करने वाले स्वामी विद्यागण्य की प्रतिमा आज भी हम्पी के विरूपाक्ष मंदिर में विराजमान है।

★ दास-कूट (हरिदास भक्तों की परंपरा)

श्रीमध्वाचार्य की शिष्य परंपरा ने भक्तिभाव जगाने के अनेक प्रयास किये। द्वैत मत का प्रचार व्यापक रूप में होने लगा। श्रीमध्वाचार्य के भक्तों की यह मण्डली आगे चलकर एक व्यवस्थित रूप लेने लगी। इसी का नाम, कर्नाटक में 'दास-कूट' पड़ा और ये सभी भक्तगण दास या हरिदास कहलाए।

इन हरिदासों ने भक्तिभाव में हजारों भजनों की रचना कल्लड भाषा में की। ये भक्त संपूर्ण समाज को साथ लेकर चल रहे थे। जातिगत-ऊँच नीच का यहाँ कोई स्थान नहीं था। आलवारों की गंकीर्तन पद्धति को इन्होंने अपना लिया। संस्कृत के

ज्योंकों के साथ अब स्थानीय लोकभाषा (कल्लड) के भजन भी गाये जाने लगे। हरिदासों की परंपरा में श्रीपादराय 15वीं सदी के पूर्वार्द्ध में हुए। उन्होंने पहली बार कल्लड के भजनों की परंपरा मन्दिरों में प्रारंभ कर दी। कल्लड में उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं- भ्रमरगीत, वैष्णुगीत, गोपीगीत। बंगलौर में प्रकाशित हरिकीर्तन तरंगिणी में श्रीपादराय के 60 पद मिलते हैं। श्रीपादराय के समय के ही एक और प्रमुख हरिदास भक्त हो गये हैं- श्री व्यासराय, जिन्होंने कल्लड में बहुत ही सुन्दर भक्ति-गीतों की रचना की है। कर्नाटक की इस दास परंपरा में आगे दास पन्थ चल पड़ा। दास पन्थ में अनेक लोग हो गए इनमें संत पुरन्दरदास, संत कनकदास, संत विजयदास, संत जगन्नाथदास, संत वेंकटदास आदि ने भक्ति के साथ-साथ समाज की बुराइयों को दूर करने के प्रयासों को जारी रखा। इस संप्रदाय के लोग मधुकरी वृत्ति से अर्थात् पाँच घरों में भिक्षा माँगकर ही जीवन व्यतीत करने थे तथा सभी जानियों से आते थे। इन सभी सन्तों ने भक्तिभाव से व्यापक साहित्य रचना की तथा समाज जीवन को नये आयाम दिये।

★ संत पुरन्दरदास :- (वि.सं. 1541-1621; ई.सन्. 1484-1564)

मन्त पुरन्दरदास का जन्म कर्नाटक के प्राचीन प्रसिद्ध क्षेत्र हम्पी में हुआ था। संत पुरन्दरदास श्रेष्ठ सन्त, श्रीकृष्ण तथा विठ्ठल के एकनिष्ठ भक्त, कवि, संगीतज्ञ थे तथा दासपन्थ में दीक्षित हुये थे। संत पुरन्दरदास ने हिन्दू धर्मग्रन्थों को जन सामान्य तक पहुँचाने के लिये उनका मारण कल्लड भाषा में लोगों के सम्मुख रखा तथा कुछ ग्रन्थों का कल्लड में अनुवाद भी कराया। वैष्णव संप्रदाय में श्री मध्वाचार्य की प्रेरणा तथा श्री व्यासराय द्वारा चलाया हुआ अति सामान्य जनो का जो दासपंथ है उसी में सन्त पुरन्दरदास एक प्रसिद्ध मन्त हैं। भक्तिभाव के पुरन्दरदास ने सामाजिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से हजारों कीर्तन तथा भजन लिखे हैं।

छुआछूत का विरोध - संत पुरन्दरदास अन्य सभी सन्तों की तरह छुआछूत का विरोध करने हैं। एक पद में वे कहते हैं-

“शुद्धि शुद्धि कहते पग- पग पर उछलते चलते हो, हे जानवर।”

संत पुरन्दरदास ने अपनी विलक्षण प्रतिभा से कल्लड भाषा में विपुल साहित्य रचना की। कहा जाता है कि संत पुरन्दरदास ने 4 लाख 75 हजार पद बनाए थे परन्तु आजकल केवल 5000 ही उपलब्ध हैं। भक्ति के साथ-साथ सामाजिक सुधार तथा व्यक्तिगत चरित्र निर्माण की दृष्टि में संत पुरन्दरदास के साहित्य ने अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया है। संत पुरन्दरदास कहते हैं-

“होलेय बंदनेन्दु ओलगो देवरा माडी

गण गणा गण्टे बारिमुवरय्या।

तनुविना कोपबु होलेयल्लवे?

परधन परसति होलेयल्लवे?

होरगिदिद होलेयना ओलगो बन्निचट्टरे

इक्केनु मद्दो पुरंदरा विट्ठला?”

अर्थात्, ‘होलेया (छोटी जाति के व्यक्ति) को देखकर तुम भगवान् को उससे दूर रख कर घण्टी बजाकर पूजा-पाठ कर रहे हो किन्तु तुम्हारे मन में जो क्रोध, परधन तथा परस्त्री के बारे में दुर्भावना भरी हुई है वह दिखलाई नहीं देती है क्या? हे भगवान्, लोग अपने मन के पाप तथा गन्दी भावनाएं छिपाकर रख रहे हैं तथा दूसरे व्यक्ति में गन्दगी देखते हैं, पुरन्दर क्या करें?’

संत पुरन्दरदास का मानना है कि जातिगत भेदभाव तथा ऊँच-नीच की भावना ने मनुष्य-मनुष्य के मध्य बाहर के भेद बना कर रखे हैं। मनुष्य के अन्दर का भक्तिभाव देखो वही प्रमुख है। गन्ना का उदाहरण देकर संत पुरन्दर समझाते हैं-

“आवकु लवादरे नु आवनादरे नु

आत्मभाववरित मेले हसिकबु डोंकिरलु अदरा

रसतानु डोंकेनो विषया सेगला विट्ठु

हसनादा गुरुभक्ति माडो।”

अर्थात्, ‘कुल अथवा जाति कोई भी हो, सभी के अन्दर आत्मा तो एक ही है। गन्ना बाहर से दिखने में कैसा भी टेढ़ा दिखलाई दे किन्तु उसके अन्दर का रस तो मीठा ही होता है। दूसरों के कुल जाति के विचार को छोड़कर अपने अन्दर के विषय दोषों को दूर करना तथा गुरुभक्ति करना ही प्रमुख है।’

संत पुरन्दरदास का कहना है कि दूसरों को ऊपर में देखकर उनके जाति-कुल का विचार करना व्यर्थ है। ध्यान रखो, सभी के अन्दर एक ही आत्मा है। संत पुरन्दरदास ने अपने एक वचन में गाय-वकरी का सुन्दर उदाहरण देने हुए कहा है कि-

“नानावर्णदा आकलु आडु

नानावर्णदा क्षीरवेनो

हीनकर्मगलनु विट्ठु हिग्गी

ज्ञान ओलिसिरो।”

अर्थात्, ‘गाय तथा वकरी अनेक रंगों के होते हुए भी इन सभी का दूध तो

एक ही रंग का होता है। अतः दूसरों की जाति कुल का विचार छोड़कर अपने द्वारा होने वाले हीन कर्मों को त्याग कर जानार्जन करो।’

संत पुरन्दरदास बार-बार जातिगत ऊँच-नीच की भेदभाव मूलक भावना पर प्रहार करते हैं-

“कुलदा मेले होगवेडा मनुजा

कुल्विल्ला जानिगलिगे

वरदा पुरन्दर विट्ठलना पादवा

सेरि मुक्कतनागो।”

अर्थात्, ‘जानी लोगों के लिए जाति तथा कुल आदि महत्वहीन है। वे सभी जातियों तथा कुलों में उन्नत होते हैं। पुरन्दर कहता है कि परम पवित्र विट्ठल के चरणों की भक्ति करो और मुक्ति पाओ।’

\* संत कनकदास - (ई० सन्. 15वीं शताब्दी)

दक्षिण भारत में कर्नाटक के उडुपि नामक स्थान पर संत कनकदास, भगवान् कृष्ण के अनन्य भक्त थे। लगभग पांच सौ वर्ष पहले विजयनगर साम्राज्य के बंकापुर प्रान्त का प्रमुख नगर था ‘वाड’। वीरणा नायक बंकापुर के दण्डनायक (सेनाध्यक्ष) थे। वीरणा की पत्नी वच्चम्ममा थी। परिवार के लोग बेंकटेश्वर के भक्त थे। इन्हीं के पुत्र का नाम था तिमम्णा (तिरुपति) जो आगे चलकर भक्त कनकदास के नाम से प्रसिद्ध हो गये। यद्यपि संत कनकदास का जन्म उस समय निम्न कहे जाने वाले गड़गिया परिवार में हुआ था किन्तु उन्होंने अपनी भक्ति-माधना में बहुत श्रेष्ठस्थान पाया। पिता की मृत्यु के पश्चात् तिमम्णा छोटी उम्र में ही बंकापुर प्रान्त के दण्डनायक बन गये। युद्ध के मैदान में वे शूर-वीर थे साथ ही ये दानवीर भी थे। इनकी दान शूरता को देखकर इनको कनकनायक नाम मिल गया।

संत कनकनायक ने कागिनेले में आदिकेशव का सुन्दर मंदिर बनवाया। आदिकेशव ने स्वप्न में कहा, मेरे दाम वनो और आगे चलकर, कनकनायक केशव की गण में आकर कनकदास बन गये। अब उनका अधिकांश समय मंदिर में नामस्मरण, कीर्तन, पूजा आदि में ही लगता था। गुरु व्यासराय का सर्वाधिक प्रेम संत कनकदास पर ही था। पूजा के पश्चात् सर्वप्रथम प्रसाद कनकदास को ही मिलता था। संत कनकदास का भक्ति-भाव बढ़ता गया।

संत कनकदास उच्चकोटि के भक्त, विचारक और कवि थे। भगवद्भक्ति,

समाज सुधार तथा श्रेष्ठ जीवनादर्श वाले हजारों भक्तों की रचना उन्होंने की। भक्तों के आनन्दित उल्लास की प्रतीकियाँ भी प्रसिद्ध हुई हैं- नरसिंह स्तोत्र, मोहन तरंगिणी, रामध्यान मंत्र, हरिभक्ति मार और तलचरित्र।

मंत कनकदास उस समय की परिस्थितियों में एक श्रेष्ठ समाज सुधारक भी थे। कनकदास कहते हैं -

“कुल कुल कुलवेन्दु होडेदाडुर्दिर।  
निम्मा कुलदा नेलेयनेनारु बल्लिरा  
आत्म याव कुला जीवयाव कुला।  
पंचेन्द्रयङ्गलाव कुल पेलिरय्या ॥”

अर्थात्, मेरा कुल श्रेष्ठ है या मेरा कुल श्रेष्ठ है ऐसा कह कर झगड़ा मत करो, आत्मा का कुल क्या है? जीव का कौन सा कुल है, पंचेन्द्रियों का कुल क्या है?

कनक खिड़की- उड्डणी के श्रीकृष्ण मंदिर की दीवार पर एक छोटी सी चौकोर खिड़की है इसे कनक खिड़की (कनकन किंडी) कहते हैं। इसकी अपनी एक सुन्दर कहानी है। मंत कनकदास जन्म में गड़गिया (तथास्थित निम्नकुल) होने के कारण उन्हें श्रीकृष्ण मंदिर में प्रवेश नहीं करने दिया गया। वे सैकड़ों मील की पैदल यात्रा करके प्रभु के दर्शन करने के लिए आये थे लेकिन यहाँ मंदिर के अन्दर जाना मना था। मंत कनकदास मंदिर के बाहर खड़े थे किन्तु कहीं से भी श्रीकृष्ण मूर्ति दिखलाई नहीं दी। दीवार पर चढ़कर देखने की कोशिश की किन्तु सभी कोशिशें बेकार। मंत कनकदास अन्यन्त दुखी हो गये। यह मूर्ति पूर्वाभिमुख थी। मंत कनकदास मंदिर के पिछवाड़े जाकर प्रार्थना करने लगे- हे भगवान् क्या मुझे दर्शन नहीं दोगे? भक्त कनकदास तत्पय होकर गाने लगे। अचानक घनघोर बादल कड़क उठे! घग्गगी आवाज के साथ मंदिर के पिछवाड़े की दीवार में दरारें पड़ गई और हजारों भक्तों ने देखा कि श्रीकृष्ण की मूर्ति अर्धवृत्ताकार में घूमकर पश्चिम की ओर खड़ी हो गई। दीवार की दरारों से भक्त कनकदास श्रीकृष्ण की मंगलमय मूर्ति के दर्शन करने रहे। सारा शरीर रोमांचित हो उठा। आनन्दाश्रु वह निकले। भक्त कनकदास के कारण घटी घटना को शाश्वत रूप देने के लिए वारिदाज ने दीवार पर एक खिड़की लगवाई जिसमें आज भी लोग दर्शन करने हैं। यह 'कनक खिड़की' या 'कनकन किंडी' के नाम से प्रसिद्ध है। भगवान् कृष्ण की प्रतिमा पश्चिम दिशा की इस खिड़की की ओर मुँह करके स्थित है। दक्षिण कर्नाटक में आज हजारों भक्त, मंत कनकदास के भजन भक्तिभाव से गाते हैं।

• **कीर्तन साहित्य-** दक्षिण भारत में नेल्लु, तमिल, मलयालम, कन्नड़ तथा तमिलनाडु आदि भाषाओं में भक्ति-कीर्तनों का निर्माण हुआ है। सभी जातियों के भक्तों की कीर्तनों की रचना करने हैं तथा कीर्तन स्वीकार होने पर उनको गेयकार कहा जाता है। इस परम्परा में आधुनिक काल में मैसूर के राजा वोडेयर भी थे। इस प्रकार स्वीकृत कीर्तन तथा भजन सभी मन्दिरों में गाये जाते हैं।

• **नाट्य परम्परा-** दक्षिण भारत के देवालयों में सभी जातियों के भक्तगण अपनी होने के पर्वोत्सवों की भगवत् प्रसन्न की प्रशंसा करने हैं। यह कार्यक्रम नाट्यमेवा, संगीतमेवा, रामायणमेवा या महाभारतमेवा के नाम से जाने जाते हैं। रामायण के प्रतापी राजा विष्णुवर्धन की पत्नी रानी शान्तला देवी भी सभी जाति-वर्ग के भक्तों के साथ स्वयं भी नृत्य करती थी।

• **हरिकथा-शिवकथा परम्परा-** कीर्तन साहित्य तथा नाट्य परम्परा की तरह ही दक्षिण के सभी प्रांतों में हरिकथा (विष्णुकथा) तथा शिवकथा नाम से भगवत् प्रसन्न को भक्तिभाव से सुनानेवाले तथा सुननेवाले सभी जाति वर्ग के लोग होते हैं। भद्रगिरि केजवदाम एवं भद्रगिरि अच्युतदाम द्वारा हरिकथा प्रसन्न को कहने का कार्य देग-विदेग की प्रन्त्रह भाषाओं में बड़े ही मार्मिक ढंग से किया गया है। उनके द्वारा सभी जाति वर्ग के लोगों के लिए हरिकथा प्रशिक्षण का विद्यालय भी चलता है।

\* **तोरवे रामायण - (ई.सन्. 16वीं शताब्दी)**

कर्नाटक में, कुमार वाल्मीकि कृत कन्नड़ भाषा में रचित तोरवे रामायण, धर्मग्रन्थ सम्मान प्राप्त, प्रचलित, जनप्रिय काव्य है। ऐसी मरल जैली में ग्रंथ है कि जिसे पढ़कर अर्थ समझा जा सकता है। इस ग्रंथ की जनप्रियता का यह भी एक कारण हो सकता है कि समूची कृति का आधा हिस्सा युद्ध काण्ड से सम्बन्धित है क्योंकि इस काव्य का रचनाकाल, वीरगाथा काल था। अपने गाँव, अपने स्वामी एवं अपनी बहनों की मान-रक्षा के लिए अपनी गोमपत्ति के बचाव के लिए चढ़कर युशी-युशी वीरगति पाने की अभिलाषा रखने वालों की उस समय कमी नहीं थी। यदि शृंगार विश्वमोहक रस है तो वीर विश्वपोषक रस है। उन दिनों युद्ध अनिवार्य था। तोरवे ने तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार ही इस काव्य की रचना की। जाति-वर्ग आदि भेदों से ऊपर उठकर लोगों ने इसको आत्मसात् कर इसका गायन किया।

### \* साधू-सन्तों का युगान्तकारी निर्णय

ई0 मन् 1969 में मैकडों मन्त-महान्माओं के नेतृत्व में कर्नाटक के उडुपी नामक तीर्थस्थान पर एक विराट् हिन्दू मन्त सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में हिन्दू धर्म के सभी मतों एवं पंथों के प्रतिनिधियों और धर्माचार्यों ने भाग लिया। सम्पूर्ण हिन्दू समाज में अस्पृश्यता की बुराई को समाप्त कर देने की दृष्टि से यह संत सम्मेलन ऐतिहासिक एवं क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ। संतों ने समवेत स्वर में घोषणा की कि हमारा उद्देश्य है कि समग्र हिन्दू समाज को एकात्मता की भावना से मंगठित रखें और अस्पृश्यता जैसी प्रवृत्तियों और भावनाओं के कारण उसमें किसी भी प्रकार का कोई विघटन न होने दें। इसके लिए विश्वभर के हिन्दुओं को परस्पर व्यवहार में एकता और समता की भावना का परिपालन करना चाहिए।

पंजावर मठ के श्री विश्वेशतीर्थ स्वामी जी ने- 'हिन्दवः सोदराः सर्वे' मन्कल्प मंत्र को कार्यरूप देने के लिए अनेक सन्तों-महात्माओं के साथ ग्रामों में पदयात्राएं कीं, सामूहिक प्रसाद ग्रहण किया, भजन-पूजन के कार्यक्रम प्रारम्भ किए। इस महान और क्रान्तिकारी कार्य के प्रारम्भ के लिए अन्य जिन महापुरुषों ने सक्रियता से योगदान किया, उनमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय मरमन्धनालक माधवराव सदाशिव गोलवलकर उपाख्य पूज्य श्रीगुरुजी का नाम अविस्मरणीय रहेगा।

॥ ३७ ॥

## केरल के भक्तों द्वारा समवेक्षता हेतु प्रयास

दक्षिण भारत के मुद्गर पश्चिमी तट पर मलयागिरि की पहाड़ियों, नदियों तथा घाटियों के सुगन्ध क्षेत्र का नाम केरल है। प्रकृति ने अपने सहस्र हाथों द्वारा यहाँ सुन्दरता बिखेरी है। दक्षिणी किनारे पर सिन्धु सागर, हिन्दू महासागर तथा बंगाल की खाड़ी का सुन्दर संगम भी है। यहाँ की मलयालम भाषा का दक्षिण की भाषाओं में प्रमुख स्थान है।

मलयालम के विद्वान लोगों ने संस्कृत के धार्मिक ग्रंथों का मलयालम में अनुवाद करके जन सामान्य के लिए प्रस्तुत कर दिया। इस प्रकार रामचरितम्, भगवद्गीता, कृष्णपाथा, अध्यात्मरामायणम् आदि ग्रंथ मलयालम में लिखे गए। मलयालम तथा संस्कृत के शब्द मिलाकर एक मिश्रित शैली का प्रचलन भी केरल में चल पड़ा, इसको मणिप्रवालम् कहा गया। बण्ड-रामायणम् नामक ग्रंथ मलयालम भाषा की प्राचीन उत्तम कृति है। इस प्रकार संस्कृत भाषा में लिखे ग्रंथों को जो लोग जन सामान्य के लिए मलयालम में लिख रहे थे, वे निरणम् कवि कहलाए। इन निरणम् कवियों ने गीता, महाभारत, रामायण आदि ग्रंथों का अनुवाद प्रान्तीय भाषा में किया। राजा कुञ्ज कुट्टन तम्बुरान् वे भगवान् व्यास कृत महाभारत का श्लोकानुश्लोक उसी छन्द में मलयालम में अनुवाद किया इसमें भगवद्गीता भी आती है जिसे भाषा भगवद्गीता कहते हैं।

कृष्ण-भक्ति की कविताओं का मलयालम में बाहुल्य है। कृष्ण को पूर्णवितार के रूप में यहाँ स्वीकार किया गया है। कृष्ण गोपालकों के सखा हैं, नन्दनन्दन हैं, प्रजा-परिपालक हैं, ज्ञानियों के लिए तत्त्वस्वरूप वही कर्मभारिगियों के लिए विराट्स्वरूप हैं। वृज की गोप-गोपियों के मध्य लीलाओं से लेकर गीता के महान उपदेशक तक कृष्ण के मैकडों मधुर स्वरूपों का वर्णन मलयालम के भक्तों ने लिखा है। इस प्रकार उन्होंने वाग-वार यही मिद्ध किया है कि कृष्ण ही पूर्णवितार हैं।

उत्तर भारत के हिन्दी कवियों ने तो कृष्ण के दो-तीन स्वरूप ही सम्मुख रखे थे किन्तु मलयालम के कवियों ने कृष्ण के सभी स्वरूपों को आराध्य माना है। इन भक्तों की साधना में जातिगत भेदभाव को कोई स्थान नहीं था। लोकभाषा में धार्मिक ग्रंथों का अनुवाद करने से यह बात स्पष्ट हो गई थी कि समाज के सभी जन इस भक्ति-भाव के साथ जुड़ने चाहिए।

### \* केरल में नाथमत

केरल के मध्यकालीन भक्तिमाहित्य को नाथयोग ने बहुत गहरे जाकर प्रभावित किया है। गोरक्षपीठ, गोरक्षपुर में एक परिचर्चा में भाग लेते हुए प्रो० एन. रामन नाथ ने कहा कि- 'केरल में भी नाथ सम्प्रदाय के योगियों की चर्चा थी तथा योगी सम्प्रदाय प्रचलित थे। इन नाथ योगियों ने सभी जातियों को साथ किया तथा जाति अथवा वर्णान्तर किमी भी भेदभाव को मँदेव अस्वीकार किया।'

### \* नायनमार तथा आलवारों का प्रभाव

मलयालम में भक्ति-माहित्य का निर्माण विशेष रूप से 13वीं शताब्दी के पश्चात् प्रारम्भ हुआ माना जाता है। मलयालम की इस साहित्य रचना पर तमिल भाषा तथा आलवारों एवं नायनमारों का प्रभाव भी दिखलाई पड़ता है। कुलशेखरालवार केरल के ही शासक थे तथा बाद में प्रसिद्ध आलवार भक्त हो गये। इनका जन्म स्थान केरल प्रदेश ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मलयालम प्रदेश का आलवारों से सम्बन्ध बना हुआ था।

आलवारों ने भक्ति में सभी जातियों को वगवगी का अधिकार दिया जिससे निम्न कही जाने वाली जातियाँ भी समाज में सम्मान जनक स्थान पा गईं। इस का प्रभाव केरल में भी पड़ा। मलयालम के लोकगीतों में 'पाणपाट्टु' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अत्यन्त पिछड़ी हुई 'पाण' नामक जाति जो कि मूलतः तमिल प्रदेश की थी के लोगों का व्यवसाय 'भक्ति-गीत' गाना ही था। भक्त तिरुप्पण आलवार इसी जाति के थे। इस 'पाण' जाति के लोग बड़ी संख्या में केरल में आकर बस गए। पाणपाट्टु साहित्य की रचना इन 'पाण' जाति के लोगों ने ही की।

13वीं शताब्दी में रचित 'गमचरितम्' नामक काव्य मलयालम भाषा में उपलब्ध है। इस रचना के ऊपर तमिल के वैष्णव आन्दोलन का पर्याप्त प्रभाव दिखलाई पड़ता है। यह भी हो सकता है कि 11वीं शताब्दी की श्रीकम्बन् द्वारा रचित रामायण का प्रचार मलयालम भाषी लोगों में हो गया होगा।

### \* निरणम् कवि- (ई.सन् 14वीं एवं 15वीं शताब्दी)

14 वीं शताब्दी के पश्चात् मलयाली क्षेत्र में कृष्ण तथा राम के भक्ति-काव्य की रचना प्रचुर मात्रा में प्रारम्भ हो गई थी उसमें मलयालम भाषा के कृष्णभक्त कवियों में 'निरणम्' कवि प्रमुख हैं। इनका समय 14वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लेकर 15वीं शताब्दी के मध्यकाल तक माना जाता है। मुख्य रूप से ये तीन कवि हैं। इनका जन्म राज्य के निरणम् नामक ग्राम में होने के कारण ये निरणम् कवि

। दत्ताण। इन कवियों में-

(1) माधव पणिककर ने गीता का अनुवाद मलयालम भाषा में किया।

(2) शंकर पणिककर ने श्रीकृष्ण विजय और भारतमाला नामक दो काव्य ग्रन्थों की रचना की।

(3) रामपणिककर ने रामायण, महाभारत, ब्रह्माण्डपुराण, शिवगीति माहात्म्य, भागवत का दशम स्कन्ध आदि ग्रन्थों की रचना की।

मलयालम में अनुवाद हो जाने के कारण अब ये सभी भक्ति के ग्रन्थ मामान्य हिन्दू जनता के लिये मलना में उपलब्ध हैं। भक्ति की गंगा लेकर ये कवि गाँव-गाँव पहुँचने लगे।

### \* श्री चेरुशेरी नंबूतिरि (ई.सन् 15वीं शताब्दी)

मलयालम के कृष्णकाव्य के रचयिताओं में श्रीचेरुशेरी नंबूतिरि बहुत प्रसिद्ध हैं। इनकी 'कृष्णगाथा' नामक मलयालम भक्ति-गीतों ने मलयाली लोगों पर आश्चर्यजनक प्रभाव डाला। इन पदों की सुर-लय के साथ वे गाने हैं तथा नृत्य भी करने हैं। एक ही कृति में इन्होंने महाकवि का स्थान पा लिया।

\* आचार्य तुञ्जत्तु रामानुजन एजुत्तच्छन (जन्म- वि. सं. 1583 : ई. सन् 1526) आचार्य एजुत्तच्छन मलयालम के महान कवि तथा आध्यात्मिक पुरुष थे। मलयालम भाषा को समृद्ध तथा समुन्नत बनाने का श्रेय भी आचार्य एजुत्तच्छन को है। ये बहुअधीन माधक थे। इन्होंने योग की व्यापक दीक्षा ली तथा विम्बुत माहित्य रचना भी की। अध्यात्मरामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, देवी माहात्म्य, ब्रह्माण्ड पुराण, हरितामकीर्तन, चिन्तारत्न आदि उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। आचार्य एजुत्तच्छन के ऊपर नाथमत का पर्याप्त प्रभाव था। अपने कई ग्रंथों में उन्होंने आमत, प्राणायाम, ब्रह्मचक्रभेदन, कृण्डिलिनी जागरण तथा शिव-भक्ति-मार्गजस्य का व्यापक विवेचन किया है। यह तो हम जानने ही हैं कि नाथयोग के मानने वाले जानिगत भेदभाव में विश्वास नहीं करने तथा सभी को साथ लेकर चलने हैं।

एजुत्तच्छन का शाब्दिक अर्थ है गुरु। एजुत्तु=लेख, अच्छन=पिता, अर्थात् विद्या देने वाला पिता या गुरु अर्थात् वाचस्पति। जहाँ एजुत्तच्छन का जन्म हुआ वहाँ की रेत लोग ले जाते हैं तथा अपने बच्चों को अक्षरगभ्याम उसी रेत पर कराते हैं। लोगों का विश्वास है कि यहाँ की रेत पर अक्षरगभ्याम करने वाले विद्वान निकलते हैं।

आचार्य एजुतच्छन् कृष्ण के उदार भक्त हैं। उनके लिए राम, कृष्ण, शिव, ब्रह्मा सभी समान हैं। एजुतच्छन् के कृष्ण, भक्त की पुकार पर उनकी महायत्ना के लिए दौड़े चले आते हैं तथा भक्त के कष्ट को दूर करने ही हैं। कृष्ण जाना हैं, वे रक्षक हैं। केरल प्रान्त के लोग आज भी गाँव-गाँव में इन्वर-आराधना के रूप में शाम के समय भक्तिभाव से आचार्य एजुतच्छन् के भक्तों को गाया करने हैं। उनका विश्वास है कि उनकी पुकार श्रीकृष्ण अवश्य सुनेंगे तथा उनके सभी कष्ट दूर होंगे।

केरल प्रान्त में पाण जानि के लोग बहुत पिछड़े हुए तथा आर्थिक दृष्टि से गरीब हैं किंतु ये सभी हिन्दू हैं तथा कृष्णभक्ति में एजुतच्छन् द्वारा बनाए गए भक्तों को वड़ी भक्ति के साथ गाते हैं। लोग इनके भजन सुनकर इनकी महायत्ना करते हैं। भजन भी बहुत सरल भाषा में ही होते हैं। भगवान् कृष्ण की बाललीला का सुन्दर चित्रण देखते ही बनता है। ऐसे भक्ति-भाव के सैकड़ों भजन एजुतच्छन् ने मलयालम में लिखे हैं जिनको केरल में सभी जातियों के लोग मिलकर गाते हैं।

#### \* अध्यात्मरामायण (मलयालम)

महाकवि एजुतच्छन् आधुनिक मलयालम भाषा और काव्य के पिता माने जाते हैं। एजुतच्छन् का अर्थ 'घरने का आचार्य' अथवा 'भाषा के पिता' ऐसा है। जनता ने भी यह उपाधि उन्हें प्रदान की।

आचार्य एजुतच्छन् कृत अध्यात्मरामायण का पाठ केरल के हर घर में होता है। यह इस प्रदेश का सर्वाधिक पूजनीय धार्मिक-ग्रंथ एवं लोकसाहित्य है। केरल में संक्रान्ति से प्रारम्भ होने वाले सूर्यमास जिसे कर्कटक मास या रामायण मास भी माना जाता है, इस मास में अध्यात्मरामायण का पाठ होता है। इस रामायण के पूर्व यहाँ रामचरित, खण्ड रामायण, भाषा रामायण तथा चम्पु आदि रामायण कथाएँ रची गईं। आचार्य एजुतच्छन् का अनुवाद अत्यंत सुंदर साहित्यिक रचना है। सूक्ष्म विचारों की अभिव्यक्ति में वे बेजोड़ थे। यह अनुवाद आध्यात्मिक चेतना से युक्त एक सुंदर एवं मनोज काव्य है। यह ग्रंथ एक स्वतंत्र मौलिक रचना ही है। लोकभाषा का ग्रंथ होने के कारण इसने सहज ही सभी वर्गों में अपना स्थान बना लिया।

\* भक्त-कवि कुंचन नंब्यार (वि.सं. 1762-1805; ई.सन्. 1705- 1748)

श्री कुंचन नंब्यार का जन्म केरल क्षेत्र के किल्लिक्कुरिशि मंगलम् नामक ग्राम में हुआ था। कुंचन नंब्यार के गुरु श्री नारायण भट्टतिरि थे। नंब्यार ने

भक्त का अध्ययन किया तथा कहा जाता है कि उस समय उपलब्ध सभी ग्रन्थों का अध्ययन उन्होंने किया था। भक्त नंब्यार ने इन्वर की भक्ति के साथ-साथ काव्य, नृत्य, अभिनय, वाद्य आदि का एक साथ उपयोग करने की नई पद्धति चलाई। इस नई विधा के अनुसार एक आदमी विशेष वेशभूषा में रंग-मंच पर उपस्थित होता है तथा किसी पौराणिक या वीररस पूर्ण कथा को काव्य रूप में कहता जाता है। इस विशेष पद्धति को 'तुल्लल' कहते हैं जिसका अर्थ है नर्तन अर्थात् नृत्य।

समाज सुधार की दृष्टि में भक्त नंब्यार ने प्रचलित कुरीतियों का इस विधा के द्वारा विरोध करने का प्रयास जारी रखा। तुल्लल पद्धति के अनुसार अनेक कथाएँ नंब्यार ने स्वयं लिखीं। बाद में अन्य कवियों ने भी उनकी इस क्षमता का अनुसरण करने का प्रयास किया। संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान होते हुए भी भक्त नंब्यार ने मलयालम भाषा को समृद्ध करने का अथक प्रयास किया। सभी जाति एवं वर्गों के लोगों को ध्यान में रखकर उन्होंने साहित्य रचना की। भक्तकवि नंब्यार, कविता के द्वारा भक्ति-जागरण तथा कुरीतियों को दूर करने के मार्ग पर सदैव अटल रहे। वे लिखते हैं-

“भाषयाय परवानुमटियनु संस्कृतत्तिलुमोन्नुपोल  
दोषहीन पटुत्व मन्थमुदियप तुणि विटुन्नत्तिन  
शेषियिल्ल भटज्जतंगल धरिच्चिटा कटु संस्कृतम  
भाषयाय परयामतिल चिल दूषणम वरुमेकिलुम।”

(हिन्दी और मलयालम में कृष्ण भक्ति काव्य, पृ. 64)

अर्थात् 'यद्यपि मैं मलयालम और संस्कृत दोनों में ही अपने आशय अच्छी तरह प्रकट कर सकता हूँ, तथापि मैं मलयालम में ही लिखता हूँ। सिमाही (सामान्य) लोगों के लिए संस्कृत कठिन है। मलयालम में लिखना एक दोष होगा (अर्थात् लोग मुझे शायद पंडित न कहेंगे ?) तो भी उसे स्वीकार कर मैं सामान्य-जनों के लिए उसी भाषा में लिखता हूँ। महाकवि नंब्यार ने बार-बार यही बात प्रतिपादित की कि सभी मनुष्यों के अंदर एक ही ब्रह्म अवस्थित है। वे लिखते हैं-

“विप्रनेन्नु क्षत्रियनेन्नु वैश्यनेन्नु शूद्रनेन्नु।  
इप्रपन्चे नालु वर्ण नालवक्त्रनुलवाक्कि।  
तल्लुपुरतु बोद्धेन्नु पाणनेन्नु परयनेन्नु।

.....

कल्पितं जातिभेदं तिनन्तमिल्लं तिरु पिञ्जाल ।

एन्नतु मूलमात्माविन्नार्ककुमाक्कुम भेदमिल्ला ।

ओन्नु तन्ने चरटुल्लिल भूमुरन्नु परयन्नुम ।

ज्ञानमेन्नुल्लतु तन्ने मार मेन्नु धरिक्केराम ।

ज्ञानमिल्लात्ता विप्रन्नु बौद्धन्नु भेद मिल्लेतुम ।”

(वही. पृ. 81)

अर्थात्, ब्रह्मा ने ब्राह्मण, श्रविय, वैश्य और गूढ़ जानियों की मृष्टि की। यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाए तो मालूम होगा कि इन सब का मूलोद्धार केवल ब्रह्म ही है। सूत्र में प्रवाल (मोती) आदि पिरोकर धनी लोग अपने गले में मालाएं पहनते हैं, निर्धन गुंजफल (रन्ती का फल) की माला उमी सूत्र में पिरोकर धारण करने हैं। इन दोनों प्रकार की मालाओं का आधार तो डोरी ही है। उमी प्रकार सभी जानियों के मध्य आत्मा एक ही है चाहे वह चाण्डाल हो या ब्राह्मण। जिसको ब्रह्मज्ञान नहीं, वह चाहे ब्राह्मण कुल में ही क्यों न पैदा हुआ हो, वह चाण्डाल के समान ही है। भक्त कवि नव्यार ने भक्ति साहित्य की व्यापक रचना की। इनमें श्रीकृष्ण चरितम् मणिप्रवालम्, भगवद्भूत, शीलावति, तल-चरित्र, शिवपुराण, विष्णुगीता आदि ग्रन्थों ने विलक्षण प्रसिद्धि पायी। इस प्रकार महाकवि नव्यार ने संस्कृत साहित्य दर्शन को मलयालम में अनुवाद करके जन-जन तक पहुँचा दिया। नव्यार ने जातिगत भेदभाव को सभी सीमाओं को तोड़कर समाज सुधार के नए आयाम खड़े कर दिए।

\* श्रीनारायण गुरु (वि.सं. 1913-1985; ई.सन्. 1856-1928)

श्रीनारायण गुरु का जन्म त्रिवेन्द्रम के निकट एक छोटे से कस्बे में हुआ था। केरल के विजिट सन्त तथा इस शताब्दी के योग्यतम-मफल समाज सुधारकों में आपका नाम आता है। श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने श्रीनारायण गुरु के बारे में कहा कि - 'अपने जीवन में इतना महान् आध्यात्मिक व्यक्तित्व मैंने कोई नहीं देखा।' रोम्या गेलों ने कहा कि - 'श्रीनारायण गुरु ने आद्य शंकराचार्य के दर्शन को मच्चे अर्थों में जिया।' श्रीनारायण गुरु के जन्म के समय केरल की सामाजिक परिस्थितियाँ विचित्र थीं। श्रीनारायण गुरु ने जिस जाति में जन्म लिया वह 'एडवा' जाति थी जिसकी गणना शूद्रों में भी नहीं होती थी और इस कारण उन्हें 'अवर्ण' या 'पंचम' कहा जाता था। ब्राह्मणों के लिए नायर लोग भी अस्पृश्य थे किन्तु वे श्रविय होने के कारण चातुर्वर्ण्य में आते थे। नायर लोग भी एडवा लोगों से कम से कम बारह

कदम दूर रहकर अपने आपको बचाने थे। ब्राह्मण लोगों से तो एडवा लोगों को कम से कम छत्तीस कदम दूर रहना पड़ता था। प्रत्येक जाति एक दूसरी जाति में इसी प्रकार की एक निश्चित दूरी रखकर अपने आपको बचाती थी।

स्वामी त्रिवेकानन्द को केरल की इस सामाजिक दुरवस्था को देखकर कहना पड़ा कि केरल एक पागल घाना है। श्रीनारायण गुरु के जन्मस्थान के निकट ही भगवती देवी का मन्दिर भी था जिसमें नायर और एडवा मिलकर पूजा करते थे। श्रीनारायण गुरु के पिता माडन आशान् अध्यापक तथा वैद्य भी थे। वे आयुर्वेद की औपधि बनाने थे तथा उनकी पुरस्के संस्कृत में थी। एक मचाई यह भी है कि केरल में एडवा वैद्यों की अच्छी संख्या थी और ये सभी संस्कृत जानते थे। श्रीनारायण गुरु के मामा कृष्णनन् वैद्यर संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। अध्ययन के लिये नारायण गुरु कुम्भनपल्ली के पास आ गए। संस्कृत साहित्य का अध्ययन करने के पश्चात् श्रीनारायण गुरु कटोर साधना में लीन हो गए।

नये मन्दिर स्थापन - श्रीनारायण गुरु ने घोषणा की कि वे अरुविपुरम नामक स्थान पर शिवरात्रि के दिन (18 फरवरी, सन् 1888) को एक शिवमन्दिर की स्थापना करेंगे। शिवलिंग को नदी में से निकाल कर लाने तथा प्रतिमा स्थापना का कार्य भी स्वयं स्वामी जी ने ही किया। मन्दिर पर स्वामी जी ने पत्थर पर अंकित करवाया कि - 'यह वह स्थान है जहाँ सभी लोग भ्रातृभाव में रहते हैं। यहाँ पर जाति आदि के किसी भी दुराग्रह से दूर रहे।'।

मन्दिर स्थापन से एक ओर एडवा जाति में आनन्द की लहर आ गई वहीं कुछ पुरातन पन्थियों को लगा कि मन्दिर स्थापना की धार्मिक क्रियाएं एडवा ने किस अधिकार में कर दीं। एक तम्बूदरी ब्राह्मण ने श्रीनारायण गुरु को पूछा कि तुमने किस अधिकार में शिव मन्दिर स्थापन कर दिया? श्रीनारायण गुरु ने प्रेमपूर्वक मुस्कराकर कहा - 'मैंने तो एडवा शिव की स्थापना की है।' श्रीनारायण गुरु ने इतनी विनम्रता से उत्तर दिया कि तम्बूदरी की आगे कुछ पूछने की हिम्मत ही नहीं पड़ी। श्रीनारायण गुरु प्रतिवर्ष एक नये हिन्दू मन्दिर की स्थापना ठीक उसी प्रकार करते थे जिस प्रकार से उच्च जाति के लोग मन्दिर की स्थापना करते हैं। इस प्रकार उन्होंने 30 से भी अधिक मन्दिरों की स्थापना की। इस प्रकार योग्य मुहूर्त पाकर वे नवीन मन्दिर की स्थापना स्थान-स्थान पर करने लगे।

माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार ॐ शब्द से भूत-भविष्य-वर्तमान सभी का मन्देश प्राप्त हो जाता है। नारायण गुरु ने कहा ॐ ऐसा श्रेष्ठ शब्द है जिसमें

सभी देवताओं की अनुभूति एक साथ हो जाती है। उस एक सर्वशक्तिमान् का प्रतीक उ० है। कलवम कोडम (Kalavam Codam) नामक स्थान के मन्दिर में उन्होंने पारं मे बना मन्दिर उ० प्रतीक रूप में रखा। मन्त्र, धर्म, दया तथा स्नेह सभी मनुष्यों के लिये आवश्यक हैं ऐसा मानकर गुरुकुलपूजा के मन्दिर में इन चार शब्दों को एक बड़ी शिला पर लिखवाकर प्रतिमा स्थल पर रखा दिया।

**बड़े मन्दिर नहीं स्वच्छ मन्दिर** - श्रीनारायण गुरु जिन मन्दिरों की स्थापना कराने थे वे बहुत विनाश हो इसकी आवश्यकता नहीं थी किन्तु एक बड़ा स्थान जहाँ पर हवा-प्रकाश हो तथा लोग बैठकर वार्ता कर सकें यह आवश्यक था। मन्दिर की स्वच्छता पर उनका पूरा ध्यान रहता था।

**बलिस्थान को मन्दिर में बदल देते थे** - केवल में 100 से अधिक स्थान ऐसे होंगे जहाँ पर पहले बलि तथा शराब चढ़ाई जाती थी, वहाँ पर श्रीनारायण गुरु ने शिव, सुब्रह्मण्य, गणेश आदि देवताओं की स्थापना करवायी। इन नये मन्दिरों की पूजा को उत्थान पूजा कहा गया, सैकड़ों स्थान पर लोगों ने शराब पीना छोड़ दिया।

**एडवा जाति की कुरीतियाँ** - एडवा जाति के लोग पेड़, पत्थर, सर्प तथा अदृश्य आत्माओं की पूजा करते, पशु-पक्षी की बलि चढ़ाकर देवी-देवताओं को प्रसन्न करने का प्रयास करते तथा शराब पीते थे। श्रीनारायण गुरु ने किसी को भी इन परम्पराओं के विरुद्ध एक शब्द नहीं बोला। वे सब एक ही बात कहते थे कि यह सब छोड़ दो।

**सभी जातियों में से पुजारियों का चयन तथा प्रशिक्षण** - इन मन्दिरों के पुजारी अधिकांश रूप से निम्न कही जानेवाली जातियों में आते थे किन्तु मन्त्र उच्चारण, तन्त्रज्ञान, शास्त्र, वेद, उपनिषद् तथा अध्यात्म की गहन जानकारी के लिए इन लोगों के लिये 9 वर्ष के प्रशिक्षण का प्रबन्ध श्रीनारायण गुरु ने किया।

**वैदिक विद्यालय की स्थापना** - सन् 1912 में श्रीनारायण गुरु ने बरकला नामक स्थान पर सरस्वती की प्रतिमा की स्थापना कराई तथा वहीं पर 'वैदिक विद्यालय' भी प्रारम्भ किया। स्थापना दिवस पर 20 हजार से अधिक अनुयायी उपस्थित थे। यहाँ धार्मिक ग्रन्थों का ग्रन्थालय भी स्थापित किया गया। कर्ममुक्कू (Karamukku) में मन्दिर स्थापना के समय श्रीनारायण गुरु ने कहा सभी उपनिषदों का संदेश यही है कि प्रकाश आने दो 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' और उन्होंने उस मन्दिर में निरन्तर जलने वाली ज्योति की स्थापना की।

**अद्वैत आश्रम की स्थापना** - श्रीनारायण गुरु ने प्रतिपादित किया कि परमात्मा तथा जीवधारी का सम्बन्ध अद्वैत रूप में ही है। अलुवा (Aluva) नामक स्थान पर श्रीनारायण गुरु ने अद्वैत आश्रम की स्थापना की। वहीं पर मस्कून विद्यालय तथा एक छात्रावास भी प्रारम्भ किया गया। इस विद्यालय तथा छात्रावास में सभी जाति-धर्म के विद्यार्थियों को संस्कृत अध्ययन की व्यवस्था की गई। अद्वैत मानता है कि सभी समान हैं तथा सभी मनुष्यों की जाति एक होती है।

**सर्वधर्म सम्मेलन का आयोजन** - सन् 1912 में अद्वैत आश्रम अलुवा में शिवरात्रि को यह सम्मेलन आयोजित किया गया। यह अपने आप में देश का प्रथम सम्मेलन था।

**वायकाम (Vaikom) सत्याग्रह** - मन्दिर के किनारे की सड़कों पर चलने के लिए ब्राह्मण तथा नायर जाति को छोड़कर अन्य हिन्दू जातियों को अनुमति नहीं थी। श्रीनारायण गुरु के स्वभाव, व्यवहार तथा उनकी भक्ति का ऐसा प्रभाव समाज के ऊपर पड़ा कि तथाकथित उच्च तथा सवर्ण जाति के हजारों लोगों ने 100 मील तक पैदल चलकर त्रिवेन्द्रम के महाराजा को जापन दिया कि मन्दिर के किनारे की सड़कें सभी के लिये सम्मानजनक ढंग से चलने के लिये खोल दी जाएं। प्रसन्नता की बात यह है कि इस आन्दोलन का नेतृत्व करने के लिये के. पी. केजवन मेतन तथा मन्नन पद्मनाभन् जैसे नेता अपने साथ हजारों ब्राह्मणों तथा अन्य सवर्णों को लेकर आगे आ गए। सन् 1925 में यह सभी माँगें मान ली गई। महात्मा गान्धीजी और श्री विनोबा जी ने भी इस आन्दोलन का प्रत्यक्ष समर्थन किया।

**सामाजिक सुधार का आह्वान** - सभी को पढ़ना चाहिए तथा सभी के लिये शिक्षा की सुविधा हो। लड़कियाँ भी पढ़ने में आगे आयेँ इसकी व्यवस्था उन्होंने की। प्रौढ़ शिक्षा तथा स्थान-स्थान पर पुस्तकालय खुले इसका आग्रह किया। महंगे कर्मकाण्डों में सुधार, अस्पृश्य तथा अवर्ण लोगों के घर में भी विवाह आदि के अवसर पर मन्त्र के साथ पूजा अर्चना की व्यवस्था की। लड़की वयस्क होने पर होने वाली भोज-प्रथा को बन्द करवाया। शराब जहर है कहकर हजारों लोगों की शराब छुड़वा दी। जातिगत भेदभाव तथा सभी कुरीतियाँ हिन्दू समाज से दूर हो, यही श्रीनारायण गुरु का प्रयास था। लोगों में धार्मिक सदगुण उत्पन्न हो तथा वेद, पुराण तथा उपनिषद् के आदर्श स्थापित हों। इसी उद्देश्य को लेकर वे जीवन भर प्रयत्नशील रहे। उपर्युक्त कार्यों के लिए 'श्रीनारायण धर्म संगम' का निर्माण हुआ, इसमें सभी जातियों के अनुयायी संन्यासी थे। ये संन्यासी अनेक प्रकार के सामाजिक कार्य भी चलाते थे।

आश्रमों की बात है कि जिस केरल को विवेकानन्द ने पागलखाना (Lunatic asylum) कहा था वहाँ बिना किसी वैमनस्य के, किसी प्रकार का झगड़ा किये बिना, एक बूढ़ भी रक्त गिरे बिना, सामाजिक सम्पत्ति एवं सामाजिक सम्मान का वातावरण बन गया। अद्वैत दर्शन के आधार पर श्रीनारायण गुरु ने यह महत्वपूर्ण कार्य संपन्न किया। सन् 1885 में सरकारी नौकरी में इनकी जानि का एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं था, जिसे 5 रु. भी वेतन मिलता हो। किसी भी गृहवा विद्यार्थी को विद्यालय में प्रवेश नहीं था किन्तु आज गारे केरल का दृश्य बदला है उसमें श्रीनारायण गुरु का महत्वपूर्ण योगदान है।

भारतालय से तीर्थालय तक की यात्रा- स्वामी विवेकानन्द ने सन् 1892 में अपनी केरल यात्रा के समय वहाँ की सामाजिक दुःस्थिति को देखकर उसे एक पागलखाने (भ्रान्तालय) की उपमा दी थी। समय बीता और श्रीनारायण गुरु तथा उनके हजारों अनुयायियों के प्रयासों से केरल के सामाजिक वातावरण में आश्चर्यजनक परिवर्तन आ गया। सन् 1936 में ब्रावणकोर के राजा ने वहाँ के मन्दिरों को सभी हिन्दुओं के लिए खोल दिया। जनवरी, 1937 में महात्मा गान्धी जी जब ब्रावणकोर गए, तब वे अपने सभी जानियों के साथियों को लेकर रामधुन गाते हुए मन्दिरों में गए। अब परिस्थितियाँ बदल चुकी थी। गान्धी जी ने वहाँ की सामाजिक समस्या एवं आपसी सदभाव को देखकर कहा यह केरल तो 'तीर्थालय' बन गया है। स्वामी विवेकानन्द जी के समय का 'पागलखाना' (भ्रान्तालय), महात्मा गान्धी जी के समय में केवल 45 वर्षों में 'तीर्थालय' कैसे बन गया? 'भ्रान्तालय' से तीर्थालय तक की यह यात्रा श्रीनारायण गुरु जैसे आध्यात्मिक मनीषियों की कठोर तपश्चर्या का परिणाम ही थी। यह यात्रा आध्यात्म प्रेरित थी, वहाँ प्रेम-ममता और भक्ति की त्रिवेणी प्रवाहित हो रही थी। अब वहाँ ईर्ष्या, द्वेष तथा हिंसा जैसे विचारों को कोई स्थान नहीं था।

### \* श्रीचट्टाग्वि स्वामीगल (ई.सन्. 19वीं-20वीं शताब्दी)

वर्तमान समय में केरल के वातावरण को सुन्दर स्वरूप देने के लिए जीवन-भर प्रयत्न करने वाले श्रीनारायण गुरु के अभिन्न सहयोगी थे श्रीचट्टाग्वि स्वामीगल। उनका जन्म तो वैभव-संपन्न परिवार में हुआ था किन्तु दीन-दुखियों की स्थिति को देखकर वे उनके लिए संघर्षरत हो गए। श्रीनारायण गुरु तथा श्रीचट्टाग्वि स्वामी एक दूसरे का अनन्य सम्मान करने थे तथा आचार्य कहकर ही संबोधित करते थे।

श्रीचट्टाग्वि स्वामी का वचन का नाम कुंजन पिल्लई था तथा विद्यार्थी

जीवन में वे कक्षा के मानीटर (कक्षा प्रमुख) रहा करने थे। दक्षिण केरल में मलयालम भाषा में चट्टाग्वि का अर्थ भी मानीटर ही होता है। हिन्दू समाज के आपसी भेदभावों का लाभ उठाकर ईसाई लोग भोले-भाले लोगों को ईसाई बनाने हैं यह देखकर उनका हृदय दुःख में भर गया। उन्होंने इस समस्या का समाधान खोजने के लिए केरल का व्यापक प्रवास किया तथा आवश्यक माहित्य रचना की। उनकी रचनाओं में ख्रिस्तमतत्वेदनम् तथा प्राचीन मलयालम प्रसिद्ध है।

जिस प्रकार ईसाई चर्चुनियों का सामना करने के लिए उन्होंने गिरमनन श्रेष्ठतम् किया उसी प्रकार हिन्दू समाज की दुःस्थितियों को दूर करने के लिए भी उन्होंने व्यापक प्रयास किये। सभी जानियाँ सम्मान के साथ वेद आदि ग्रन्थों का अध्ययन करें इसके लिए उन्होंने वेदाधिकारनिरूपणम् नामक ग्रन्थ की रचना की।

वे स्वयं श्रेष्ठ-योगी तथा नाथमन के अनुयायी थे। स्वामी जी की आध्यात्मिक तथा योगिक साधना में प्रभावित होकर लाखों लोग उनके अनुयायी बन गए। कोई भी जानिभेद न मानते हुए उन्होंने सभी को सम्मान दिया, उनका जीवन स्तर उठाते हेतु प्रयत्न किए एवं उनके हृदय में आध्यात्म की ज्योति जला दी। इस प्रकार बड़ी संख्या में लोगों को ईसाइयों के चंगुल में जाने से रोक लिया।

स्वामी विवेकानन्द जी ने केरल के प्रवास के दौरान श्रीचट्टाग्वि स्वामी जी से भेंट की तथा उनसे 'चिन्मंत्र' का ज्ञान प्राप्त किया। बाद में स्वयं विवेकानन्द जी ने इसको विरूपित भी किया। इन दोनों महात्माओं ने अपनी वार्ता संस्कृत में की तथा योगिक और नात्रिक शास्त्रों पर व्यापक चर्चा की। श्रीनारायण गुरु ने श्रीचट्टाग्वि स्वामी की मृत्यु पर अत्यन्त भावुक होकर कहा- 'वे मेरे गुरु थे'।

### \* महात्मा अय्यन्काल (ई.सन्. 19 वीं शताब्दी)

केरल की धरती पर ईसाई तथा मुसलमानों का आगमन बहुत पहले से ही हो गया था। हिन्दू समाज की आपस की भेदभाव पूर्ण स्थिति के कारण हिन्दू समाज का एक बड़ा वर्ग उपेक्षित था। परिणाम-स्वरूप मुस्लिम तथा ईसाई लोग उनको आकर्षित करके विधर्मी बनाने के सभी प्रयास कर रहे थे। ऐसे संकट के समय में महात्मा अय्यन्काल का जन्म केरल में हुआ।

महात्मा अय्यन्काल पुलथा (हरिजन) परिवार में जन्म थे। उन्होंने पेरिया तथा पृत्या आदि अमृत्य कदी जाने वाली जानियों की ब्रामदी को ममला और उनकी उन्नति के कार्य में वे लग गए। उन्होंने कहा कि गैर हिन्दू लोगों के इस आक्रमक स्वरूप का मैं विरोध करूँगा। हिन्दू समाज की समस्या हमारे घर की

ममस्या है और इसके विरुद्ध हम संघर्ष करेंगे किन्तु अपने परिवार की ममस्या में दुःखी होकर किसी भी प्रकार में मुमलमान या ईसाई नहीं बनेंगे। अस्पृश्यता निवारण तथा अपने ही समाज वस्तुओं के सामाजिक उत्थान की दृष्टि में उन्होंने अनेक-विध सफल प्रयास किए तथा लाखों लोगों को हम पड़यन्त्र में बचाया।

### \* महाकवि करुण (ई.सन्. 19वीं शताब्दी)

केरल के मसुद्रनट पर मधुआरों की अच्छी जनसंख्या है। ये लोग अद्भुत परिश्रमी तथा साहसी हैं किन्तु सामाजिक संगठना में इन लोगों को सम्मान का स्थान प्राप्त नहीं था। महाकवि करुण ने इन सभी लोगों के मध्य जातिगत भेदभाव को दूर करने तथा स्वाभिमान जगाने का कार्य किया। महाकवि करुण संस्कृत के विद्वान थे तथा धार्मिक भाव बनाए रखकर समाज की भेदभाव-जनक कुरीनियों एवं दुर्गडियों को दूर करने में वे लगे रहे। जाति के अन्तर्चार पर करार प्रहार करने हुए, करुण कहते हैं कि यह कैसी विषमता है कि एक मधुआर काशी विश्वनाथ के दर्शन करके, गंगा स्नान करके भी आता है तो भी हम उसे अपने निकट नहीं बैठाने। किन्तु जब वह बगल के चर्च में जाकर ईसाई हो जाता है और नव हमारे पास आता है तब वह ब्राह्मण के बगल में बैठ जाता है। उनकी भावपूर्ण कविताओं ने जानिगत विद्वेष की दीवारों को गिराने में भारी प्रयास किया। उनके प्रसिद्ध माहित्य में जाति कुम्भ एवं उद्यान विरुद्ध प्रमुख हैं। इस प्रकार उन्होंने अपने महभ्रमी लोगों को ईसाइयत से बचाए रखने में भारी योगदान किया।

॥ ३३८ ॥

## भक्ति का पुण्यप्रवाह और इस्लाम

भारतीय विचारधारा की सांस्कृतिक परंपरा निरंतर विकासोन्मुख रही है। इस परंपरा की अन्तर्निहित अद्भुत शक्ति के परिणामस्वरूप अनेकानेक दिवने वाली भावधाराएं इसमें समाहित होती चली गईं किन्तु इसका अपना विशिष्ट मौन्दर्य कभी भी प्रभावित नहीं हुआ वरन् वह और अधिक मुरझित और प्रकाशवन्त हो उठा। इसी महान परंपरा का एक अध्याय इस्लाम भी है जो दीर्घकाल तक इस संस्कृति को समाप्त करने के लिए जी जान से जुटा रहा किन्तु धीरे-धीरे ऐसा लगने लगा कि इस्लाम भी इस महान मुरझिना में समाहित हो जाएगा।

भक्त एवं सन्त का जीवन तो निर्मल होता है, वह सभी को प्रभावित करता है। सन्तों के चिन्तन, आदर्श व्यवहार, सेवाभाव, त्यागमय जीवन तथा भगवद्भक्ति ने एक ओर हिन्दुओं में कोई भेदभाव नहीं माना वहीं इस्लाम को मानने वाले भी इसके आकर्षण में खिंचे चले आये। इन सन्तों के सत्संग, भजन, कीर्तन, प्रवचन आदि कार्यक्रमों में ऐसी रमधारा बहती थी कि जो इसके निकट आया वही उस में सराबोर हो जाता था। भक्ति कोई भेदभाव स्वीकार नहीं करती। इस कारण देश में इस्लाम के मानने वाले लाखों लोग इन सत्संगों में आकर भगवद्भक्ति के सागर में आनन्दित होने लगे। इन्हीं भगवद्भक्त मुमलमानों में से कुछ सुन्दर रचनाएं करने लगे और हिन्दू सन्तों की तरह रहने लगे। जहाँ एक ओर इस्लाम को मानने वालों को हिन्दू मन्दिरों में प्रवेश भी नहीं था वहीं दूसरी ओर वे स्वयं अपने अनुयायियों के साथ ईश्वर की भक्ति में डूबे हुए थे। मगुण अथवा निर्गुण भक्ति में आकण्ठ डूबे इन मुस्लिम भक्तों एवं सन्तों की संख्या सैकड़ों में है। संत कबीर, संत रज्जव, संत गेहल, संत शालवेग आदि की चर्चा तो हम पहले ही कर चुके हैं अब कुछ ऐसे मुस्लिम एवं सन्तों की चर्चा करेंगे जो भक्त भी हैं और कवि भी हैं तथा इस्लाम के मतानुयायियों के अन्दर भक्ति की धारा प्रवाहित करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

### \* कृष्णभक्त रमखान- (ई.सन्. 16 वीं शताब्दी) बृजक्षेत्र

कृष्णभक्त रमखान के जन्म के संबंध में कुछ भी कह पाना कठिन जान पड़ता है। फिर भी ऐसा माना जाता है कि उनका जन्म वि.संवत् 1590 से 1615 अर्थात् ई. सन् 1533 से लेकर 1558 के मध्य कभी हुआ होगा। कुछ लोगों का

मानना है कि ये नियियाँ भी ठीक नहीं। एक अनुमान ऐसा है कि वे लगभग 45 वर्ष तक जिये होंगे।

वृक्षेत्र में कृष्ण की भक्ति के पर्याय वन गए, भक्त-शिरोमणि रसवान दिल्ली के समृद्ध पठान (मुस्लिम) परिवार के थे किन्तु कृष्णभक्ति में ही उन्होंने अपना मार्ग जीवन लगा दिया। गोवर्धन में श्रीनाथजी के मन्दिर में दर्शन के लिये गये तो द्वारपाल ने मुसलमान जानकर मन्दिर में प्रवेश नहीं करने दिया। भक्त रसवान तीन दिन तक बिना कुछ खाये-पिये दरवाजे पर ही पड़े रहे और कृष्णभक्ति के पद गाते रहे। बाद में लोगों को समझ में आया कि यह तो कृष्ण का अनन्य भक्त है। फिर तो सभी जगह उन्हें सम्मान मिला और उन्होंने अपना मार्ग जीवन कृष्ण की भक्ति में ही व्यतीत कर दिया। कहते हैं कि उन्होंने नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण के साक्षात् दर्शन किये। इसके पश्चात् गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने इन्हें गोविन्द कुण्ड में स्नान कराकर दीक्षा दी। उन्होंने भगवान् के सामने यही कामना व्यक्त की कि मेरा अगला जन्म वृजभूमि में ही हो जहाँ भगवान् कृष्ण ने अपने बालजीवन की विविध लीलाएं सम्पन्न की हैं-

“मानुस हों तो वही ‘रसखान’, बसों वृज गोकुल गाँव के ग्वारन।

जो पसु हों तो कहा बस मेरौ, चरौ नित नन्द की धेनु मझारन।

पाहन हों तो वही गिरि को, जो धरयो कर छत्र पुरंदर धारन॥

जो खग हों तो बसेरौ करों, नित कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन॥”

(हमारे मुस्लिम सन्त कवि, पृ०16,)

आगे भक्त रसवान कहते हैं कि कृष्ण की भक्ति में ही शरीर के सभी अंग सुफल हैं-

“बैन वही उनको गुन गाइ, और कान वही उन बैन सो सानी।

हाथ वही उन गाल सरै, अरु पाइ वही-जु-वही अनुजानी।

जान वही उन प्रान के संग, औ मान वही जु करै मनमानी।

त्यौं रसखानि वही रसखानि, जु है रसखानि, सो है रसखानि॥”

(वही, पृ०16-17)

भक्त-श्रेष्ठ रसवान का मन कृष्णभक्ति में कुछ ऐसा रम गया कि वृज के वन, नदी, गाँव, ग्राम सभी कुछ कृष्ण रूप में ही दिखने लगे। इन सभी से अपना जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध जोड़ते हुए वे भाव विभोर होकर गा उठे-

“या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहूँ पुर कौ तजि डारौ।

आठहु सिद्धि नवौं निधि कौ मुख, नन्द की गाय चराय बिसारौ॥  
इन नयनिहं सों रसखान मदा, ब्रज के बन-बाग-तड़ाग निहारौ।  
कोटिक हों कलि धौत के धाम, करील की कुंजत ऊपर बारौ॥”

(वही, पृ०15,)

अर्थात्, भगवान् कृष्ण की इस लोठी और कदम्ब के ऊपर मैं तीनों लोकों का राज्य छोड़ दूँगा। यदि नन्दवावा की गाय चराने को मिलजाती है तो उसके गामने आठों सिद्धियों तथा नौ निधियों के मुख को भी भूल जाऊँगा। रसखान की एक ही इच्छा है कि इन नेत्रों से वृज-क्षेत्र के वन, बाग तथा वृक्षादि देखता रहूँ। शरीरों राजमहलों की सुन्दरता भी इन करील के जंगलों के ऊपर न्यौछावर है।

कृष्णभक्त रसवान की अपने आराध्य कृष्ण के बाल स्वरूप के साथ कैसी निर्मल भक्ति है, रसखान कहते हैं कि प्रभु की लीला तो देखिए कि-

“सेस, महैस, गनेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।

जाहि अनादि, अनन्त, अखण्ड, अछेद, अभेद, सुबेद बतावैं।

नारद से सुक व्यास रटैं, पचि हारै तऊ पुनि पार न पावैं।

ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं॥”

(वही, पृ०18)

अर्थात्, ‘उस परमेश्वर के गुणों का गुणगान स्वयं शेष, महेश, गणेश, दिनेश आदि देवता लोग निरंतर करते हैं और उसको अनादि, अनन्त, अखण्ड, अछेद और अभेद वतलाते हैं। नारद, शुक, व्यास जैसे ज्ञानी लोग जिसे रात-दिन रट रहे हैं किन्तु उसका पार नहीं पा रहे हैं उस अविनाशी, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को वृज के अहीरों की लड़कियाँ जरा से छाछ (मट्ठा) के लिए नाच नचा रही हैं।’

ऐसी मान्यता है कि अन्तिम समय में भी रसखान को श्री कृष्ण का दर्शन हुआ था। भगवान् के सम्मुख ही उनके प्राण चले गए। मथुरा (महाबन) में यमुनानट पर रमणरेनी में निर्मित इस महान कृष्णभक्त की समाधि आज भी वार्षिक कृष्ण भक्तों के लिए श्रद्धा का केन्द्र बनी हुई है।

\* बाबा फरीद- (वि.सं.1257-1337; ई.सन्. 1200-1280)

बाबा फरीद पंजाब क्षेत्र में कोटिवाल नामक ग्राम के रहने वाले थे। फरीद बाबा भक्ति में ऐसे तल्लीन हैं कि कहते हैं, ‘कौआ नू मेरा सारा शरीर चुन-चुन कर खा लेना किन्तु मेरी दो आँखें मन खाना क्यों कि मुझे ईश्वर के दर्शन करने हैं-

“कागा सब तन खाइयो, मेरा चुन-चुन खइयो मांस।  
दो नैना मत खाइयो, मोहि पिपा मिलन की आस॥”

(वही, पृ. 43)

\* संत लालदास और लालपंथ-(वि.सं. 1595-1705; ई.सन् 1538-1648) राजस्थान राजस्थान के अलवर नामक स्थान पर संत लालदास का जन्म एक मूलिग परिवार में हुआ था। माता-पिता मेंव जाति के थे तथा परिवार परम्परा में अपराध मूलक लूटपाट का ही कार्य हुआ करता था। इन्होंने लकड़हारे के रूप में अपना जीवन यापन प्रारम्भ कर दिया। माधू-संतों की संगति के कारण आपका जीवन परिवर्तित हो गया तथा लकड़हारा में वे संत लालदास हो गए।

अन्य संतों की भाँति ही संत लालदास का मन निर्मल और आचरण पवित्र हो गया। उनमें दया परोपकार के भाव भरने लगे। ऊँच-नीच, हिन्दू-मुसलमान का भेद व्यर्थ है, यह वे सभी को समझाने लगे। अपनी जीविका के लिए वे लकड़हारे का कार्य ही करते थे। निराकार, सर्वव्यापी परमात्मा की भक्ति का संदेश तथा सभी के साथ समानता का व्यवहार उनके जीवन में बैठ गया। मांस खाना बंद कर दिया तथा इस्लाम मत के नियमों का पालन भी उन्होंने छोड़ दिया। गाँव-गाँव जाकर वे उपदेश देते थे तथा धीरे-धीरे इनके अनुयायियों का लालपंथ चल पड़ा।

संत का जीवन कैसा होना चाहिए, इसका उपदेश इन्होंने अपनी रचनाओं में किया है। संत लालदास कहते हैं कि- ‘भक्त को अपनी जीविका के लिए घर-घर भिक्षा माँगनी पड़े यह बहुत ही दुःख तथा लज्जा की बात है। उसको वादशाह से भी भिक्षा नहीं माँगनी चाहिए तथा माधु को अपने परिश्रम से जीविकोपार्जन करना चाहिए तथा हृदय में ईश्वर का ही चाकर समझना चाहिए-’

“लाल जो भगत भीख न माँगिए, माँगत आवे शरम।

घर घर टांडत दुःख है, क्या बादशाह क्या हरम॥

लाल जी माधु ऐसा चाहिए, धन कमाके खाय।

हिरदै हरि की चाकरी पर घर कर्म न जाय॥”

(संत और-सूफी साहित्य, पृ. 155)

संत कबीर तथा भक्त रैदास की तरह संत लालदास जी भी एक निराकार, सर्वव्यापक, सत्यस्वरूप हरि या राम की अनन्य भावभक्ति पर तथा सत्य-आचरण पर ही जोर देते हैं। संत लालदास जी ने सभी प्रकार के सामाजिक भेदभावों का विरोध किया तथा मनुष्य की जाति एक है यही प्रतिपादित किया। भरतपुर क्षेत्र के

राजस्थान ग्राम में आपकी समाधिस्थली है जिसे लालदासी लोग पवित्र मानते हैं।

कृष्णभक्तितन ताज बीबी (ताज वेगम)- (वि.सं. 1700 के लगभग)

हिंदू भक्त एवं संतों का प्रभाव दाग शिकोह तथा खुमरो जैसे मुगल शासकों पर तो पड़ ही रहा था परन्तु मुगलकालीन शाहजादियों में औरंगजेब की भाँति जैवन्निमा वेगम तथा भनीजी ताज वेगम भी इस धारा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकीं तथा दोनों सफल कवयित्री बन गईं।

श्रीकृष्ण की भक्ति है ताज। जंगल-जंगल भटक कर श्रीकृष्ण की भक्ति के लाल गाने हैं। हृदय में वह श्रीकृष्णभक्त है और ठाकुर जी की कृपा से कवयित्री भी बन गई। उसका नित्य नियम है कि पहले भगवान् को प्रसाद चढ़ाना तभी अन्न-जल ग्रहण करना। ताज को भी प्रारम्भ में मन्दिर में प्रवेश नहीं मिला किन्तु बाद में ठाकुर और मैकड़ों मुसलमान भी ताज के भक्त हो गये। स्थिति ऐसी हो गयी कि मन्दिर में ठाकुर जी का प्रसाद चढ़ाने के लिए पहले ताज जाती थी तब अन्य भगवजन दर्शन करने जाते थे। ताज बीबी कहती है -

“छेल जो छबीला, सब रंग में रंगीला,

बड़ा चित्त का अड़ीला, कहूँ देवतों से न्यारा है।

माल गले सौहैं, नाक-मोती सेत जो है कान,

कुण्डल मन मोहैं, लाल मुकुट सिर धारा है।

दुष्टजन मारे, सब सन्त जो उबारे ‘ताज’,

चित्त में निहारे प्रन, प्रीति करन वारा है।

नन्दजू का प्यारा, जिन कंस को पछारा,

वह वृन्दावन वारा, कृष्ण साहेब हमारा है॥”

.....

“मुनो दिल जानी, मेरे दिल की कहानी तुम,

दस्त ही बिकानी, बदनामी भी सँहगी मैं॥

देवपूजा ठानी मैं, निवाजहूँ भुलानी,

तजे कलमा-कुरान साड़े, गुननि गहँगी मैं॥

साँवला सलोना सिरताज, सिर कुल्ले दिये,

तेरे नेह दाग में, निदाघ ही दहँगी मैं॥

नन्द के कुमार, कुरबान तेरी सूरत वै,

हूँ तो मुगलानी, हिन्दूआनी ही रहँगी मैं॥”

(हमारे मुस्लिम संत कवि, पृ. 95)

श्रीकृष्णप्रेम में विह्वल ताज मुगल परिवार की होकर भी हिन्दुवानी बने रहने का मंत्रक्य ताजवीवी लेनी है। वह कृष्णभक्ति में ही आनन्दित है, परममुग्धी है। ताज वेगम ने पुष्टिमार्गीय गोस्वामी विट्ठलनाथ जी में वैष्णव-मन की दीक्षा ली। इनकी कृष्णोपासना में गन्धर्वाभाव की प्रमुखता है। कृष्णभक्ति में आकण्ठ डूबी ताज ने गणेश, भवानी, सरस्वती, महादेव आदि हिन्दू देवी-देवताओं का भी सादर वन्दन किया है।

\* भक्त कारे वेग- (वि.सं. 1700 के आसपास) झाँसी, उत्तर प्रदेश

भक्त कारे वेग रंगरेज मुमलमान हैं किन्तु श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त और साधक हैं। कारेवेग की भक्ति भी अद्भुत है। पुत्र मर गया तो कारे ने कहा प्रभो ऐसा तो हो ही नहीं सकता। पुत्र को मन्दिर में लेटा दिया भक्ति-भाव से 108 कवित्त गाते रहे, कहते हैं कि पुत्र जी उठा। कारे भक्ति-भाव में कहते हैं-

“एहों रन धीर बलभद्र जी के वीर अब।

हरों मेरी पीर क्या, हमारी बेर-बार की।”

.....

“तेरी जो जिकर में, फिर मन मेरा हुआ।  
दे-दे दुआ तो सौ, तो अरज बार-बार की॥  
कीजिये मिहिर मोयै, हूजिये मिहरबान।  
सुनिये सुजान गुसा छोड़ बार बार की॥  
तू साहब है मेरा, मैं आद नफर तेरा।  
तै खबरदार मेरा, तै खबर बार-बार की॥  
औरन की बेर को, न बेर करनी ‘कारे’ कहें।  
नन्द के कुमार क्या, हमारी बेर बार की॥”

.....

“मुस्फिक सफीक बदल, दोस्त तु रफीक मेरा।  
तुही नजदीकी है, हकी की खयाल क्जिये॥  
बन्दे की अरज दस्त, बस्ताए गरज अटकी।  
मेरी और देख जरा, अब तो दरस दीजिये।  
‘कारे’ का करार पड़ा, तेरे दरम्यान हार।  
अब चाहूँ दीदार, वे मुरव्वत न हूजिये।  
हिन्दुन के नाथ तो, हमारा कुछ दावा नहीं।  
जगत के नाथ तो, हमारी सुध लीजिये॥”

(वही, पृ० 99)

\* संत कमाल साहब-(ई.सन्-15वीं शताब्दी) काशी, उत्तर प्रदेश

संत कबीरदास के पुत्र हैं कमाल साहब। जन्म तथा पालन पोषण मुस्लिम आतावरण में ही हुआ था। अड़स-पड़स, मंगे-सम्बन्धी सभी मुमलमान ही थे किन्तु घर के माहौल में कबीरदास जी के कारण सत्य, पवित्रता और भक्ति की निर्मल छाया भी तो थी। कमाल साहब के मन में वचन से ही प्रभुभक्ति कुछ ऐसी रम गई कि कमाल श्रेष्ठ स्तर के सन्त हो गए। राम के प्रति उनका भक्तिभाव गहरा है-

“राम नाम भज निस दिन बंद, और मरम पाखण्ड।

बाहिर के पट दे मेरे प्यारे, पिंड देख ब्रह्मण्ड॥”

.....

“अजर-अमर अविनाशी साहिब, नर देही क्यों आया।

इतनी समझ-बूझ नहीं मूरख, आय-जाय सो माया॥”

(वही, पृ० 80)

\* कृष्णभक्त शाही अली कादर, महाराष्ट्र-

शाही अली कादर मराठवाड़ा क्षेत्र के थे तथा ऊर्दू-अरबी मिश्रित आपके भक्ति-काव्य सन्तों की तरह ही प्रचलित हो गए। मुरली का नाद सुनकर गोकुल की गोपियाँ मुध-बुध भूल गई हैं। भक्त शाही अली ने गोपियों के हृदय का वर्णन कितना अच्छा किया है -

“चल जमुना के तीर, बाजत मुरली री मुरली री ॥ धू. ॥

मुरली सुन कन्हा की नीकी, नगर नारी सगरी चौकी।

सुध न रही वाके तन की, मगन भई नारी गोकुल की।

अब तुम सुनो री, सुनो री ॥

सगरी चली जल जमुना कू, सिर पर घगरी ले पपिया कू।

हंसती चली छोड़ लड़कन कू, टेर सुन मुरली की मनकू॥

व्याकुल भई री, भई री।

कृष्ण अवतार विष्णु जी के, नित वो सेवा संभु जी के।

छंद बजावत मुरली के, चरवैया गो और बछरन के ॥

वृन्दावनमों री, वनमों री ॥

जय शंकर की किरपा भई, तद कान्हा मुरली बजाई।

‘शाह अली’ कहते, अब गई, भ्रान्त मनकी री, मनकी री॥”

(वही, पृ० 73)

## \* मत वाजिन्द जी

मन वाजिन्द जानि मे पठान तथा मुसलमान थे। राजस्थान के प्रसिद्ध निर्माण मन दादूदयाल के शिष्य वाजिन्द प्रभु माधना में लीन हो गए। वे जानि-पानि आदि के भेदभाव से बृहन् ऊपर थे। वाजिन्द जी ने 14 ग्रन्थों की रचना की। प्रभु राम की भक्ति में वाजिन्द कहते हैं-

“एक राम को नाम लीजिये नित्य रे।

और बात वाजिन्द चढ़े नहिं चित्त रे ॥

अविनासी की ओट रहत हैं रैन दिन।

बिना प्रभु के पाय भजै नहीं एक छिन ॥”

(वही, पृ० 66)

\* दाराशिकोह- (ई.सन्.सत्रहवीं शताब्दी)- काशी, उत्तर प्रदेश औरगजेव का एक भाई दारा शिकोह भी था। उपनिषदों का फारसी में अनुवाद करने के लिए दारा शिकोह लम्बे समय तक काशी और प्रयाग में रहा। ब्राह्मणों की मित्रता करने के बाद चन्द्रभान नाम का काशी का एक ब्राह्मण उन्हें संस्कृत पढ़ाने को तैयार हुआ। दारा ने हिन्दू धर्म का व्यापक अध्ययन किया और वह उससे बहुत प्रभावित हो गया। उसके हिन्दू विचारों से नागज होकर औरगजेव ने उसकी हत्या करवा दी।

\* विरक्त अब्दुरहीम खानखाना - (वि.सं.1613-1684; ई.सन्.1556-1627)

इस्लाम के प्रति निष्ठावान बैरम खाँ, लम्बे समय तक अकबर का मन्त्रक बना रहा था। उसी के पुत्र थे विरक्त, रहीम। रहीम कुशल सेनापति थे किन्तु साथ ही राम और कृष्ण की भक्ति में सुन्दर पद और दोहे भी लिखते थे। वे अकबर के नवरत्नों में एक थे। आगे चलकर जहाँगीर ने उनको बृहन् कष्ट दिया। विस्थापित होकर वे जीवन के अन्तिम क्षण बिताने चित्रकूट आ गये। लोगों ने रहीम को पूछा कि आप चित्रकूट में क्यों आए? दुखी होकर रहीम लिखते हैं कि जिस पर विपत्ति पड़ती है वही तो चित्रकूट आता है। प्रभु श्रीराम जी को जब वनवाम मिला था तब वे भी तो चित्रकूट ही आए थे-

“चित्रकूट में रमि रहे, रहिमन अवध नरेश।

जा पर विपदा पड़त है, सो आवत यह देश ॥”

(वही, पृ० 26)

“समय दिशा कुल देखि कै, सबै करत अपमान।

रहिमन दीन अनाथ को, तुम बिन को भगवान ॥”

(वही, पृ० 27)

विरक्त भक्त रहीम, राम और कृष्ण दोनों के भक्त हो गए। कृष्ण के प्रसंगों का भावपूर्ण स्मरण करने हुए वे गा उठे -

कमलदल नैनन की उनमानि।

बिसरत नाहिं मखी, मो मनतें मन्द-मन्द मुसुकानि ॥

यह दसर्गनि दुति चपलादूतें, महाचपल चमकानि।

बसुधाकी बस करी मधुरत, सुधा - पगी बतरानि ॥

चढ़ी रहै चित उर बिसाल की, मुकुत माल थहरानि।

नृत्य समय पीताम्बरहू की फहरि - फहरि फहरानि ॥

अनुदिन श्रीबूदावन बजतें, आवन आवन जानि ॥

अब 'रहीम' चिततें न टरति है, सकल स्याम की बानि ॥

(भजन संग्रह, पृ० 240)

अर्थात्, हे सवि कृष्ण के कमल सदृश्य नेत्र मेरे मन में बस गए हैं। उनकी मंद-मंद हँसी, हँसी में दिखने वाले सुंदर दाँत, गले की मोतियों की माला, नृत्य करने समय फहरता हुआ उनका सुंदर पीताम्बर आदि कुछ भी तो भूलता नहीं। रहीम कहते हैं कि कृष्ण की वाणी अब चित्त में बस गई है। भुलाने से भी भूला नहीं जाना।

भव सन्नाप में व्यथित रहीम जीव के उद्धार का उपाय भगवान् की शरण को ही बतलाते हैं-

“गहि सरनागति राम की, भवसागर की नाव।

रहिमन जगत उधार कर और न कछ्छ उपाय ॥”

(कल्याण मंत अङ्क, पृ० 531)

रहीम का कृष्ण-भक्ति भाव देखिये, किम प्रकार वे अपनी तुलना चकोर पक्षी में करने हैं-

“तैं रहीम मन आपुनो, कीन्हों चारु चकोर।

निमि वासर लाग्यो रहै, कृष्णचन्द्र की ओर ॥”

(रहीम दोहावली, पृ० 17)

अर्थात्, रहीम कहते हैं कि जिस भक्त ने अपना हृदय चकोर पक्षी की भाँति बना लिया है, वह रात-दिन कृष्ण रूपी चन्द्रमा की ओर ही देखता रहता है। एक अन्य प्रसङ्ग पर रहीम कहते हैं कि यदि मेरे वंश में हो तो मैं गंगा न बनकर शिव

के मन्त्रक पर विराजमान चन्द्रमा ही वनूंगा-

“अच्युत-चरण-तरंगिणी, शिव-मिर-मालति-माल।

हरि न बनायो मुरमरी, कीजो इंदव-भाल।”

(वही, पृ० 17)

उपर्युक्त पंक्तियों में भक्त रहीम कहते हैं कि हे भगवान्, मुझको, विष्णु के चरणों से तरंगित, शिव के मिर पर मालती-लता के समान गंगा न बनाओ। मुझे तो शंकर के मिर पर शोभायमान होने वाला चन्द्रमा ही बनाओ। क्योंकि गंगा तो स्वर्ग से निकलकर विष्णु तथा शिव से निरन्तर दूर होनी चलती है। अतः मैं नो मदा शिव के साथ रहने वाला चन्द्रमा ही बनना चाहता हूँ।

भारतीय जीवन-दर्शन के कथानक रहीम के हृदय में रचे-बसे हैं। किमी ने रहीम से पूछा कि यह हाथी अपने मिर पर धूल क्यों डालता है, तो रहीम कहते हैं कि ‘यह उस रजकण को ढूँढ़ रहा है जिस मिट्टी से मुनि पत्नी अहिल्या तर गई थी’-

“धूर धरत निज सीस पर, कहु रहीम केहि काज।

जेहि रज मुनिपत्नी तरी, सो ढूँढ़त गजराज।”

(वही, पृ० 68)

■ भक्त लतीफ शाह - (ई.सन्. सोलहवीं शताब्दी) महाराष्ट्र

भक्त लतीफ शाह महाराष्ट्र के थे तथा इन्हें संत एकनाथ जी का अनुग्रह उनको प्राप्त था। लतीफ शाह प्रभु रामचन्द्र का बड़े प्रेम से भजन करते थे तथा कृष्ण की भक्ति में भी वे सगर्व रहते थे। महाराष्ट्र की संत मालिका में लतीफ शाह का उल्लेख है। महाकवि मोगेपंत ने सन्मणि माला में उनकी मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है। मोगेपंत ने उन्हें ‘साधु सभाप्राण-वल्लभा’ कहा है। ध्रुविया के समर्थ वाग्देवता मंदिर में उनके तीन पद तथा हिन्दी में एक मराठी पद लिखित है। उनकी दृष्टि में राम, कृष्ण, विट्ठल सभी एक हैं। लतीफ शाह भक्ति-भाव से पद गाते हैं -

“राम नाम नौबत बजाई।

पहली नौबत नारद तूँवर। दूसरी नामा- कबीर सुनाई।

तिसरी नौबत सुदामा की। प्रह्लाद की जिन्ने राखी बढ़ाई।

चौथी नौबत जलन जसवंत की। धन्ना जाट और मीराबाई।

कहत लतीफ सुन मेरे भाई। उनके ये कुछ तनक बजाई।”

“राम नाम तिन कु। हमारी राम-राम तिन कु।

जो सर प्राणी हरि के उपासक। आप तरे तारे औरन कु॥  
आज्ञा मनमा पंचही प्राण। छरोड चले उन कु॥  
कहे लतीफ मैं पूजूं उन कु। जो सुमिरत मुलीधर कु॥”

(हमारे मुस्लिम मन्त्र कवि, पृ० 62)

■ मलिक मुहम्मद जायसी (वि.सं. 1549-1599; ई.सन् 1492-1542) उ.प्र.

मलिक मुहम्मद जायसी सूफी फकीर शेख मुहीउद्दीन के शिष्य थे और जायस में रहते थे। मृत्यु के पूर्व वे अमेठी के निकट एक जंगल में आकर ब्रम गाए। अन्य हिंदू मंत्रों की तरह वे भी गुरू के महत्त्व को स्वीकार करते हैं-

“गुरू मुआ जेइ पंथ देखावा। विनु गुरू जगत को निरगुन पावा।”

महाकवि जायसी मूलतः ईश्वर को निराकार और निर्गुण मानते हैं किन्तु भगवान् को अवतारी पुरुष भी कहते हैं। सभी कुछ उस ईश्वर की सत्ता का ही अंश है तथा वही सबको चला रहा है। वह सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् भी है। इसका सुन्दर वर्णन जायसी ने अखरावट में किया है। यह विलकुल ऐसा ही है जैसे कबीर, दादू या नानक निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन कर रहे हों। जायसी लिखते हैं-

“आपुहिं आपु जौ देखे चहा। आपुनि प्रभुता आपु सो कहा॥

सबै जगत् दरपन कै लेखा। आपुहिं दरपन आपुहिं देखा॥

आपुहिं वन औ आपु पखेरू। आपुहिं सौजा आपु अहेरू॥

आपुहिं पटुप फूलि वन फूले। आपुहिं भंवर आपु रस भूले॥

आपुहिं फल आपुहिं रखवारा। आपुहिं सो रस चाखनहारा॥

आपुहिं घट-घट महं सुख चाहै। आपुहिं आपुन रूप सराहै॥

आपुहिं कागद आपु मसि, आपुहिं लेखनहार।

आपुहिं लिखनी, आखर, आपुहिं पंडित अपार॥”

(मुस्लिम भक्त-कवियों का सांस्कृतिक समन्वय, पृ. 25-26, अखरावट)

ईश्वर की सर्वव्यापकता का यही सिद्धान्त वे बार-बार व्यक्त करते हैं-

“जो ब्राह्मण्डै सोई पिण्ड, सब क्षण रहा समाई।” (वही, पृ. 33)

जायसी ने भी अन्य अनेक मुस्लिम भक्त, मन्त्र तथा कवियों की तरह ही भारतीय (हिन्दू) विश्वासों को बार-बार अभिव्यक्त किया है। मधुमालती, मृगावती, पद्मावत, माधवानल, काम कन्दला आदि ग्रन्थों में जायसी ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा अन्य तैत्तिरीय देवी-देवताओं का सम्मान के साथ स्मरण करते हैं। महाकवि जायसी मूलतः ईश्वर के निराकार निर्गुण स्वरूप को मानते

वाले थे किन्तु उन्होंने श्रीकृष्ण को अवतारी पुरुष कहा। उन्होंने श्रीकृष्ण को तीन शक्तियों, ब्रह्मा, विष्णु और महेश का मर्ममय अवतार घोषित किया है-

“प्रथम जो भू मानुस के भेसू। सिरजा ब्रह्मा विस्तु महेसू ॥”

इसके साथ-साथ जायसी वेदमन की श्रेष्ठता को भी व्यक्त करने हैं अर्थात् जो लोग वेदों के वनाण मार्ग पर नहीं चल रहे थे भटक रहे हैं-

“वेद पंथ जे नहिं चलहिं, ते भूलहिं बन मोझ।”

(वही, पृ. 34)

मुसलमान होते हुए भी जायसी ने हिन्दू कथा को ही अपने कथानकों में लिया तथा हिन्दू देवी-देवताओं, हिन्दू तीर्थ-व्रत-न्याहारों, हिन्दूओं के सामाजिक विषयों का विस्तृत वर्णन किया है। जायसी ने योग साधना का भी प्रतिपादन किया है। संन कवियों का योग साधना में विश्वास रहा है। जायसी ने भी हठयोग का वर्णन किया है। हिन्दू भक्तों की तरह जायसी ने गुरु महत्व को स्वीकार किया तथा उसकी व्यापक चर्चा की। जायसी मानते हैं कि गुरु की कृपा से ही साधक सभी विघ्न-बाधाएं पार करता हुआ ईश्वर को प्राप्त करता है।

\* संत बाबा मलेक (ई.सन् 16वीं शताब्दी)- गुजरात

बाबा मलेक मुसलमान थे तथा नर्मदा के तट पर निवास करने थे। इनके गुरु हरिदास थे तथा बाबा मलेक भी रसखान की तरह धीरगम के अनन्य भक्त थे। इनके पदों में संसार की तस्वग्ना, गुरु-प्रेम, जाति-पाँति का विरोध, सर्व-मन समानता आदि के ऊपर पर्याप्त विचार रहता है। संसार में विरक्त होने पर भी ये राम रंग में डूबे हुए थे। वे लिखते हैं-

“महापति को पावन कीन्हों, राम रंग में राचा।

‘दास मलेक’ निर्भय हुई सोया, काल न भागो डाचा ॥”

(गमानन्द सम्प्रदाय और साहित्य, पृ. 298)

अपनी उत्तमवस्था में ये गुरु के साथ चांदौद चल पड़े थे तथा गुरु हरिदास के चरणों में उन्होंने चिर समाधि ले ली।

\* भक्त बाबा दीन दरवेश (वि.सं. 1768-1889; ई.सन् 1711-1832)-गुजरात

इनका जन्म उत्तर गुजरात के खेरालु के पास डामोड़ा गाँव में हुआ था। भक्त दीन जी ने गिरनार के नाथपंथी श्री बालगिरि जी से दीक्षा ली थी। भक्त दीन दरवेश अनुभव सिद्ध तथा पटुचे हुए विद्वान थे। मुसलमान होने के बावजूद उन्होंने

भगवान् राम की महिमा का गुणगान किया है। यथा-

“राम रूपया रोकड़ी, खरच्या खूटल नाहिं।  
माहेत्र सरखा मेठिया, बसे नगर की माहिं ॥

बसे नगर के माहिं, ठुण्डिया फिरे न पाछी।  
क्या पैसे की प्रीति, प्रीति श्रीहरि की साँची ॥

कहत ‘दीन दरवेश’, त्याग वैराग्य रखैया।  
खरच्या खूटे नाहिं राम है रोक रूपैया ॥”

(गमानन्द सम्प्रदाय और साहित्य, पृ. 299)

भक्त दीन दरवेश ने ईश्वर विमुख मनुष्यों को चेतावनी देते हुए कहा कि हे भूष! न भगवान् का स्मरण क्यों नहीं करता। जगत की यह सब माया झूठी है-वेदों तथा शास्त्रों ने भी यही बात कही है--

“सुन्दर काया छीन की, मानो क्षणभंगुर।  
देखत ही उड़ जायेगा, जूँ उड़ी जात कपूर ॥  
बंदा हरि के भजन बित्त, तेरा कोई न मीत।  
तू क्यों भटके बावरे, करले नाम से प्रीत ॥”

(वही, पृ. 299-300)

अर्थात्, ‘यह सुन्दर शरीर तो तस्वर है क्षणभंग में कपूर की तरह उड़ जाएगा। हे मनुष्य हरि के भजन से ही सच्ची प्रीति लगा, इधर-उधर भटकना छोड़ दे। संत दीन दरवेश जी की रचनाओं से एसा लगता है कि उनकी प्रेरणा का स्रोत काशी के स्वामी रामानन्द तथा संत कबीर हैं। उन्होंने सम्पूर्ण भारतवर्ष की तीर्थयात्रा की तथा पालनपुर में आश्रम बनाकर रहे। वि.संवत् 1889 की कार्तिक एकादशी को उन्होंने जल समाधि ले ली।

\* संत यारी साहब -(ई.सन्. 18 वीं शताब्दी) गाजीपुर, उत्तर प्रदेश

इनका नाम यार मुहम्मद था। आप शाही घराने के थे तथा ऐश्वर्यमय जीवन छोड़कर सन्तमन में दीक्षित हो गये। यारी साहब निर्गुण-निराकार के उपासक हैं। इनके ईश्वर का न जन्म होता है न मरना है -

“आबौ न जाए मरै नहिं, जीवै यारी यार हमारा हे।”

(हमारे मुस्लिम संत कवि, पृ. 64)

जिस निर्गुण-निराकार की उपासना यारी साहब करते हैं वह कबीर तथा अन्य निर्गुणी सन्तों की तरह ही है। उन्होंने परमात्मा को प्रियतम रूप में मानकर

तथा जीवान्मा को स्त्री रूप में अनुभव करने हुए, माधना की है। एक उदाहरण-  
“विरहिनी मंदिर दिया ना बार।

बिन बाती बिन तेल जुगति सो, बिन दीपक उजियार।  
प्राप्त पिपा मेरे घर आयो, रचि पचि सेज संवार।  
सुखमन सेज परम तत रहिया, पिय निर्गुन निरंकार।  
गाबहु री मिलि आनंद मंगल, यारी मिलिकै यार ॥”

(मुस्लिम भक्त कवियों का सांस्कृतिक समन्वय, पृ० 83)

‘यारी माहब’ एक मुस्लिम संत हैं। भक्ति और प्रेम इनकी माधना के अभिन्न अंग हैं। यारी साहब कहते हैं कि प्रभु के प्रति मेरी प्रति दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। जैसे-जैसे काम-क्रोध तथा जंजाल समाप्त हो रहे हैं वैसे-वैसे प्रभु मे मिलने की यह अग्नि और अधिक तेजी के साथ धधकती चली जा रही है-

“दिन दिन प्रीति अधिक मोहि हरि की,  
काम क्रोध जंजाल भसम भये विरह अगन धधकी।”

(वही, पृ. 99)

\* ईश्वर भक्त एन. बुल्ला शाह -(ई.सन्. 19 वीं शताब्दी) मध्यप्रदेश  
बुल्ला शाह, ग्वालियर में शिवमन्दिर के निकट एक गुफा में श्रीकृष्ण की माधना करते थे। आप ब्रह्मनिष्ठ संत थे। वे रोम-रोम में श्रीकृष्ण की अनुभूति करते हैं। वे कहते हैं, सांवला कृष्ण ही हमारा मालिक है, उसके अलावा हमारा और कौन है?

“और हमारे कौन है, जाते कहें हुजूर।  
दीसत आपहिं आप हो, रोम-रोम भरपूर ॥  
रोम-रोम भरपूर, सांवला सांचा साईं।  
मेरे मनके बात, छुपी कछु तुमसे नाही ॥  
जो चाहे सोई करो एन हमें मंजूर।”

(हमारे मुस्लिम संत कवि, पृ० 59)

भक्त बुल्ला शाह कहते हैं कि यह सब कुछ जो दिख रहा है नजर है. यह सबकुछ चला जायेगा, कुछ भी शेष नहीं रहेगा। केवल राम का नाम ही शेष रहेगा-

“जब लगी ठठरी शीश पर, राम नाम है सत्।  
मानस बैठ मशान में, कथै ज्ञान अलबत्त ॥

कथै ज्ञान अलबत्त, रहा न रहेगा कोई।  
रहे राम का नाम, जगत में यही खश बोई ॥  
न्याय धोय कर चल दिये ‘एन’ ज्ञान भयो गत्त।”

(वही, पृ० 59)

\* रामभक्त मीर मुराद- (वि.सं. 1880-1962; ई.सन्. 1823-1905)-गुजरात  
मुराद का जन्म मेहसाणा में हुआ था। मुराद राम के भक्त थे और कहते थे कि राम का नाम लेने से क्या खर्चा होता है? राम का नाम लेने से पुत्र कुपुत्र भी नहीं हो जायगा और न अपनी प्रतिष्ठा ही घटेगी बल्कि राम का नाम लेने से शरीर को आराम ही मिलेगा तथा अशेष-सुखों की उपलब्धि भी तो होती है।

रामोपासना का महत्व बतलाते हुए ‘बोध बहतरी’ में मीर मुराद लिखते हैं कि जहाँ राम नहीं वे सभी देश, स्थान, व्यक्ति व्यर्थ हैं-

“राम बिना देश वाकू, तज के विदेश जाए,  
राम बिना राजा वाकू, दुश्मन सम देखिए।  
राम बिना रांड़ वाकू, छोड़ दे सयाने लोग,  
राम बिना बेन वाकू, बेन से न पेखिए।  
राम बिना भाई वाकी, राखिए सगाई थोरी,  
राम बिना पुत्र, जमदूत सम लेखिए।  
कहत ‘मोराद’ जहाँ राम जी से काम नहीं,  
राम बिना गाम वाकू, लपटकर लेखिए।”

(रामानन्द सम्प्रदाय और साहित्य, पृ. 297)

मीर मुराद कहते हैं कि राम का नाम पापों को समाप्त कर देता है, दुःख को दूर भगाता है। इसीलिए मुराद ने राम के नाम की शरण गहली है-

“कहत मुराद रघुरामजी की याद करो।  
रामजी को नाम तो हजार काम आवेगा ॥”

(वही, पृ. 298)

अपनी लोकप्रिय रचना गरुड़-हनूमान-संवाद में भी मीर मुराद ने राम के महत्व को बड़ी ही अभिव्यंजना पूर्ण शैली में प्रस्तुत किया है। मुराद ने भक्तिभाव से पूर्ण व्यापक साहित्य रचना की जिनमें गरुड़-हनूमान-संवाद, बोध बहतरी, गुणवाणी विलास, बन्दगी-बन्ध, सम-दातार-संवाद प्रसिद्ध हैं।

\* मुगल बादशाह शाहजहाँ - (ई.सन्. सत्रहवीं शताब्दी) - आगरा, उ०प्र०

हिन्दू मन्त्रों एवं भक्तों का मुगल शासकों पर भी प्रभाव बढ़ रहा था। अकबर के पौत्र तथा जहाँगीर के पुत्र शाहजहाँ ने आगरा को केंद्र बनाकर देश के बड़े-भू-भाग पर शासन किया था। यद्यपि यह एक क्रूर शासक था किन्तु परिस्थितियाँ बदल गई। समय की मार तथा विश्वासघाती मुस्लिम परिवार परंपरा के कारण श्रेष्ठ हिन्दू-दर्शन की ओर वह झुकता चला गया। औरंगजेब ने हिन्दुओं पर नो अत्याचार किये ही साथ ही अपने पिता शाहजहाँ को भी जेल में डाल दिया। प्रतिदिन एक वाली पानी उस मुगल सम्राट को दिनभर के उपयोग के लिए मिलता था। आगरा के किले में कैद शाहजहाँ मई-जून की भीषण गर्मी में पानी के बिना तड़फ उठा। उसने औरंगजेब को कहलवाया 'बेटा, हिन्दुओं को नो डेवो, मरने के बाद भी वे अपने पुरखों को पानी देते हैं (श्राद्ध में मृत पुरखों को जल अर्पित किया जाता है)।' जीवन की संध्या के समय उसके पुत्र ने ही उसे जेल में डालकर एक-एक बूँद पानी के लिए तड़फा दिया तब वह पूरी तरह प्रभुगम की भक्ति के लिए व्याकुल हो गया। इस प्रकार दुःखी शाहजहाँ प्रभुगम की शरण में आकर पूछता है कि राजीव नयन राम अब मेरे बारे में आपकी क्या इच्छा है-

“जन्मत ही लखदान दियो, अरु नाम रख्यो नबरंग बिहारी।

बालहिं सों प्रतिपाल कियो अरु, देस मुलुक्क दियो दल भारी ॥

सो सुल बेर बुझै मन में, धरि हाथ दियौ बंधवार में डारी।

शाहजहाँ बिनवै हरि सों बलि, राजिव नैन रजाय तिहारी ॥”

( मुस्लिम भक्त-कवियों का सांस्कृतिक समन्वय, पृ. 121 )

अर्थात्, 'शाहजहाँ कहता है, (औरंगजेब का) जन्म होने ही मैंने लाखों रुपया दान में दिया था तथा इसका नाम भी नवरंग बिहारी रखा था। बालपन से इसका लालन पालन किया और बड़ा होने पर राज्य तथा वडी मेना भी इसको दी। वही बेटा मन में इतना द्वेष रखता है कि मुझको हाथ बाँध कर कैद में डाल दिया है। हे हरि, शाहजहाँ आपसे विनती करता है कि, हे कमल नयन (प्रभुगम) सबकुछ आपकी इच्छा से ही तो हो रहा है।’

\* नजीर अकबरावादी - (जन्म-वि.सं. 1792 ; ई.सन्. 1735)

भारतीय संस्कृति के भक्तिसागर में नजीर गहराई तक उतर गए थे। कृष्ण, महादेव, बलदेव, भैरव आदि देवी - देवताओं का सुन्दर वर्णन नजीर ने किया है। कृष्ण कन्हैया में प्रभावित होकर वे गाने लगे -

“इक रोज मुँह में कान्हा ने माखन छिपा लिया,  
पूछा जसोदा ने तो वहाँ मुँह बना दिया।  
मुँह खोल तीन लोक का आलम दिखा दिया,  
इक आन में दिखा दिया और फिर भुला दिया ॥  
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,  
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन ॥

.....

सब मिल के यारो, कृष्ण मुरारी की बोलो जै,  
गोविन्द - कुंज - छैल-बिहारी की बोलो जै।  
दधिचोर गोपीनाथ, बिहारी की बोलो जै,  
तुम भी 'नजीर' कृष्णमुरारी की बोलो जै।  
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन,  
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन ॥”

(भजन संग्रह, पृ० 270-271)

\* मुस्लिम संगीतकार और ईश्वर-भक्ति

एक लम्बा समय इस देश में ऐसा रहा जब हिंदू संतों की संगत में आकर मैकड़ों मुस्लिम संगीतकार भी भक्तिगीतों को नये-नये राग देते हुए भक्तिरस में डूबते जा रहे थे। भक्तिभाव के साथ वे कृष्ण, राम, शिव, सरस्वती आदि की स्तुति गाने लगे। जनैः, जनैः, देवी-देवता और संगीत उनके जीवन में भक्ति का रस घोल रहे थे। प्रभु-गुण गाने में उन्हें एक अनिर्वचनीय सुख भी मिल रहा था। ये मुस्लिम संगीतकार भक्तिभाव से गा रहे थे- “मन तू गा रे हरिनाम” और “सबि श्याम नहीं आए।”

भारतीय संगीत में 'ध्रुपद' नामक विधा को सर्वाधिक कठिन कहा जाता है। भक्ति-संगीत की इस कथा का उद्गम 'सामवेद' है। मुस्लिम घराने के डायर बन्धुओं के परिवार ने सदियों से भक्ति-संगीत की इस विधा का विकास, परिश्रम पूर्वक जारी रखा। 'ध्रुपद' विशेषतः स्व. जहीरुद्दीन खाँ लिखते हैं- “ध्रुपद को सामवेद के पवित्र-मन्त्रों की दिव्य-देन कहना चाहिए। 'सामवेद' के मंत्रों में से संगीत की यह भक्ति-धारा पीढ़ी दर पीढ़ी प्रवाहित होती हुई आज हमारे सम्मुख दिख रही है। संगीत की इस भव्यगहरी के अन्दर हम सर्वशक्तिमान् प्रभु के सम्मुख भक्ति (अर्थात् पूर्ण समर्पण) एवं शान्ति का वातावरण बना देते हैं। .... आप हिन्दुस्तानी संगीत तथा

सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को अलग नहीं कर सकने।

(Bhawan's Journal vol., 50, no.4, page-27)

विख्यात मुस्लिम लेखक एब्दुल ग़फ़्फ़र दस्तूर लिखते हैं कि- “ ध्रुपद का सबसे मुन्दर पहलू यह है कि इसके अधिकांश रागों द्वारा भगवान् शिव तथा कृष्ण की आराधना की गई है। विगत 20 पीढ़ियों में संगीत की माधना में रत मुस्लिम डागर बन्धु तथा उनके शिष्य-गण अभी भी प्रतिदिन श्रीकृष्ण और शिव की स्तुति गाकर अपनी संगीत साधना प्रारम्भ करते हैं। उनके द्वारा परम्परागत रूप में मालकोज राग में गाई जाने वाली शिव-स्तुति के स्वर तो देखिए-

“ शंकर गिरिजापति पार्वतीपति ईश्वर  
गले मुण्डमाला महामय महेश्वर,  
जटा में गंगा त्रिलोचन त्रिशूलधर  
नमो कैलासपति सतीवर भुवनेश्वर।”

(ibid, page-28)

फैय्याज खाँ साहब ने श्रीकृष्ण के प्रति अपनी भक्ति को 'प्रेम पिया' में राग 'सुधरई' के अंदर कुछ इस प्रकार पिरोया है-

“ नैननसों देखी एक झलक मोहन की,  
जब से प्रेम मोहे उनको भयो है  
सुध न रही तनमन की।”

(ibid, page-26)

राग 'परगज' के विशेषज्ञ उस्ताद काले खाँ 'सरस पिया' में राधा की भक्तिजन्य प्रेमविकलता के साथ एक रस होते चले गए। उन्हीं के शब्दों में-

“ मनमोहन बृज को रसिया  
जात हती मैं तो बृज की गलियाँ।  
मुरली बजाये मेरो मन मोह लेत,  
देखि सरस साँवरी सूरत,  
तलच रहो मेरो जीया,  
धुन सुन दिल बीच लागि रही बेकलिया,  
मुरली बजाये मेरो मन मोह लेत।”

(ibid, page-25-26)

आगरा घराने के प्रसिद्ध गायक विलायत हुसैन खाँ, जिनका स्वर्गवास

मन् 1962 में हो गया ने, यैकड़ों भजनों को रागबद्ध किया। एक मुन्दर राग में वे गाने हैं-

“मन मोह लीनो श्यामसुन्दर ने, कैसी कीनी चतुराई,  
मुनरी सबी मेरे 'प्राणपिया' ने कैसी बंसीया बजवाई।”

(ibid, page-24)

ऐसे उदाहरणों की संख्या हजारों में है। 'भारतरत्न' विभूषित काशी के गहनार्द वादक बिर्मिल्ला खाँ भी वृत्तपन से आज तक काशी के घाट पर मन्दिर में भक्ति-संगीत ही गा रहे हैं। संगीत और भक्ति ने मिलकर कुछ ऐसा सामाँ बाँधा कि जो भी इसके निकट गया वह आनन्दोल्लास की भक्ति-विगलित-धारा में बहता ही चला गया। संगीत के मधुरस्वरों ने भक्ति के भावों के साथ मिलकर एक नई भाव-सृष्टि की रचना कर डाली। संगीत की स्वरलहरी अपने ताल और लय के समवेत स्वर से जब गूँजी तो इसने सभी की हृत्तंत्री को झंकृत कर दिया। भक्ति-भावोद्दीपक-कर्णप्रिय संगीत ने एक अकल्पनीय वातावरण बना दिया। श्रोतावृन्द इसके अन्दर एक अनन्त-अवण्ड सुख की अनुभूति करते हुए दिव्यलोक में विचरने लगे।

\* सभी को आत्मसात करती भक्तिभावना

इस्लाम में ऐसे सुख की कोई कल्पना ही नहीं थी। यह एक नवीन अनुभव था जो इस्लाम यहाँ पा रहा था और इसमें डूबता चला जा रहा था। 'भक्ति' के इस अनिर्वचनीय मूग में जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, अमीर-गरीब, राजा और रंक के भेद समाप्त थे। लाखों मुसलमान श्रीकृष्ण और निर्गुण राम की भक्ति के दीवाने हो गए। उनका जन्म मुसलमान परिवार में हुआ था इस कारण वे शरीर से तो मुसलमान थे किन्तु उनका रोम-रोम 'भक्ति' के आवेग से आवेशित था। हिन्दू अपने सर्वग्रासी गुण के अनुरूप सभी को हाथ फैलाकर स्वागत कर रहा था।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि सारे देश में मुस्लिम भक्तों की एक लम्बी शृंखला है। इन में अमीर खुमरो, आलम, मलिक मोहम्मद जायसी, बाबा फरीद, बुल्लेशाह, रमखान, कोरेवेल, तालवीवी, रहीम, वाजिन्द, शाहअली कादर, दरियासाहब, शेख निमार, रज्जब, कमाल साहब, रोहल, ओडिशा के सालवेग, गुरुनानक के शिष्य मरदाना एवं रैदास के शिष्य सदाना आदि ने अपनी भक्ति साधना के कारण हिन्दू तथा मुसलमान दोनों वर्गों में पर्याप्त प्रसिद्धि पायी। बंगाल के मुसलमान भक्तकवि मैयद मुर्तजा ने राधा के जीवन को धन्य माना है। भक्तवर अलीखाँ पठान तथा

उनकी पुत्री ठाकुरजी के अनन्य भक्त थे। इन्होंने त्यागभावना तथा उपामना के क्षेत्र में कहीं-कहीं हिन्दुओं को भी पीछे छोड़ दिया है। कृष्णभक्त कवियों में मुबाराक, जंग आलम, रहीम आदिल, जमाल, मैय्यद मुर्तजा, तालिबजाह, रमरग, हार्फिज, बली मुहम्मद आदि भी उल्लेखनीय हैं। इन भक्त-कवियों ने श्रीकृष्ण के प्रति अपनी 'भक्ति' को खुलकर सामने रखा। और भी अनेक मुसलमान भक्त तथा सन्त हो गए जिन्होंने संत कबीर तथा भक्त वेदास की तरह राम का गुणगान किया तथा भारतीय संस्कृति की लोकमंगल भावना के साथ एक रूप होते चले गए। ऐसे सन्तों, कवियों तथा भक्तों की संख्या सैकड़ों में है जिन्होंने जन्म तो मुसलमान परिवार में ही लिया था किन्तु वे ईश्वरभक्ति में डूब गये। इनमें कुछ निर्गुण तथा कुछ सगुण भक्ति वाले थे। लाखों मुसलमान भी इनके अनुयायी बन गये। इन मुसलमान सन्तों की भक्ति देवकी हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार भार्गवेंद्र हरिश्चन्द्र ने कहा-

“इन मुसलमान हरिजनन पे, कोटिन्ह हिन्दू वारिये॥”

(हमारे मुस्लिम संत कवि, प्रकथन)

इस प्रकार हिन्दुत्व का भक्तिभाव तथा सन्तों की महान परम्परा धीरे-धीरे इस्लाम को आत्मसात कर रही थी। हिन्दू समाज की पावन शक्ति प्रचंड रही है। यहाँ तक कि इस्लाम जो कि अपने कठोर स्वरूप को सुरक्षित बनाए रखने का संकल्प लेकर आया था, वह भी यहाँ की संस्कृति की महाश्रोतस्वनी में अपने आपको विलीन करने लगा।

#### \* कटुरपंथी मुसलमानों के फतवे

एक ओर जहाँ ऐसा समरसता का वायुमण्डल बन रहा था, वहीं कुछ कटुर इस्लाम पंथियों को इस भक्ति आन्दोलन के अन्दर एक गंभीर खतरा दिव रहा था। कटुरपंथियों को लगा कि इस्लाम का कारवाँ (अभियान) जो अरब से बेरोक-टोक लगातार विजयी होता हुआ भारत तक चला आया, इसका कहीं भी कोई कुछ बिगाड़ नहीं सका, क्या वह भारत की गंगा (भक्ति की धारा) में डूबकर समाप्त तो नहीं हो जाएगी? इसी कारण, मजबूर होकर दुःख से आँसू बहाता हुआ मौलाना हाली भी मुसलमानों को मावधान करने हुए कहता है-

“वो दीने हिजाजी का बेबाक बेड़ा,  
निशां जिसका अक्साए आलम में पहुँचा,  
मजाहम हुआ कोई खतरा न जिसका,

न अम्माँ में ठटका न कुलजम में शिझका,  
किये पै सिपर जिसने सातों समुन्दर,  
वो डूबा दहाने में गंगा के आकर।”

(...और देश बँट गया, पृष्ठ: 16)

अर्थात् इस्लाम का जहाजी बेड़ा सात समुद्रों को तो बेरोक-टोक पार कर गया और अजेय रहा, पर जब वह हिन्दुस्थान पहुँचा तो गंगा की धारा में सदा के लिए डूब गया।

मुस्लिम समाज पर हिन्दू तथा मुस्लिम सन्तों की भगवद्भक्ति का इतना प्रभाव बढ़ता गया कि इस्लामी मौलवी लोगों को लगने लगा कि इस प्रकार तो हिन्दुत्व, इस्लाम को निगल ही जायेगा। इस कारण प्रतिक्रिया में आकर भारतीय मुसलमान सन्तों पर मौलवियों ने कुफ्र के फतवे (नास्तिक होने की व्यवस्थाएं) जारी कर दिये। मौलाना लोग मुसलमानों को सावधान करते हुए कहते हैं कि-

“हमें वाइजों ने यह तालीम दी है।  
कि जो काम दीनी है या दुनियावी है।  
मुखालिफ की रीस उसमें करनी बुरी है।  
निशां गैरते दीने हक का यही है।  
न ठीक उसकी हरगिज कोई बात समझो।  
वह दिन को कहे दिन तो तुम रात समझो॥”

अर्थात्, ‘हमें उपदेशकों ने यह शिक्षा दी है कि धार्मिक अथवा संसारिक कोई भी काम हो, उसमें विरोधियों का अनुकरण करना बहुत बुरा है। सत्य धर्म की लाज का यही चिह्न है कि विरोधी की किसी बात को भी सत्य न समझो। यदि वह दिन को कहे तो तुम उसे रात समझो।’

अठारहवीं शताब्दी तक मुसलमानों की हिन्दू समाज के साथ आत्मसात होने की प्रक्रिया तेजी से चल रही थी। तभी एक दूसरी धूर्तशक्ति अंग्रेज ने हिन्दुस्थान में पदार्पण किया। उन्होंने कुटिलता से केवल राज्य ही स्थापित नहीं किया वरन् मुसलमानों को हिन्दुओं से दूर करने के सभी संभव प्रयास भी किये। लोभ-लालच, भय-प्रेम, छल-कपट आदि सभी नीतियों का प्रयोग करते हुए वे मुसलमानों को हिन्दुओं से दूर ले जाने में सफल हो गए। आध्यात्मिक स्तर पर चलने वाली विलीनीकरण की स्वाभाविक प्रक्रिया को गंभीर झटका लगा। यह सच है कि अंग्रेज भारत में न आए होते तो निर्मलभक्ति, प्रेम तथा संतों के पवित्र एवं त्यागमयी आचरण के दैवीय आकर्षण से करोड़ों मुसलमान अपने पूर्वजों के धर्म में वापस आने में ही अपनी धन्यता अनुभव करते।

## अन्तःसमाज की व्यापक भूमिका

समय के थपेड़ों में अच्छी से अच्छी व्यवस्थाएं टूट जाती हैं, विकृत हो जाती हैं। काल का चक्र बड़ा निर्दयी होता है। उसके मामले दया और समता को कोई स्थान नहीं। विश्व परिदृश्य में अनेक समुन्नत संस्कृतियाँ धूलधूसरित होकर काल के गाल में समा गईं किन्तु हिन्दू समाज गिर कर पुनः उठा। लगता था कि सब कुछ समाप्त हो गया किन्तु अंधकार और निराशा को चीरता यह विश्वपटल पर पुनः प्रदीप्त हो उठा।

इस देश की आत्मा राज्यसत्ता में नहीं वर्गन् धार्मिक आस्थाओं में थी। यहाँ का समाज ईश्वरानुभूति वाले आध्यात्मिक साधकों से ही प्रेरणा पाता था तथा इन साधकों के प्रति श्रद्धावान था। जब भी राज्यसत्ताओं पर संकट आया और परकीयों ने राजाओं को पराजित कर राज्य नष्ट कर दिए तब जनता इन आध्यात्मिक महापुरुषों की शरण में चली गई और वे ही समाज के मार्गदर्शक और मच्चै उद्धारक बन गए। जब-जब सामाजिक विकृतियों ने समाज को घेरा तो समाज का प्रबोधन करने को इन श्रेष्ठ लोगों की बड़ी श्रुंखला खड़ी हो गई। इन महापुरुषों ने हिन्दू धर्म के 'सर्वसमावेशी एवं सर्वजन हितकारी' मौलिक सिद्धान्तों के प्रकाश में समाज का परिष्कार करने का दायित्व संभाल लिया।

भगवान् बुद्ध ने सामाजिक भेदभाव करने वाली सभी मान्यताओं को निरस्त कर एक नई सामाजिक क्रान्ति ला दी। उनके दर्शन में प्रेम-करुणा और समता थी वहाँ भेदभाव को कोई स्थान नहीं था। जब बौद्ध-मत में विकृतियाँ आने लगीं तब सभी के अन्दर एक आत्मा अर्थात् 'सर्वज्ञैक्य' का सन्देश देनेवाले शंकराचार्य प्रचण्ड सूर्य की तरह उदित हुए और बत्तीस वर्ष की अत्यायु में ही अपना ईश्वरीय दायित्व निर्वाह कर सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता का संदेश देते हुए निरोहित हो गए। उन्होंने चाण्डाल को भी गुरु मानने में संकोच नहीं किया तथा व्यर्थ के कर्मकाण्डों को तिलांजलि दे दी एवं राष्ट्रीय एकात्मता की दृष्टि में अनेकविध यशस्वी प्रयास किए।

आजीवकों और सिद्धों का सामाजिक भेदभावों के विरुद्ध संघर्ष भी रोचक है। आजीवक तो बुद्ध के पूर्व से ही अव्यवहारिक वर्जनाओं को तोड़कर सामाजिक समरसता का कार्य कर रहे थे। भगवान् बुद्ध के पश्चात् चौरासी सिद्धों की एक

महान् परंपरा को हम इसी रूप में देखने हैं। ये 'मिद्ध' जातिगत भेदभाव, वर्ण-व्यवस्था तथा व्यर्थ के कर्मकाण्डों में विश्वास नहीं करते। 'मरहपा' जैसे अनेक 'मिद्ध' विलक्षण विद्वान हैं किन्तु शूद्र-कुल में उत्पन्न महिला में विवाह करने तथा शूद्रों को शिष्य बनाने में 'मरहपा' को कोई संकोच नहीं हुआ।

इस्लाम का अक्रमण एक नई चुनौती- भारत के ऊपर इस्लाम का आक्रमण एक अभूतपूर्व महत्त्व रखने वाली घटना थी। इस्लाम एक सुसंगठित, अनुदार मत के रूप में भारत में आया। वे केवल क्रूर शासक ही नहीं थे वर्गन् मत्ता अधिग्रहीत करके सम्पूर्ण विजित समाज को शक्ति के बल पर इस्लाम की पताका के नीचे ले आने के लिए संकल्पवद्ध भी थे। मत्ता हस्तान्तरित करके वहाँ के समाज को शक्ति के बल पर इस्लाम में परिवर्तित करने का कार्य वे भारत में आने के पहले अनेक स्थान पर सम्पन्न कर चुके थे। भारतीय समाज को एक नई चुनौती से सामना करना पड़ रहा था। हिन्दू धर्म को मानने वालों का केन्द्र विन्दु व्यक्तिगत चरित्र और अध्यात्म था। ये दोनों ही त्यागमूलक थे। हिन्दुओं का यह विश्वास दृढ़ था कि यदि चरित्र शुद्ध है तो कोई भी धार्मिक विचार चल सकता है किन्तु इस्लाम इसके विपरीत था। इस्लाम को मानने वालों का कहना था कि इस्लाम स्वीकार कर लेना ही पर्याप्त है। इस्लाम स्वीकार करने वाले को ही उस अनन्त स्वर्ग (बहिश्त) में स्थान मिलेगा और जो इस्लाम को नहीं मानेगा उसे अनन्त नरक (दोजब) में जाना होगा। किसी भी पद्धति में अन्य धर्मावलम्बियों को इस्लाम स्वीकार कर देने तथा हिन्दुओं के मन्दिरों को नष्ट कर देने को वहाँ एक पुण्यकार्य समझा जाता था।

उदारमत हिन्दू समाज को यह समझ पाना बहुत कठिन हो रहा था कि आविर हमारी धार्मिक आस्थाओं और विश्वास को समाप्त कर देना किसी दूसरे का परमकर्तव्य कैसे हो सकता है? और जब इस्लाम के शक्तिशाली आक्रमणकारियों ने मत्ता प्राप्त करने ही सभी प्रकार के अमानवीय साधनों का उपयोग कर इस्लाम के मतावलम्बियों की संख्या बढ़ानी प्रारम्भ की तो भारत का सुहृदय-प्रबुद्ध-जनमानस भी इसे महत्ता नहीं परिग्रेष्य में समझ नहीं पाया। कुछ समय के लिए तो ऐसा लगने लगा कि इसकी सर्वममत्वयात्मिका बुद्धि ही कुंठित हो गई है? सम्पूर्ण हिन्दू समाज सहसा विक्षुब्ध हो उठा। परम भाग्यवान् वसुन्धरा को भी इस कुण्ठा और विश्वास में अकल्पनीय पीड़ा का अनुभव होने लगा।

अभी तक अनेक जातियाँ और कबीले यहाँ अपने विविध स्वरूपों के साथ आये थे किन्तु उन्होंने यहाँ की आन्तरिक समाज व्यवस्था तथा धार्मिक आचरण शैली में

कोई हस्तक्षेप नहीं किया। यह एक बड़ा आश्चर्य ही था कि वे सभी यहाँ के ईश्वर का आश्रय पाने ही पूर्ण रूप से भारतीय संस्कृति उन सभी आक्रमणकारियों को अनिधि चले गए। सर्वश्रीमी भारतीय संस्कृति उन सभी आक्रमणकारियों को अनिधि बनाकर पचा गई। वे पूर्णरूप से भारतीय बन गए थे। इन सभी विविध प्रकृति के लोगों को आत्मसात् कर पाने का एकमात्र कारण यही था कि भारतीय (हिन्दू) जनमानस का विश्वास था कि धर्ममाधना वैयक्तिक होती है तथा प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार धर्मोपासना का अधिकार ईश्वरप्रदत्त है। ईश्वर-आराधना तो व्यक्तिगत ही होगी किन्तु इसके लिए चरित्र की शुद्धता एवं आचरण की श्रेष्ठता का बहुत महत्व है।

हिन्दू समाज का मुकाबला अब इस्लाम नामक नई शक्ति के साथ हुआ तो यहाँ बात उलट थी। यह प्रतिद्वंद्वी अत्यन्त निर्दयी, असहिष्णु तथा वर्जनाग्रही था। ये लोग अत्याचार की किसी भी सीमा तक जाकर इस्लाम के अतिरिक्त अन्य सभी मतों को नष्ट करने में विश्वास रखते थे। धार्मिक वर्जनीलता ही उनकी कार्यशैली का मुख्य स्वरूप था। मुस्लिम समाज के लोग किसी भी कीमत पर अन्य मतवलम्बियों को इस्लाम स्वीकार करा देने को ही अपना अल्लाह-प्रदत्त-कर्तव्य मान रहे थे।

हिन्दू समाज ने इस नवीन संकट से लड़ने के लिए नये-नये उपाय खोजे प्रारम्भ किए। इस कारण सामाजिक व्यवस्थाएं और कठोर होती गईं। बहिर्गमन लोगों के विरुद्ध सामाजिक प्रतिबन्धों ने कुछ समय तो लाभ दिया था। अपनी सामाजिक, धार्मिक एवं पारिवारिक शुचिता, पवित्रता की दृष्टि से समय-समय पर म्लेच्छ, यवन, मुसलमान आदि लोगों को अस्पृश्य घोषित कर दिया गया।

हिन्दू समाज में आचरण की श्रेष्ठता महत्वपूर्ण होने के कारण आचरण से पतित व्यक्तियों को समाज में कोई स्थान नहीं था। इसी प्रकार आश्रम-भ्रष्ट लोगों की संख्या ने भी अनेक जानियों तथा उपजातियों को जन्म दे दिया था। अपनी ही निषेधाज्ञाएं अपनी बेड़ियाँ बनती जा रही थीं। प्रारम्भ में तो म्लेच्छ, यवन, मुसलमान ही अस्पृश्य माने गये थे किन्तु आगे चलकर शुचिता, पवित्रता की जटिल रूढ़ियों के कारण हिन्दू जानियाँ भी अस्पृश्य मानी जाने लगीं। सामाजिक दूरियों ने अपना विकृत स्वरूप प्रस्तुत किया और लाखों-करोड़ों लोग हिन्दू होते हुए भी हिन्दू समाज में ही सामाजिक रूप से दूर हो गए। हिन्दू समाज के विवेकशून्य लोगों द्वारा अपने इन स्वधर्म बान्धवों पर अनेकप्रकार के प्रतिबन्ध स्थापित कर दिए गए। अस्पृश्य घोषित होते ही वे सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से भी पिछड़ गए।

इस्लाम नाम का यह प्रतिद्वंद्वी सभी जानियों को अपने अन्दर मिला लेने को मंक्रन्तित था। ब्रह्म आचार-दोष महत्वहीन था। वे सभी को आत्ममात् कर लेने को ब्रह्मणिकर थे। समाज के अन्दर अपमानित जानियाँ अब अमहाय नहीं थीं। यद्यपि ये सभी लोग इस्लाम को अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखते थे किन्तु उनको स्वीकार कर लेने को नैयार शक्तिशाली इस्लाम मानने खड़ा था। ये सभी चतुर्नितियाँ थीं जिनको हिन्दू समाज अपने हजारों वर्ष के जीवनकाल में प्रथमवार अनुभव कर रहा था। चारों ओर निराशा और अंधकार ही दिखता था।

इस्लाम एवं सामाजिक विकृतियों ने संघर्षरत आध्यात्मिक धारा- अब हिन्दू समाज के मम्युब दो महत्वपूर्ण प्रश्न थे। पहला तो इस्लाम से भारे समाज की सुरक्षा करना और दूसरा अपने ही स्वधर्म बन्धुओं के ऊपर समाज द्वारा लगाए गए सामाजिक धार्मिक प्रतिबन्धों के विरुद्ध संघर्ष करके उनको समाज में पुनः सम्मानजनक स्थान दिलाना। मुसलमान तो बाहर से आए थे इस कारण उनसे लड़ना तो समझ में आता था किन्तु घर के अन्दर की लड़ाई कठिन थी। शक्तिशाली कहे जाने वाले अधिकार लोग इस्लाम से पराजित हो चुके थे। विद्वान लोग निराश थे या कर्तव्यविमूढ़। अनेक धर्माचार्यों को भी रूढ़ियों, बाह्याचारों और कर्मकाण्डों ने जकड़कर रख लिया था।

इस कठिन काल में सर्वाधिक महत्व का विषय यह था कि समाज के अन्दर आए भेदभावों को दूर कर विशुद्ध समाज को प्रेम और ममता का अवलम्बन देकर ममान मानना तथा निराशापूर्ण वातावरण में आशा और विश्वास का संचार करना। यह कार्य बड़ी विलक्षण कुशलता के साथ देश की आध्यात्मिक शक्ति ने प्रारम्भ कर दिया।

इस्लाम के इस विचित्र आक्रमण से संघर्ष लेने के लिए सर्वप्रथम नाथयोगी आगे आए। महानयोगी गोरखनाथ की शिष्य परंपरा के हजारों साधू योगी (जोगी) के रूप में सम्पूर्ण देश में फैल गए। हिन्दू समाज द्वारा त्यक्त आश्रम-भ्रष्ट लोगों तथा हेय समझी जाने वाली जानियों को नाथों ने सम्मान के साथ गले लगा लिया। नाथयोगी देश के प्रत्येक प्रान्त में फैल गए तथा ग्राम-ग्राम घूम कर अपनी विशिष्ट माधना पद्धति को लेकर इस्लाम के विरुद्ध देशव्यापी संघर्ष छेड़े हुए थे। इन्होंने सभी जातिगत भेदभावों को निरस्त कर दिया।

भक्ति-आन्दोलन का उद्भव दक्षिण से- दक्षिण भारत के आलवारों से प्रेरणा पाकर श्रीरामानुजाचार्य वेदान्त-भावित-भक्ति को लेकर उत्तर भारत की ओर चल

दिण। दक्षिण के जैवभक्त नायत्मारों तथा वैष्णवभक्त आलवारों ने तो पहले ही जनिगत दीवारों को मान्यता देने में मना कर दिया था। श्रीगमानुजाचार्य ने अध्यात्म को नई परिभाषा दी और ईश्वर प्राप्ति हेतु-मर्वे प्रपत्तेरधिकारिणो मताः अर्थान् भक्ति का अधिकार सभी को है कहकर सर्वजन-सुलभ-मरुतमार्ग 'भक्ति' के द्वार सभी के लिए खोल दिए।

श्रीगमानुजाचार्य के शिष्य वैष्णव-भक्ति का संदेश लेकर उत्तरभारत की ओर बढ़ चले। स्वामी रामानन्द तथा संत ज्ञानेश्वर के महयोगी संतों ने नाथयोगियों के साथ वैष्णव-भक्ति का मृन्दर समन्वय खड़ा कर दिया। इस प्रकार योग-भक्ति मिश्रित नई अध्यात्मधारा का सृजन हुआ। इसी को आगे चलकर संत परंपरा कहा गया।

देखते ही देखते सम्पूर्ण 'भारतवर्ष' के एक कोने से दूसरे कोने तक विद्युत् की चमक की तरह समस्त अंधकार और निराशा को चीरता हुआ यह भक्ति-आन्दोलन प्रकट हो गया। इस आन्दोलन ने इन दोनों चुनौतियों को स्वीकार कर लिया। हजारों भक्त तथा संत, इस्लाम से समाज की सुरक्षा के लिए समाज को एकजुट करने में लग गए। वहीं दूसरी ओर समाज के अन्दर घर घर गई कुरीतियों, बुराइयों तथा अव्यवस्थाओं के विरुद्ध भी वे अलग जगति रहे।

**समाज-जागरण का आधार ईश्वरभक्ति-** ये संत और भक्त समाज के स्वविवेक का जागरण तथा भक्ति का आह्वान कर रहे थे। इनका मूलमन्त्र 'भक्ति' ही थी। इसी 'भक्ति' के सहारे इन संतों ने सभी के अन्दर एक ब्रह्म की प्रतीति करने हुए, मानव-मानव के मध्य भेदभाव करने वाली सभी बातों को मानने में इंकार कर दिया। मानव जीवन का परम उद्देश्य भगवत्प्राप्ति को स्वीकारने हुए ये संत और भक्त सभी के अन्दर ईश्वर के अंश की प्रत्यक्ष अनुभूति पर बल दे रहे थे। जब सभी ईश्वर के जन हैं तब कौन बड़ा कौन छोटा? कौन स्पृष्ट कौन अस्पृष्ट? मनुष्य-मनुष्य के अन्दर भेद करने वाले शास्त्रों, मान्यताओं तथा व्यवस्थाओं का उन्होंने निषेध किया तथा हीनभावग्रस्त हिन्दू समाज के हृदय में एक नव-स्फूर्ति का संचार कर दिया।

**स्वामी रामानन्द द्वारा भक्ति आन्दोलन को नये आयाम-** काशी के स्वामी रामानन्द ने 'भक्ति' में जाति के महत्व को अस्वीकार कर एक नई परम्परा खड़ी कर दी। 'जाति पाँति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई' कहकर सभी जाति के लोगों को अपने निकट एकत्रित करके राम के प्रति भक्ति की प्रेरणा दी।

सभी जातियों में बने उनके शिष्यों में संत कबीरदास, भक्त रैदास तथा संत धन्ना तथाकथित पिछड़ी जातियों में आए थे किन्तु वेही सर्वाधिक प्रतिष्ठा पाए तथा प्रभावी मिट्टे हुए। संत कबीर ने जानिगत भेदभाव मानने वालों की अच्छी खबर ली। भक्तिभाव में डूबे संत कबीर स्वयं को 'राम का कुत्ता' कहने में लजाए नहीं। भक्त रैदास चर्मकार थे किन्तु 'प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी' कहते हुए उन्होंने अपने आप को प्रभु से अलग नहीं होने दिया। देखते ही देखते भक्त रैदास तथा संत कबीरदास आदि संतों को व्यापक जनमायता मिली तथा अनेक राजा महाराजाओं ने इन भक्तों का शिष्यत्व ग्रहण कर अपने आप को धन्य माना। तुलसीदास के श्रीरामचरितमानस ने उत्तरी भारत में व्यापक प्रसिद्धि पाई। रामलीला तथा हनुमान चालीसा ने समाज के सभी भेदों को समाज किया और तुलसी कालजयी संत हो गए।

**आध्यात्मिक दर्शन लोकभाषाओं में-** स्वामी रामानन्द ने जनभाषाओं में भक्ति-साहित्य के लेखन को नई प्रेरणा दी। कुछ ही वर्षों में देश की सभी लोकभाषाओं में लिखने वाले सैकड़ों भक्त खड़े हो गए। अभी तक भक्ति-साहित्य की रचना केवल संस्कृत में ही होती थी। भक्ति-आन्दोलन के अन्दर यह एक नया क्रान्तिकारी अध्याय था इसने सामाजिक समस्या को नये आयाम प्रदान किए और इस प्रकार हिन्दू समाज की सभी जातियाँ इस भक्ति-आन्दोलन के साथ जुड़ती चली गईं।

भारत की सर्वाधिक व्यापक, चिरस्थायी और लोकमन की धारा का नाम 'भक्ति' है। वेद तो कुछ लोगों तक ही सीमित हो गए थे। उपनिषद्, रामायण, महाभारत, ब्राह्मण ग्रन्थ आदि सभी संस्कृत में थे। 'भक्ति' की प्रबल धारा ने इन सभी ग्रन्थों को सामान्यजन की लोकभाषाओं में अनुवादित कर दिया। भक्तों के परिश्रम एवं अटूट निष्ठा ने इन लोकभाषाओं को राष्ट्रीय भाषाओं के रूप में त्वाकर खड़ा कर दिया। ये भाषाएं संस्कृत की तरह प्रतिस्थापित हो गईं तथा भक्ति की व्यापकता के कारण ये आध्यात्मिक ज्ञान की अभिव्यक्ति का माधुर्य बन गईं। प्रभु की महिमा केवल संस्कृत में ही लिखी और बोली जाणी यह मिथक अब टूट चुका था।

इन संतों तथा भक्तों का साहित्य शाश्वत-सत्य की अनुभूति है। कोई भी समाज कविताओं के सहारे ही स्वयं को तथा अपनी संस्कृति को जीवित रखता है। कविता हृदय की वाणी है। जब मनुष्य धार्मिक महापुरुषों के साहित्य को भावविभोर होकर गाता है नव शरीर-मन-बुद्धि तथा हृदय से उसकी भावव्यजना के साथ

एकाकार हो जाता है। भारतीय सन्त परम्परा ने लोकभाषा में भक्ति आधारित माहित्य का अगाध भण्डार निरूपित कर मज्जा दे दिया। सन्तों के प्रति समाज की श्रद्धा थी इस कारण समाज ने इस माहित्य को हृदय में सम्मानपूर्वक स्थान दिया। लाखों लोग सपरिवार सन्तों की वाणी को स्वर मंगीत के साथ गाने लगे। इस प्रकार सन्त साहित्य लोकजीवन का काव्य बन गया। सन्तों की भाषा, जाति, स्थान, समय तथा परिस्थितियाँ पृथक्-पृथक् हो सकती हैं किन्तु उनकी सन्तवाणी का भावमन्त्रण एक ही है। उनकी भाषा में व्याकरण की अशुद्धियाँ हो सकती हैं, कलात्मक लाकृत्य भी शायद नहीं होगा, गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी सम्भवतया न मिले किन्तु जीवन की अनुभूतियों के आधार पर शाश्वत मूल्य की अभिव्यक्ति ये सन्त और भक्त करते हैं।

**भक्ति-आन्दोलन देशव्यापी हुआ-** राजस्थान में भक्ति-जागरण में लगे राजर्षि पीपा एवं धन्ना जाट ने काशी के रामानन्द से दीक्षा ली थी वहीं मेवाड़ की कुलवधू मीरा ने भक्त रैदास को अपना गुरु स्वीकार कर लिया। बाबा रामदेव ने ग्राम-ग्राम में जाकर जम्मा जागरण का कार्य संभाल कर सभी को एक किया वहीं संत जम्भनाथ तथा संत हरिदास ने अपनी भक्ति-माधना में सभी को समान माना।

गुजरात के भक्त नरसिंह मेहता, अस्पृश्य कहे जाने वाले लोगों के घर कीर्तन करते और वहीं प्रसाद ग्रहण करते थे। उन्होंने रूढ़िवादी लोगों की आपत्ति को ध्यान ही नहीं दिया। संत अन्ना, संत मेकण, संत पद्मनाभ आदि सभी रामानन्दी परंपरा में अनुप्राणित थे और उन्होंने मनुष्य की जाति एक ही मानी। स्वामी सहजानन्द जी ने सभी में ईश्वर का अंश मानकर मनुष्य की सेवा को ही ईश्वर की सच्ची सेवा स्वीकार किया।

महाराष्ट्र के संत नामदेव को जब मन्दिर में जाने से रोका गया तो हृदय की 'भक्ति' निर्गुण राम की 'भक्ति' के रूप में प्रगट हो गई। पंजाब उस समय इस्लाम की क़रता में संघर्ष कर रहा था। संत नामदेव पंजाब आ गए तथा श्रीगुरु नानकदेव ने भी लगभग 200 वर्ष पूर्व उन्होंने पंजाब में धूम-धूम कर 'राम का नाम जपऊ दिनराती' का स्वर गुंजाया तथा पंजाब की सिक्ख गुरु परंपरा के लिए भक्तिभावित वातावरण तैयार कर दिया। आगे चलकर वहाँ श्रीगुरु नानकदेव से लेकर श्रीगुरु गोविन्दसिंह तक दस गुरुओं की यशस्वी परंपरा हम देखते हैं। ये सभी गुरु, 'भक्ति' का ही जागरण कर रहे थे। श्रीगुरु नानकदेव ने कहा- 'वेद पुकारे भगति सरतोती'

वहीं श्रीगुरु गोविन्दसिंह ने खालसा मज्जा के समय प्रार्थना करने हुए 'भक्ति' ही माँगी - 'यही दास माँगे कृपा सिन्धु कीजें, स्वयं ब्रह्म की भक्ति सर्वत्र दीजें।' परिणाम स्वरूप सामाजिक भेदभावों को दूर कर बलिदान की सिक्ख गुरु परम्परा के मार्गदर्शन में पंजाब की तलवार ने अफगानिस्तान तक जाकर मुस्लिम अत्याचारियों को ठण्डा कर दिया। इस प्रचण्ड-शक्ति की जड़ में 'भक्ति' ही थी। पंजाब की धरती पर सामाजिक सम्मत्ता की सुन्दर मूर्तरिता प्रवाहित होने लगी। अब वहाँ कोई छोटा या बड़ा नहीं था सभी गुरु के शिष्य थे। एक संगत, एक पगत और एक गुरुद्वारे की सुन्दर परंपरा का विकास हुआ।

महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर, संत नामदेव तथा संत तुकाराम आदि श्रेष्ठ संतों ने वाकरी मन्त्रदाय के अन्य संतों के साथ मिलकर विट्ठल-विट्ठल का जो संकीर्तन प्रारम्भ किया तो लाखों लोग उनके अनुगामी हो गये। ग्राम-ग्राम में समाज का नेतृत्व करने वाले संत चोखामेला, संत गौरा, संत राका, संत जनाबाई, संत बंका, संत नरहरि आदि अनेक संत तथाकथित पिछड़ी जातियों से ही आए थे और वे लाखों भक्तों के पूज्य हो गए। सम्पूर्ण महाराष्ट्र एक अद्भुत क्रान्ति से आह्लादित हो उठा। आगे चलकर जिस हिन्दू साम्राज्य की स्थापना हम शिवाजी महाराज तथा समर्थ गुरु रामदास के नेतृत्व में देखते हैं उसकी अलाव सैकड़ों वर्ष पूर्व महाराष्ट्र में जगाई जा चुकी थी। सभी जानियों द्वारा एक स्वर में उसका जयगान हो रहा था। अनुकूल अवसर पाने ही छत्रपति शिवाजी महाराज के आह्वान पर हर-हर महादेव का जयकार लगाने हुए सर्वस्व की बाजी लगाने वाले लाखों युवक मंचल उठे। अपराजय समझे जाने वाले मुस्लिम साम्राज्य को पैरों नले रौंद कर कर्नाटक में लेकर अफगानिस्तान की सीमाओं तक पुनः हिन्दू साम्राज्य खड़ा हो गया, इसकी नींव में 'भक्ति' के स्वर ही मुखरित हो रहे थे।

कर्नाटक की विशाल संत परंपरा के श्री अल्लम प्रभु, भक्तिभण्डारी बसवेश्वर, वैराग्य निधि अक्कमहादेवी, श्रीमद्वाचार्य तथा हरि-दास परम्परा वाले संत पुंरंदरदास एवं संत कनकदाम आदि ने जानिगत भेदभाव में दूर समाज रचना के प्रयास जारी रखे। इन्होंने सभी वर्गों को सम्मान दिया। भक्त बसवेश्वर द्वारा संचालित अनुभवमण्डप के हजारों भक्तों ने सभी को शिवभक्ति के साथ एकजुट कर लिया। स्वामी विद्यारण्य ने हरिहर और वृक्क को लेकर मुसलमानों को पराजित कर विजयनगर साम्राज्य की स्थापना कर डाली। कर्नाटक के कीर्तन माहित्य, 'नाट्य परंपरा' तथा 'हरिकथा परंपरा' ने जानिगत भेदभाव को कोई स्थान नहीं दिया।

तमिलनाडु तो 'भक्ति' की धरती थी। वहीं से 'भक्ति' का प्रवाह आया। तथा भक्तों के द्वारा सम्पूर्ण देश में प्रसारित हो रहा था। वैष्णव-भक्त आन्दोलन तमिल भाषा में रचित 'प्रबन्धम' को वेद की मान्यता दे दी। अनेक आन्ध्र प्रदेश, नम्मालवार, निरुपान आलवार तथा मुनिवाहन आलवार आदि शूद्र वर्ण के विद्वान् विद्वान् ब्राह्मणों ने उनका गिर्यन्त्र ग्रहण कर अपने आपको धन्य माना। जैवभक्त नायन्मारों ने भी जातिगत भेदभाव को अमान्य कर 'भक्ति' को प्रमुखता दी। मंत निम्बल्लुवर ने जाति के जुवाहा थे किन्तु उनके द्वारा रचित 'कुरल' को आनन्द के साथ लोगों ने हृदयंगम कर लिया। मंत कम्बन् के रामायण ने राम के प्रति भक्ति का जन-जन में मंचार किया। मंत नंदनार ने जातिगत भेदभाव के विरुद्ध व्यापक जनजागरण किया तथा अपनी भक्ति के प्रताप में शिव के अवतार के रूप में वहाँ स्थापित हो गए।

तमिलनाडु के आलवारों तथा नायन्मारों का प्रभाव केरल पर भी पड़ा तथा धार्मिक साहित्य को मलयालम में लिखने वाले भक्तों की परंपरा वहाँ खड़ी हो गई, इनमें भक्त एरुत्तच्छन, भक्त कुचन नंब्यार तथा निरण्ण कवियों आदि ने महत्वपूर्ण योगदान किया। वर्तमान युग में एडुवा जाति में जन्मे शिवभक्त श्री नागयण गुरु ने अपने वेदान्त दर्शन के आधार पर सम्पूर्ण केरल के वानावरण को ही बदल डाला।

तेलुगु भाषी क्षेत्रों में भक्त अन्नभाचार्य एवं वीर ब्रह्मेन्द्र स्वामी आदि ने सभी को समान समझने की धारणा को ही बल दिया। तेलुगु भाषा में रामायण लिखने वाले अनेक भक्तों में महान कवयित्री मोल्ला बहुत प्रसिद्ध हो गई। वैभव सम्पन्नता को त्याग कर जंगल में निर्वस्व रहने वाले संत वेम्पता को वहाँ संत कवीर की तरह ही ख्याति प्राप्त हुई। वर्तमान युग में मलयाल स्वामी एवं वशिष्ठ गणपति मुनि ने भी अपने आध्यात्मिक जीवन के आदर्श में सामाजिक समरसता के लिए उल्लेखनीय प्रयास किये।

ओड़िशा की पंचसखा परंपरा एवं भक्त भीम भोई ने सामाजिक भेदभाव मिटाने के लिए नये आयाम प्रस्तुत किये। पंचसखा के वैष्णव-भक्तों में एक ब्राह्मण तथा चार शूद्रकुलोत्पन्न थे किन्तु सभी ने मिलकर व्यापक भक्ति-जागरण के साथ ही सभी की समानता हेतु धार्मिक मान्यता प्रदान की। परमभक्त दामिया वाडरी तो शूद्र थे किन्तु आज भी उनकी स्मृति में अपने वगीचे का प्रथम फल जगन्नाथ जी को समर्पित करने की सुन्दर परंपरा ओड़िशा में जारी है। भक्त उपेन्द्र भंज का रामायण, शारदादाम का महाभारत एवं अनिविड़ि जगन्नाथ दास का भागवत

ओड़िशा वारिमियों के हृदय में बस गया।

बंगाल के नदिया जिले में निकले एक तरुण संन्यासी श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पदच-पैदल सम्पूर्ण देश की यात्रा दो बार कर डाली। यह संन्यासी केवल 'भक्ति' की भिक्षा माँग रहा था। मुस्लिम आक्रमणों में नष्ट हुआ वृन्दावन पुनः खोजकर निकालने का कार्य भी इस तरुण ने ही किया। गली बाजार, ग्राम-शहर, नगर-वन सभी स्थानों पर 'हरि क्लेश' के स्वर गुंजाता यह युवक सभी को अपने साथ लेता चला गया। वनवासी, हरिजन, ब्राह्मण-चाण्डाल आदि सभी 'हरि बोल-हरि बोल' कहते-कहते एक अतिर्वचनीय आनन्द में डूबने लगे। चैतन्य महाप्रभु का एक ही मन्त्र था- 'जेई भजे सेई बड़ी अभक्त हीन छार। कृष्ण भजने नहिं जाति कुल विचार।' ओड़िशा, बंगाल से लेकर असम, मणिपुर के जंगलों में 'हरि बोल' की गूँज उठने लगी। भारतीय अष्ट्यात्म के इतिहास में यह एक विलक्षण क्षण था जब सभी जातियों के लोग मिलकर मंकीर्तन कर रहे थे, खा रहे थे, सो रहे थे वहाँ जाति का कोई स्थान नहीं था। केवल कृष्ण के प्रति 'भक्ति' ही प्रमुख थी। सम्पूर्ण भारत के प्रवास में 'भक्ति' से ही वे सामाजिक एकता का प्रसाद वितरण कर रहे थे। उनके शिष्यों ने उनसे पूर्वांचल की जनजातियों में 'भक्ति' का व्यापक प्रचार किया। मणिपुर आज भी 'हरि बोल' की गूँज पर नृत्य कर उठता है तो यह श्रीचैतन्य महाप्रभु के शिष्यों की परम्परा भी भक्ति-माधना का ही परिणाम है। स्वामी प्रणवानन्द ने नमशूद्र के घर जाकर भोजन करने में सभी संकोच नहीं किया और स्वामी रामकृष्ण परमहंस रात्रि के अन्धेरे में अपने मित्र के वालों से मेहतर का दरवाजा माफ करने निकल जाते थे। स्वामी विवेकानन्द के नेतृत्व में जो संन्यासी समूह खड़ा हो गया उनके हृदय में भक्ति का दावानल जलाने वाले रामकृष्ण परमहंस ही थे। इन मैकड़ों संन्यासियों ने 'मनुष्य की सेवा को ही शिव की सेवा' मान लिया।

प्राज्योत्तिप क्षेत्र के श्रीमंत शंकरदेव सम्पूर्ण देश की यात्रा करने पर जब काशी आए तो यहाँ वे संत कवीर की 'भक्ति' से बहुत प्रभावित हो गए। असम में वापस आकर वहाँ के दोंग, वाह्याडम्बर, निरर्थक कर्मकाण्डों को समाप्त कर श्रीकृष्ण के प्रति निर्मल-भक्ति का प्रचार उन्होंने किया। असम में छुआछूत, जातिगत भेदभाव को समाप्त करने में श्रीशंकरदेव एवं उनके शिष्य श्रीमाधवदेव की भूमिका अतुलनीय है। सम्पूर्ण असम में वर्गहीन एवं भेदभाव शून्य समाज का निर्माण हुआ। आज भी असम में शूद्र, अम्पुश्य आदि की कल्याण भी करना कठिन है, इसके पीछे श्री शंकरदेव जी की निर्मल कृष्णभक्ति ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण देश में ईश्वर की भक्ति में मराठों का प्रभु का मूर्तिपूजा कर रहे थे। यह मार्ग आन्दोलन पूजापाठ, कर्मकाण्ड, जिन शास्त्र, वाद्योंद्वारा तथा जानिगत रीतियों में मुक्त था। सम्पूर्ण हिन्दू समाज स्वाभाविक रूप में इसके साथ जुड़ना चला गया। इस भक्ति-आन्दोलन की यशस्वी विरोधना यह रही कि यह किसी एक स्थान तक सीमित नहीं रहा। आज्ञार्थजनक बात यह थी कि देश के प्रत्येक प्रान्त, भाषा तथा सभी जाति-वर्गों में इन संतों का प्रभुभाव हुआ। सभी प्रान्तों में लोग अपनी-अपनी भाषा में प्रभु की महिमा का गुणगान कर रहे थे।

यह आन्दोलन सम्पूर्ण देश में विद्युत् तरंग की तरह फैलता चला गया। देश का कोई भी भाग इससे अछूता नहीं बचा। दक्षिण भारत के तिरुवल्लुवर एवं आलवारों की महान परम्परा से लेकर उत्तर भारत की लल्लेश्वरी, कबीर, नानक, रैदास, तुलसी तक, महाराष्ट्र के नामदेव, ज्ञानदेव से लेकर असम के शंकरदेव, माधवदेव तक भक्ति की उत्ताल तरंगें उठने लगीं। आज्ञार्थ की बात यह है कि ये सन्त देश के सभी प्रान्त तथा सभी भाषाओं में अपनी-अपनी विशेषताओं को लेकर खड़े हो रहे थे किन्तु इनका तात्त्विक आधार और स्वर एक ही था- 'भगवद्भक्ति' तथा मानव प्रेम'। ईश्वरभक्ति के साथ-साथ ये सन्त सामाजिक कुरीतियों का तोड़कर नयी समाज व्यवस्था देने का संकल्प भी लेते हैं तथा मनुष्य-मनुष्य के अन्दर भेद निर्माण करने वाली प्रत्येक दीवार को वे ध्वस्त करने हैं।

**सरल-सुगम एवं सर्वस्पर्शी आन्दोलन** - सन्त जिन समाज में रहते हैं उसमें वे प्रभावित होते हैं तथा समाज को प्रभावित भी करते हैं। वे समाज की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हैं। सगुणमार्गी भक्त एवं निगुणमार्गी संतों ने भगवद्भक्ति में किसी प्रकार का भेदभाव स्वीकार नहीं किया। विगत हजारों वर्षों में चली आ रही भारतीय गण परम्परा मध्ययुग में एक ऐसा सुन्दर, समन्वित, स्वस्फूर्त आन्दोलन का स्वरूप ले लेती है, जिसने धर्म, अध्यात्म, साधना, उपामना, आचरण तथा व्यवहार आदि सभी क्षेत्रों में तत्कालीन भेदभाव, कृत्रिमता, जटिलता, अव्यवहारिकता तथा पापपूर्ण आदि के भयावह अन्धकार में सहजता प्रेम तथा भक्ति का दीपक जला कर सभी को शुद्ध और प्रकाशित करने का सफल प्रयास किया है। भक्ति के इस नवजागरण ने धार्मिक अनुष्ठानों की जटिलताओं के स्थान पर भक्तिभाव में नाम-स्मरण को ही ईश्वर प्राप्ति का साधन बनाकर धर्म साधना के मार्ग को शिक्षित-अशिक्षित, पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र आदि सभी के लिये अन्यन्त सुगम बना दिया।

**भक्ति में भेदभाव को कोई स्थान नहीं-** 'भक्ति' भेदभाव को नहीं मानती। यह तो भेद में अभेद की सृष्टि करती है। 'भक्ति' को रूप, कुल, गोत्र, धन, जाति, वर्ग आदि के सभी भेद अमान्य हैं। 'भक्ति' सभी प्रकार की हीनता तथा श्रेष्ठता के विरुद्ध है। 'भक्ति' जोड़ती है। जड़ और चेतन के मर्ममिलन आनन्दमय स्वरूप की ही तो 'सच्चिदानन्द' कहा गया है। यही ईश्वरानुभूति है।

इस भक्ति आन्दोलन की मूल प्रकृति विरोध की अपेक्षा एकता और सामञ्जस्य की है। इस सम्पूर्ण आन्दोलन का मूल प्रेरक भक्ति और प्रेम है, यह दो नहीं एक ही पद है। प्रभु की 'भक्ति' का अर्थ है मनुष्य में प्रेम करना। प्रेम का स्वभाव है सभी प्रकार के द्वेष को समाप्त कर समत्व का सृजन करना। प्रेम ही वह अद्वितीय तत्व है जो सभी भेदों को समाप्त कर शुद्ध मानव धर्म की सृष्टि करता है।

**भक्तिआन्दोलन लोकोन्मुखी हुआ-** तमिलनाडु के भक्त नम्मालवार के 'प्रबन्धम्' को तमिल वेद का स्थान प्राप्त हुआ तो संत तुकाराम की 'तुकागाथा' को मराठी वेद कहा जाने लगा। आनन्द की बात यह थी कि भक्त नम्मालवार तथा संत तुकाराम दोनों ही तथाकथित शूद्र थे किन्तु भारतीय जनमानस की व्यथा तथा अध्यात्म की गहराइयों तक वे चले गए। मन्दिरों में जहाँ वेदमन्त्र या संस्कृत श्लोक ही गूँजते थे वहाँ तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़, मराठी, गुजराती, पंजाबी, हिन्दी, बँगला, असमिया तथा ओड़िया आदि स्थानीय भाषाओं में भजन, भक्ति, अभंग, ओवी, पद, शवद, दोहे, चौपाई, घोषा, वचन आदि की गूँज होने लगी। जहाँ मन्दिरों में प्रवेश की कठिनाई थी वहाँ ये भक्त लोग निगुण ब्रह्म की प्राप्ति में लग गए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'भक्ति' का यह आन्दोलन एक साथ सम्पूर्ण देश में फैल हो गया। कोई भी प्रान्त, भाषा, जाति या वर्ग अब इससे अछूता नहीं था। समाज की सभी जानियों तथा महार, कुंभार, छीपी, माली, धुनियाँ, चर्मकार, कोरी, जुलाहा, मुनार, तेली, क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण आदि के सन्त भक्तिभाव का संगे आए और समाज में उन्हें व्यापक सम्मान भी प्राप्त हुआ।

भीरामानुजाचार्य ने स्वयं शूद्र गुरुओं का शिष्यत्व ग्रहण कर अपने आप को सामान्य अनुभव किया वहीं काशी के तपोनिष्ठ ब्राह्मण स्वामी रामानन्द के द्वारा संत कबीर (जुलाहा-कोरी) तथा भक्त-रैदास (चर्मकार) ने ही सर्वाधिक आर्जित की। संत ज्ञानेश्वर ब्राह्मण होते हुए भी शूद्रकुलोत्पन्न संत नामदेव का परिपूर्ण करने लगे तथा मेवाड़ की महारानी झाली रानी तथा मेड़ती मीराबाई

ने गुरु रैदाम के चरणों में सिर झुकाकर अपने आप को भाग्यवान ममझा। इस प्रकार जानिगत भेदभाव में ऊपर उठकर 'भक्ति' का यह आन्दोलन सम्पूर्ण देश में व्याप्त हो गया।

**महिलाओं को भी सम्मानजनक स्थान-** इस भक्ति-आन्दोलन ने स्त्री-पुरुष के भेद को अस्वीकार कर दिया। तभी तो वीवी नाचियार मुसलमान होने हुए भी मेल्बोर्न के मन्दिर में अपना स्थान बनाने में सफल रही। वैष्णव-भक्तों में प्रसिद्ध आण्डाल अकेली महिला थीं किन्तु उनकी जाति किमी को पता ही नहीं चली। आयु में बहुत छोटी मुक्ताबाई के आध्यात्मिक अभंगों ने ज्ञानेश्वर के दुःख और निराशा को दूर कर दिया। मीरा की निर्मल कृष्णभक्ति के पद लोककण्ठ में समा गए। मीरा ने इस भक्ति के लिए अनेक दुःख झोले किन्तु वह विप पीकर भी अमर हो गई। समर्थ गुरु रामदास की सैकड़ों महिला शिष्याएं विविध मठों की मठाधिपति बनीं। घर-घर वर्तन साफ करने वाली जनाबाई वारकरी सम्प्रदाय की श्रेष्ठ संत थीं तथा कर्नाटक की अक्कमहादेवी ने 'अनुभव मण्डप' में सभी को समान माना। काश्मीर की शैवसंत लल्लेश्वरी मेहतर जाति की थीं किन्तु शास्त्रार्थ में वे अपने गुरु से भी आगे निकल गईं। आन्ध्र प्रदेश में संत मोल्ला की रामायण ने रामभक्ति की धूम मचा दी। तमिलनाडु की ओवैय्यार; महाराष्ट्र की बहिणाबाई, जनाबाई, कान्होपात्रा; उ.प्र. में रामानन्द की शिष्याएं पद्मावती एवं सुरसगिबाई; बावरी पंथ की बावरी सहिबा; राजस्थान की सहजोबाई, दयाबाई; गुजरात की लीरलवाई आदि महिला संतों ने इस भक्ति-आन्दोलन में अनेक प्रकार के सामाजिक विरोधों के बावजूद भक्ति-जागरण एवं लोकसमन्वय का कार्य जारी रखा। सम्पूर्ण देश में उन कठिन परिस्थितियों में भी महिलाओं ने इस भक्ति-जागरण में न केवल हिम्मत के साथ भाग लिया बल्कि अनेक स्थान पर नेतृत्व भी संभाल लिया।

**मुस्लिम संतों का उदय-** संतों एवं भक्तों के पवित्र एवं त्यागपूर्ण जीवन से सभी प्रभावित हो रहे थे तो मुसलमान कैसे दूर रह जाते। हजारों मुसलमान इनके शिष्य बनकर हरिगुण गाने लगे। भक्त रसवान ने कृष्णभक्ति में मथुरा को ही अपना घर बनाया और औरंगजेब की भतीजी ताज वीवी गोवर्धन के मन्दिर में बैठकर पूजा अर्चना में लग गईं। विरक्त, ग्रीष्म ने चित्रकूट की शरण ली और राम-कृष्ण की भक्ति में रम गए। रज्जब, कारेबग, दीनदरवेश, रोहल, शाहजली कादर, कमाल साहब जैसे मुस्लिम संतों की एक लम्बी श्रृंखला है जो नजीर अकराबादी की तरह 'कृष्ण मुरारी की बोली जै' में मगन थे। सैकड़ों मुस्लिम

भगीनकार 'ध्रुपद' का अभ्यास करने हुए गा रहे थे- 'सखि श्याम नहीं आए।' उनको यहाँ एक अनिर्वचनीय सुख मिल रहा था। 'भक्ति' अपने सर्वममावेशी रूप के साथ सभी के अन्तर्भूत में अपनी पैठ बना रही थी।

**इस्लाम को भी आत्मसात करने के प्रयास-** ये संत और भक्त हिन्दू शास्त्रों की उन कालबाह्य परंपराओं में बंधे हुए नहीं थे जो कहते थे कि एक बार हिन्दू धर्म में गया तो फिर उसकी घर वापसी के सभी द्वार बन्द हो गए। जो भी मुसलमान अथवा आर्येतर जातियाँ इन संतों के निकट आईं उनको इन्होंने हिन्दू समाज में पुनः सम्मान का स्थान दिया और रामानुजाचार्य, स्वामी रामानन्द, संत कबीर, संत रैदास, गुरुनानक देव, श्रीचैतन्य महाप्रभु, श्रीशंकर देव, श्री माधवदेव, स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द आदि संत लोग लाखों मुसलमानों को पुनः हिन्दू धर्म में वापस ले आए। इसके लिए उन्होंने नये शुद्धिकरण मन्त्रों की रचना कर वैधानिक मान्यता भी दिला दी। इस दृष्टि से यह एक क्रान्तिकारी अध्याय था जिसके कारण रूढ़ियों में जकड़े हिन्दू समाज को वे परिष्कृत कर रहे थे।

भक्तों द्वारा चलाए जाने वाले इस व्यापक जागरण की दो प्रमुख धाराएं थीं। एक धारा सगुणमार्गी भक्तों की थी जिनको मूर्तिपूजा तथा शास्त्रों पर श्रद्धा थी। वहीं दूसरी ओर निर्गुणमार्गी संत थे जिन्होंने शास्त्रों के स्थान पर अनुभव और श्रद्धा के स्थान पर ज्ञान की बात कही। इन्होंने प्रभु को सर्वव्यापी माना। दोनों ही विचारधारा के भक्तों और संतों ने ईश्वर-भक्ति, प्रेम तथा मानवीय समानता को सर्वव्यवहार किया। हृदय का प्रेम तथा ईश्वर के प्रति समर्पण ही उनका मूलमन्त्र था। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सम्पूर्ण देश में हजारों संत, महात्मा, भक्त एवं आचार्य आदि भक्ति-जागरण के इस परिस्थितिजन्य-स्वस्फूर्त भक्ति-आन्दोलन में अपना सर्वस्वार्पण करके भी लगे हुए थे।

**भक्ति करना कायरों का काम नहीं-** ईश्वर की अखण्ड-भक्ति करना वीरता का ही दूसरा नाम है। इन संतों तथा भक्तों की ईश्वर-आराधना सरल नहीं थी। ये सन्त ईश्वर की 'भक्ति' में लीन वीर साधक थे तथा वीरता तो अखण्ड आत्मविश्वास का संवल पाकर ही विकसित होती है। इन संतों की साधना एक कठिन संग्राम-स्थली के रूप में थी वहाँ कायरों का कोई काम नहीं था। तभी तो कबीरदास कहते हैं- 'भगति देहुली राम की नहिं कायर का काम। मीस उतारै हाथि करि, सो लेसी हरिनाम।' अर्थात् यदि अपना सिर हाथ पर लेकर चलने का साहस है तभी 'भक्ति'

करने का विचार करें।

इन भक्तों को ईश्वर के प्रति विश्वास में संकोच और द्विधा नहीं थी। उनका विश्वास अग्रगण्य और अविचलित था। इसी कारण उनके वचनों और पदों में अनन्य शक्ति थी। वे निष्ठावान थे इस कारण विनत थे। वैराग्यमय जीवन, निर्मल चरित्र तथा निश्चल प्रेम ही उनकी पूँजी थी। इसी कारण लाखों लोग उनके अनुगामी बन जाते थे। इस 'भक्ति' ने इन मतों और भक्तों के अन्दर एक वियक्षण शक्ति का संचार कर दिया। उन्होंने ईश्वर के अनिर्गुण अन्त्य किमी के भी सम्मुख सिर नहीं झुकाया। इस्लाम की सत्ता के विरुद्ध ये मंत डटकर खड़े रहे। अपनी आध्यात्मिक शक्ति के बल पर ही गुरु अर्जुनदेव जी ने जहाँगीर के भीषण अत्याचार सहे और मृत्यु के पूर्व उनके मुख से यही निकला- 'तेरा कीया मीठा लागे'। श्रीगुरु तेगबहादुर जी भी जपुजी साहिब का पाठ करते हुए बलिदान को तैयार हो गए। गोस्वामी तुलसीदास को जब सम्राट अकबर ने मंसबदारी देने के लिए दरबार में बुलाया तो उन्होंने यह प्रस्ताव ठुकराते हुए कहा - 'हम चाकर रघुवीर के पदो लिखो दरबार, अब तुलसी का होहिं नर के मंसबदारी' अर्थात् इन संतों ने राजाओं की मंसबदारी ठुकराने में कोई संकोच नहीं किया। भक्त कुंभनदास ने तो एक कदम और आगे बढ़कर अकबर के दरबार में खड़े होकर कह दिया- 'जिनके मुख देखत अघ लागत तिनको करन पड़ी परनाम।' अर्थात् जिनका मुँह देखने से भी पाप लगता है उन्हें यहाँ आने पर प्रणाम करना पड़ता है। गजब की हिम्मत है? कुंभनदास चलते-चलते यह भी कह आए कि अब 'आज पाछे मोकों कबहू बुलाइयो मति।' यह आसान काम नहीं था जो ये संत लोग कर रहे थे। जब वेड़े-वेड़े प्रतापी राजाओं की हिम्मत टूट चुकी थी तब इन संतों और भक्तों ने परकीय राजाओं के विरुद्ध समाज जागरण जारी रखा। वे 'राजा राम' की ही जय बोलते रहे। उनके राम ही सदैव उनके राजा रहे। उन्होंने इस परकीय सत्ता को कभी अपनी स्वीकृति नहीं दी और संघर्ष की आग को जलाए रखा। स्मरण रखने की बात यह है कि उनको इस कठिन मार्ग पर चलने की प्रेरणा और शक्ति देने का कार्य 'ईश्वर-भक्ति' के द्वारा ही हो रहा था।

परकीय सत्ता के विरुद्ध संतों का संघर्ष- 'भक्ति' अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष का आह्वान करती है। यह 'भक्ति' अत्याचारियों से अपना राज्य छीनकर पुनः प्राप्त करने के लिए युद्ध को भी प्रेरित करती है। तभी तो गुरु गोविन्दसिंह कहते हैं 'अगम सूर वीरा उठहिं सिंह योद्धा, पकड़ तुरकगण कऊँ करै वै निरोधा।' समर्थ

गुरु रामदास ने भी यही आह्वान किया- 'मारिता मारिता घावें राज्य आपुलें।'

दक्षिण भारत के स्वामी विद्यागण्य ने हरिहर और वृष्ण को लेकर मुसलमानों को पराजित कर विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की। गुरु नानक ने वावर के अत्याचारों का वर्णन अपनी वावरवाणी में किया और दशम गुरु गोविन्दसिंह ने मेना मजाकर मुगल मेना के विरुद्ध जमकर संघर्ष किया। महाराष्ट्र की संत परंपरा के सैकड़ों संतों ने गाँव-गाँव में भक्ति-जागरण की अलख जगाई और फिर शिवाजी के नेतृत्व में हिन्दू साम्राज्य की स्थापना करवा दी। स्वामी प्रणानाथ ने छत्रमाल को संघर्ष के लिए तैयार किया। दशनामी साधुओं ने देशभर में सैकड़ों अखाड़ों की स्थापना कर सशस्त्र संन्यासियों की सैन्य टुकड़ियाँ खड़ी कर दीं। इन आखाड़ों में हजारों संन्यासी शस्त्रों का कठोर प्रशिक्षण प्राप्त करके मौका पाते ही मुसलमानों पर टूट पड़ते थे। वाराणसी के मधुसूदन सरस्वती ने सशस्त्र संन्यासियों के सैकड़ों दल गठित किये जिन्होंने इस्लाम के अत्याचारों के विरुद्ध स्थान-स्थान पर संघर्ष किया। जब सभी राजा-महाराजा हार मान बैठे थे तब इन साधु संतों ने संघर्ष की ध्वजा अपने हाथ में ले ली और सत्रहवीं शताब्दी आते-आते मुस्लिम शक्तियाँ सभी मोर्चों पर पराजित होने लगीं।

भक्ति सद्गुणों की दाता है- भारतीय आध्यात्मिक प्रज्ञा की विलक्षण देन 'भक्ति' है। 'भक्ति' सम्पूर्ण संसार को ईश्वरमय मानती है। अतः सभी के अन्दर परमेश्वर के अंश की अनुभूति इसका मूलमंत्र है। यह सभी का हित चाहती है। इसका लक्ष्य 'सर्वजन हिताय-सर्वजन सुखाय' है। इसी कारण भगवद्भक्त सभी के प्रति विनम्र हैं। भक्त अपने आप को ईश्वर का दास या दासानुदास बनने में ही अपने जीवन का साफल्य मानता है। उदारता तथा विनम्रता का यह भाव उसके हृदय में मेवा की प्रेरणा जगा देता है। प्राणीमात्र के दुःख से वह व्याकुल हो उठता है। ईश्वर पुत्रों को कष्ट देना या उन्हें अपमानित करने का विचार भक्त के मन में आने का प्रश्न ही नहीं उठता। ईश्वरभक्ति से शून्य लोगों ने ही इस पृथ्वी पर मानवता को असहनीय कष्टों में वार-वार धकेला है।

ईश्वरभक्त का मन, धन-ऐश्वर्य की चकाचौंध में अपने आप को उगा सा अनुभव करता है। भक्त कुंभनदास को अकबर द्वारा प्रदत्त वैभव वृथा लगता है और तुलसीदास अकबर की मंसबदारी से दूर ही रहते हैं। इन भक्तों ने राजमहलों की शोभा बढ़ाने के बजाय अपने झोंपड़े को अधिक पवित्र माना। इस प्रकार भक्तिभाव समाज के जीवनोद्देश्य तथा जीवनमूल्यों को निर्धारित करता है साथ

ही मानव जीवन के अन्दर अनेक मद्बुतियों तथा मद्गुणों को जन्म भी देना चलता है।

**राष्ट्रीय एकता का सृजन-** हिन्दू समाज भक्तिभाव से परिपूर्ण है। ईश्वर में आस्था रखने वाला समाज पौराणिक कथाओं को श्रद्धापूर्वक स्मरण करता है? ईश्वरवातारों एवं आध्यात्मिक विभूतियों के प्रति उसकी अगाध निष्ठा है और वह सम्बन्धित सभी स्थलों को तीर्थ स्वरूप मानता है। उन स्थानों के दर्शन करने में धन्यता का अनुभव करता है और इसे जीवन का महत्वपूर्ण दायित्व समझता है। इन्हीं मान्यताओं के कारण सम्पूर्ण देश में तीर्थयात्राओं के साथ ही अतौबी सामाजिक एकता का विकास हुआ। विगत आठ सौ वर्ष के कठिन कालखण्ड में जब शासन सत्ता परकीयों के हाथ में थी तब भी ये तीर्थयात्राएं अनवरत चलती रहीं। इन तीर्थयात्राओं में समाज सहभागी था। यहाँ जाति-वर्ण, अमीर-गरीब तथा क्षेत्रादि के भेद अर्थहीन थे। सामाजिक धाराओं ने इस राष्ट्र को एक बनाकर रखा है। उसके मूल में 'भक्ति' की प्रबल भावना ही प्रमुख है।

भारतीय समाज हजारों वर्ष से बाह्य आक्रमणकारियों के विरुद्ध अपने अस्तित्व की रक्षा हेतु संघर्ष कर रहा था। संघर्षकाल में सामाजिक व्यवस्थाएं, छिन्न-भिन्न हो गईं। उन कठिन परिस्थितियों में समाज में अनेक प्रकार की बुराइयों तथा कुर्गियों का प्रवेश हो गया किन्तु समाज ने अपने मूलभूत सिद्धान्तों के प्रकाश में उन कुर्गियों को कभी भी स्वीकार नहीं किया। इन कुर्गियों तथा बुराइयों से संघर्ष करने का कार्य भारत की इस धर्मशक्ति ने ही किया है।

अंग्रेजों को यह बात भली प्रकार ध्यान में आ गई थी कि इस भक्ति-जागरण ने हिन्दू समाज के अन्दर एक विलक्षण ऊर्जा का संचार किया है। यह दुःख का विषय है कि विगत एक हजार वर्ष के इस भक्ति-आन्दोलन के विविध आयामों का व्यापक अध्ययन जो होना चाहिए था वह हुआ नहीं। अंग्रेज इतिहासकारों ने जानबूझ कर इस बात की उपेक्षा की, क्योंकि इस भक्ति-जागरण के ऐतिहासिक-निर्णायक-निहितार्थ थे। उन्होंने इस बात पर मौन साध लिया कि इस भक्ति-जागरण ने मुसलमानों की सभी प्रकार की शक्तियों को अर्थपूर्ण चुनौती देकर एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया था। उन्हें डर था कि यह भक्ति-आन्दोलन देश-सेबर उन्हें भी देश के बाहर निकाल फेंकेगा।

कोई भी व्यवस्था अपने उदगम स्थल पर कितनी ही अच्छी क्यों न हो, आगे चलकर विकृत होती है, टूटती है और बिखरती है। तब समाज का विचारवन्त

वर्ग खड़ा होता है और उसके विरुद्ध संघर्ष करता है। समाज की प्रकृति स्वभावतः परम्परा और जड़ता-प्रिय होती है। यही जड़त्व समाज को बदलने में रोकता है तथा मद्बिचार और कुर्गिति का आपस में संघर्ष होता है। अच्छी बात यह है कि हिन्दू समाज ने स्वस्थ विचार की अनुमति सभी को दी है। इस कारण मद्बिचार में से मद्परम्पराएं निर्माण होती रहती हैं। वे पुरानी परम्पराओं का स्थान ग्रहण करती हैं और समाज के अन्दर एक नवजागरण का सृजन होता है। हिन्दू समाज मानव मत्त को लेकर पुनः नये रूप में खड़ा हो जाता है। यही इस संस्कृति का पीयूष घट है।

भारतीय जनमानस को ईश्वरप्रदत्त परमाद्भुत रत्न का नाम है 'भक्ति'। भारतीय धर्मसत्ता के बाहक ये संत, भक्त तथा धार्मिक महापुरुष भगवद्भक्ति का महारा लेकर समाज जीवन की सभी प्रकार की बुराई, विषमता तथा कुर्गितियों के विरुद्ध धावा बोल देते हैं। भक्तिभाव जगाते हुए हिन्दू समाज को इस्लाम के आक्रमण के विरुद्ध शारीरिक तथा मानसिक रूप से सन्नद्ध करते हैं तथा मानवीय जीवन के श्रेष्ठतम पहलुओं को समाज के सम्मुख रखकर जीवन की शुचिता-पवित्रता तथा त्यागमयी सद्बुतियों को प्रोत्साहित करने हैं। आवश्यकता पड़ने पर समाज का पुरुषार्थ जगाकर सेना भी सजाते हैं। सम्पूर्ण देश में तीर्थयात्राएं करते हुए ये संत और भक्तगण देश की सांस्कृतिक-वैचारिक एकता और अखण्डता को हजारों वर्ष से अधुणा रखे हुए हैं। यह परम्परा अखण्ड है, निरन्तर है तथा शाश्वत है। अध्यात्म प्रेरित महान विभूतियों की यह 'अनन्य-साधारण-परम्परा' हिन्दू समाज के चिरजीवी होने का आधार है।

॥ ॐ ॥

## सहायक ग्रंथ सूची

1. अनुचिन्तन एवं अनुसंधान, डॉ. उदय प्रताप सिंह, तथागत प्रकाशन-मार्गनाथ वाराणसी-2004
2. अछूती मीताराम गजू, ब्राह्म कृष्ण मूर्ति, भारत भारती, महाल-नागपुर-400012, 2003
3. अशोक के फूल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, 2002
4. कवीर, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली-110032; 2003
5. कवीर और भारतीय संत साहित्य, डॉ. रामचंद्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी (उ.प्र.) 221001, 2001
6. कवीर ग्रंथावली, श्याम सुन्दर दास, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी - 221001
7. कवीर संग्रह, प्रो. युगेश्वर, प्रचारक ग्रंथावली परियोजना पिशाच मोचन, वाराणसी-221010, 1996
8. कल्याण संत अङ्क-वर्ष-12, कल्याण कार्यालय, गोरखपुर, मंवेत्-2056
9. कनकदास, अनन्त कल्लोल, भारत-भारती- नागपुर 440002, 1998
10. गहिरा गुरुजी, मुनील किरदवई, शिशुमन्दिर प्रकाशन-रायपुर
11. गुरु नानकदेव - जीवन और दर्शन, डा. जयराम मिश्र, लोकभारती प्रकाशन-इलाहाबाद
12. गुरु नानक मे गुरु गोविन्दसिंह, डा. अरविन्द गोडवोले, अर्चना प्रकाशन, भोपाल - 462 016, 1995
13. गुरुग्रन्थ का वैदिक पन्थ अर्थात् खालसा ज्ञान प्रकाश, स्वामी अमृतानन्द जी सरस्वती, स्वामी आत्मानन्द प्रकाशन मन्दिर, अम्बाला, 1965
14. गुरु नानक और उनका काव्य डा. महीप सिंह एवं डा. नरेन्द्र मोहन, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली - 110006, 1969
15. गुरु गोविन्दसिंह और उनकी हिन्दी कविता, डा. महीप सिंह, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली - 110006, 1969
16. गुरु ग्रामीदास, डा. श्याम सुन्दर त्रिपाठी, अर्चना प्रकाशन, भोपाल - 462 016
17. श्री गुरु प्रताप सूरज, कवि मनोभव सिंह, भाषा विभाग पंजाब, पटियाला, 1978,
18. जगद्गुरु श्री शंकराचार्य, दीनदयाल उपाध्याय, लोकहित प्रकाशन, राजेन्द्र नगर, लखनऊ - 226 004, 2000
19. ताटी उग्रडा ज्ञानेश्वर, (Open the door Jnaneshwara). Dr. (Mrs) Vanmala Partha Sarathy, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay-400 007, 1995
20. तिरुवन्युवर, आर. सुब्रह्मण्यन, हरि कुमार आर्ट्स, कन्याकुमारी, तमिलनाडु।
21. दगिया योग दर्शन, वेलेवेडियर प्रेम, प्रयाग।
22. नर रत्न नारायण गुरु, वीरेश्वर द्विवेदी, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ - 226 004
23. पंजाब-समस्या ० नथ्य० उपाय, नरेन्द्र सिंहगल, पंजाब साहित्य प्रकाशन केन्द्र, चण्डीगढ़-16००31, 1982
24. बाबामाहव व्यक्ति और विचार, डा. कृष्णगोपाल, सुमित्र प्रकाशन, नयी दिल्ली, 110055, 1994
25. बंगाल के बाऊल और उनका काव्य, भाग - 1. हरिश्चंद्र मिश्र, प्रथम संस्करण, 1991
26. बृंद मिले सागर में, डा. विद्या निवाम मिश्र, किताब घर, अमारी रोड, नई दिल्ली - 110 002
27. भक्ति-काव्य में रहस्यवाद, डा. रामनारायण पाण्डेय, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली - 110 006, 1996
28. भारत की संस्कृति और कला, राधाकमल मुकर्जी, राजपाल एंड सन्स,

कश्मीरी गेट, दिल्ली, 1959

29. भजन संग्रह, गीताप्रेस, गोरखपुर - 273 005, वि० सं० 2059
30. मध्ययुगीन काव्य साधना, रामचंद्र निवारी, भवदीय प्रकाशन - अयोध्या, फैजाबाद - (30 प्र०), 1997
31. महाभारत की संत परंपरा, डा. देवराज चावड़ा, प्रेरणा प्रकाशन-नागपुर-9; 2003
32. मध्यकालीन प्रेम साधना, परशुराम चतुर्वेदी, प्रथम संस्करण, 1952
33. महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव, नवरत्न वर्मा, वृहत्तर कैमी बजार साहित्य सभा, गुवाहाटी - 781 001
34. साधवदेव : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डा. कृष्णनागयण प्रसाद, पूर्वोत्तर प्रदेशीय सारवाही सम्मेलन, गुवाहाटी - 781 001
35. मुस्लिम भक्त कवियों का सांस्कृतिक समन्वय, डा. सुरेश आचार्य, मल्लेन्द्र प्रकाशन, इलाहाबाद - 211 006
36. रहीम दोहावली, डॉ. महेन्द्र मिश्र, राजा पब्लिशिंग्स, दिल्ली-84, 2002
37. रामानंद सम्प्रदाय और साहित्य, डा. आर.एस. प्रजापति, प्रगति प्रकाशन-आगरा- 3; 1984
38. रामानुज चरित, श्री रामकृष्णानन्द, अद्वैत आश्रम, कोलकाता - 700 014, 2001
39. राम सनेही संप्रदाय, डा. राधिका प्रसाद त्रिपाठी, आनन्द प्रकाशन, दीवानी मिसिल, फैजाबाद, (30 प्र०)
40. विद्यारण्य, कोरटी श्रीनिवास गव, भारत भारती-महल, नागपुर-440002, 1999
41. वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन, डॉ. मलिक मोहम्मद, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-1971
42. चैतन्य महाप्रभु, अमृतनाल नागर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 211001,

1995

43. श्री चैतन्य महाप्रभु, स्वामी मारदेशानन्द, अद्वैत आश्रम, कोलकाता - 700 011, 2001
44. श्री रामकृष्ण, स्वामी तेजसानन्द, अद्वैत आश्रम, कोलकाता - 700 011, 2003
45. श्री विचित्र नाटक, गुरु गोविन्द सिंह, अनुवादक मरदार जमशेर सिंह, गुरु गोविन्द सिंह साहित्य प्रकाशन, प्रमरण समिति, लखनऊ-226005, 1991
46. संत कबीर और उनका दर्शन, डा. रामाश्रय दाम ब्रह्मचारी, प्रकाशन संग्रह - दर्शनांग, नई दिल्ली - 110 002, 2003
47. सन्त और सूफी साहित्य-सम्पादक-पं. परशुराम चतुर्वेदी, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, वि.सं. 2025
48. स्वामी श्रद्धानन्द, परशुराम गोस्वामी, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ - 226 004, 1992
49. सन्त रविदाम, इन्द्रराज सिंह, प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, पटियाला हाऊस, नई दिल्ली-110001, 1999
50. सन्त रैदाम, श्रीमती पद्मावती झुनझुनवाला, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी - 221 001, 1997
51. सन्त साहित्य की समझ, डा. नन्दकिशोर पाण्डेय, रचना प्रकाशन, जयपुर - 302 005, 2001
52. सिक्ख इतिहास में श्री रामजन्मभूमि, गजेन्द्र सिंह, भारत भारती, अन्सारी रोड, नई दिल्ली-110002, 1991
53. हमारी सांस्कृतिक विचारधारा के मूल स्रोत, सुरेश मोनी, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ-226004, 2003
54. हमारे मुस्लिम सन्त कवि, कृ. गो. वानखेड़े गुरुजी, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, पटियाला हाऊस, नई दिल्ली - 110 001, 2002

55. हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, भाग पाँच, तार्किक प्रचारणी मभा, काशी, विम्वन्-2031

56. हिन्दी मन्त्र काव्य : गमाज जात्रीय अध्ययन, प्रो वासुदेव सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी - 221 001, 2001

57. हमारे माधु सन्त भाग - 1, परशुराम गोस्वामी, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ - 226 004, 2002

58. हमारे माधु संत भाग - 2, परशुराम गोस्वामी, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ - 226 004, 1997

59. हमारे माधु संत भाग - 3, परशुराम गोस्वामी, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ - 226 004, 1998

60. हमारे भक्ति मार्ग साधक- भाग 2, परशुराम गोस्वामी, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ-226004, 1999

61. हिन्दी और मलयालम में कृष्णभक्ति-काव्य, के० भास्करन नायर, राजपाल ग्रन्थ मन्स, दिल्ली-6, 1967

62. Bhavan's Journal, vol.50 No.14- Bhartiya Vidya Bhawan Choupatty, Mumbai-400-007; 2004

63. Basaveshwara, S. S. Malwad, Rashtrotthan Sahitya Trust, Bangalore - 560 019, 1996

64. Cultural Leaders of India, Composers, Publication Division, Govt. of India, Patiala House, New Delhi- 110 011, 1991.

65. Lives of Saints, Swami Sivanand, Divine life Society, Shivanand Nagar, Tehari - 249 192, 2002

66. Lectures From Colombo to Almora, Swami Vivekanand, Advaita Ashram, Kolkata - 700 014, 2003

67. Orissa Review, April-2002, Govt. of Orissa, Bhubaneshwar Culttack, 753010

68. Sri Narayan Guru, Murkot Kunhappa, National Book Trust India, New Delhi - 110 016, 1999

69. Saint of Maharashtra, Savitribai Khanolkar, Bhartiya Vidya Bhawan, Mumbai - 400 007, 2000

70. Story of Eight Saint Reformers, A. Padmanabhan, Publication division, Govt. of India, Patila House, New Delhi 110001, 1998

71. Swami Pranavananda, Br. Shukla Devi, Pranab Kanya Sangh, Port Blair, Andaman.

72. Writings & Speeches, Dr. B. R. Ambedkar, vol. 7, Govt. of Maharashtra, Mumbai-400 090